अद्वैत-वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में साक्षी का स्वरूप और कार्य

(THE NATURE AND FUNCTION OF SAKSHI IN THE DIFFERENT SCHOOLS OF ADVAITA VEDANTA)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
को
डी० फिल्० उपाधि हेतु
प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

शोध निर्देशक :
डॉ० जे० एस० श्रीवास्तव
भूतपूर्व प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष :
दर्शन-शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्ता :
रंजय प्रताप सिंह

दर्शन-शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

2002

डॉ0 जे0एस0 श्रीवास्तव
भूतपूर्व प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष
दर्शन-शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

निवास –
686 बाघम्बरी गद्दी
इलाहाबाद-211006
☎ 0532-504620

दिनांक –

प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि **श्री रंजय प्रताप सिंह** इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के पंजीकृत शोध-छात्र हैं। इन्होंने मेरे निर्देशन में "अद्वैत-वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में साक्षी का स्वरूप और कार्य" विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। यह शोध-कर्ता की नयी मौलिक कृति है। विषय का प्रतिपादन और उसकी अभिव्यक्ति दोनों दृष्टियों से शोध-प्रबन्ध नवीन दृष्टि प्रदान करता है। मैं इस शोध-प्रबन्ध को इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0फिल0 उपाधि के लिए संस्तुति प्रदान करता हूँ।

जे. एस. श्रीवास्तव
(डॉ0 जे0एस0 श्रीवास्तव)
भूतपूर्व प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष
5-1-2002

प्राक्कथन

इस विशाल सृष्टि में हमें जो कुछ दिखायी पड़ता है, उसमें निरन्तर गति है। इस सृष्टि में उद्‌भव, विकास एवं विनाश का एक क्रम है, जिसके द्वारा निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि प्रकृति के अपने सुनिश्चित नियम है, जिनके द्वारा सृष्टि में यह गतिशीलता संभव होती है। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रकृति में गति और इसके नियम कहाँ से आये? स्पष्ट है कि इसके पीछे एक अलौकिक शक्ति है, जो गति को जन्म देती है, उसे दिशा देती है, उस पर नियंत्रण रखती है। वही शक्ति उन नियमों का नियामक है, जो प्रकृति को एक विशेष प्रकार से गति देती है। मानव बुद्धि की एक सीमा है, अतएव विज्ञान की भी एक सीमा है, जिससे परे वह नहीं जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने बुद्धि से परे जाकर परमशक्ति अथवा परम्‌सत्ता का अपने भीतर ही दर्शन किया और *'एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'* की अपरोक्षानुभूति के द्वारा एकत्व में नानात्व की प्रतीति को ब्रह्म–आत्मा–ईश्वर–जीव और साक्षी के रूप में परिभाषित किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "अद्वैत–वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में साक्षी का स्वरूप और कार्य" में साक्षी की तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय विवेचना में विविधता से सम्बन्धित समस्त प्रश्नों जैसे विशुद्ध चैतन्य की विविधता के रूप में आत्मा, ईश्वर, जीव तथा अनुभव की विविधता के रूप में ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान की विभिन्न समस्याओं का उत्तर ढूँढने का प्रयास किया गया है। प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता के अनुकूल शांकर पूर्व अद्वैतवादी विचारधारा का उत्स वैदिक संहिताओं से लेकर शंकराचार्योत्तर प्रस्थानों तक ऐतिहासिक, विश्लेषणात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति से परमसत्

का स्वरूप और ज्ञाता के ज्ञान प्रकाशन में साक्षी की अनिवार्यता का सूक्ष्मतम स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया गया है।

इस शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य अद्वैत-वेदान्त के सभी सम्प्रदायों का अध्ययन करके साक्षी की अवधारणा का परिस्कृत दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना है। यह मुद्रित, अमुद्रित एवं उपलब्ध साहित्य के आधार पर करने का प्रयास किया गया है। इसमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है यह सुधी विचारकों का अनुभवी मष्तिष्क ही बता सकता है। *भामती* एवं *विवरण प्रस्थान* में साक्षी का स्वरूप और कार्य जैसे गूढ़ विषय हेतु कई जटिलतम ग्रन्थों को पढ़ना पड़ा है, जिसके लिए गुरुदेव प्रो0 जे0एस0 श्रीवास्तव ने ग्रन्थों का गूढ़ार्थ ही नहीं बताया, बल्कि उक्त रहस्य को लेखनी के माध्यम से लिपिबद्ध करने की भी शिक्षा दी। यद्यपि मैं उनकी अपेक्षाओं के अनुकूल इस विषय में पूर्ण निष्णात् नहीं हो सका हूँ फिर भी उस दिशा में चलने का प्रयास किया है। मेरे इस प्रयास में जो भी दोष रह गया है, वह मेरी अल्पज्ञता के कारण है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में जिन लोगों की सद्भावना व प्रेरणा मेरे साथ निरन्तर रही है, उनके प्रति आभार प्रदर्शन करके अपने कर्तव्य के अनुरूप कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ। सर्वप्रथम मैं अपने शोध प्रबन्ध के निर्देशक गुरुदेव प्रो0 जे0एस0 श्रीवास्तव (भू0पू0 प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के प्रति हृदय से कृतज्ञ एवं श्रद्धावनत हूँ, जिनकी असीम ज्ञान दृष्टि से युक्त विद्वतापूर्ण निर्देशन, तन्मयता एवं सहृदयता के कारण मेरा यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हो सका है। पुनश्च प्रो0 डी0एन0 द्विवेदी, प्रो0 रामलाल सिंह, डा0 मृदुला रवि प्रकाश, डा0 नरेन्द्र सिंह, डा0 जटाशंकर तिवारी, डा0 हरिशंकर उपाध्याय, डा0 मानेन्द्र प्रताप सिंह प्रभृति गुरुजनों के प्रति सादर श्रद्धावनत् हूँ जिनका समय-समय पर विशेष सहयोग एवं परामर्श मिलता रहा है। डी0ए0वी0 कालेज कानपुर के अन्य सहयोगियों के अतिरिक्त

प्रो0 के0एम0 वसीम, डा0 अरुण कुमार सिंह, डा0 विजय लक्ष्मी यादव, डा0 नितीश दुबे, डा0 शिवभानु सिंह (इविंग क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद), डा0 अर्चना श्रीवास्तव (ज्वाला देवी महाविद्यालय, कानपुर) के प्रति आभार व्यक्त करना नहीं भूल सकता क्योंकि उनके उचित सुझाव से लाभान्वित होता रहा हूँ।

मानवीय मूल्यों के प्रति संवेदनशील, श्रेष्ठ भ्राता एवं अभिभावक के रूप में श्री अवधेन्द्र प्रताप सिंह (H.J.S.), श्री शिवशंकर सिंह (I.A.S.), श्री वृहस्पति मणि त्रिपाठी (I.P.S.), श्री सियाराम यादव (आडीटर) एवं डॉ0 डी0सी0 श्रीवास्तव, (रीडर, क्राइस्टचर्च कालेज, कानपुर) के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ क्योंकि जिनके अमूल्य आर्शीवाद स्नेह, प्रोत्साहन एवं सत्परामर्श के कारण ही मैं यह शोध प्रबन्ध पूर्ण करने में समर्थ हो सका हूँ।

पारिवारिक स्तर पर पिता डा0 वीरेन्द्र सिंह, माता श्रीमती जड़ावती सिंह, पितातुल्य श्री उदय शंकर सिंह एवं माता तुल्य श्रीमती प्रभा सिंह, अग्रज संजय प्रताप सिंह, भाभी कुमुदलता सिंह, मामा फेकू सिंह एवं अम्बिका प्रसाद सिंह, अनुज तुल्य चन्द्र प्रताप सिंह के प्रति हृदय से कृतज्ञ एवं श्रद्धावनत हूँ। अन्ततः इस अवसर पर सहधार्मिणी जया को मैं कैसे विस्मृत कर सकता हूँ, जिन्होंने पारिवारिक दायित्यों से मुझको मुक्त करके शोध कार्य पूर्ण करने का पूरा अवसर दिया।

अन्त में, मै अपने टंकक, श्री सुनील कुशवाहा एवम् सुषमा प्रजापति को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने कष्ट साध्य परिश्रम एवम् मनोयोग से पांडुलिपि को टंकित किया।

दिनॉक - 3/01/02

(रंजय प्रताप सिंह)

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठम अध्याय

सप्तम अध्याय

प्रथम–अध्याय

भारतीय चिन्तन का चरमोत्कर्ष वेदान्त दर्शन में ही प्राप्त होता है। वेदान्त दर्शन में अद्वैतवाद का सिद्धान्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त का महत्व इसी से स्पष्ट है कि जब वेदान्त दर्शन की चर्चा होती है, तो उससे प्रायः आचार्य शंकर के अद्वैतवाद का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद की कई विचारधारायें मिलती हैं – जिनमें औपनिषदिक अद्वैतवाद, शैवागम–अद्वैतवाद, बौद्ध अद्वैतवाद, योग वासिष्ठ सम्मत कल्पनात्मक अद्वैतवाद, शब्दाद्वैतवाद (भर्तृहरि), गौड़पादीय अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद प्रमुख है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने पर इन सबमें शांकर अद्वैतवाद ही पूर्णतया व्यवस्थित एवं युक्तिसंगत हैं। विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों में अद्वैत का तात्पर्य इस प्रकार .बताया गया है–

'इनसायक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स' में अद्वैत शब्द का तात्पर्य द्वैत विरोधी माना गया है। इसमें इसे ब्रह्म के सत्यत्व सम्बन्धी सिद्धान्त का द्योतक माना गया है।[1] आचार्य शंकर ने अद्वैत शब्द का प्रयोग भेद रहित, परमार्थ स्वरूप, सत्य स्वरूप, आत्मा व ब्रह्म के लिए किया है।[2] उन्होने अद्वैतवाद के द्वारा केवल आत्मा एवं ब्रह्म की सत्यता तथा जगत के मिथ्यात्व का समर्थन किया है।[3] *'वाचस्पत्यम्'* के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ है– 'द्विधा इतम'– द्वीतम्, तस्य भाव; द्वैतम् = भेदः

---

1 *Vol 1 Page 137*

2 *आत्मैवकेवलो शिवोऽद्वैतः। माण्डूक्योपनिषद शा0भा0 पृ0 12*

3 *ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्योत्वेवरूपो विनिश्चयः। विवेकचूड़ामणि पृ 20*

भेदो नास्ति यत्र तदद्वैतम्।[1] यहां पर अद्वैत का तात्पर्य उस तत्व से है जो द्वैत का विरोधी हो, अर्थात जो तत्व भेद रहित है, वह अद्वैत है। यह द्वैत के निषेध का सिद्धान्त है।

साधारणतया वेदान्त शब्द की व्याख्या *'वेदानाम् अन्तः इति वेदान्तः'* के रूप में की जाती है, जिसका तात्पर्य है वेदान्त वेद के अन्तिम ध्येय और कार्यक्षेत्र की शिक्षा देता है। यह उपनिषदों पर आधारित है, जो वेद के अन्तिम भाग है।[2] इस प्रकार वेदान्त वह विद्या है जिससे वेद के अन्तिम ध्येय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म का प्रतिपादन करना है,[3] तथा जीवों को उस तक पहुंचने का मार्ग बताना है। वेद की परिभाषा *'मंत्र ब्राह्मण वेद नाम ध्येयम्'* के रूप में की जाती है। अतः मंत्र भाग और ब्राह्मण भाग को वेद कहा जाता है। मंत्र भाग के अन्तर्गत ऋक, यजु, साम, एवं अथर्व संहितायें हैं। ये सहितायें पद्य में है। ब्राह्मण भाग गद्य में है। इसमें यज्ञ–होम आदि अनुष्ठान करने तथा कराने की विधियों का वर्णन है। मंत्र संक्षिप्त है, ब्राह्मण उनके भाष्य है। ब्राह्मण की सहायता के बिना मंत्र का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। ब्राह्मण भाग का अन्तिम भाग आरण्यक कहलाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञानुष्ठान और कर्मकाण्ड को महत्व दिया गया है, जबकि आरण्यक ग्रंथों में दार्शनिक विचार एवं ज्ञानकाण्ड को महत्वपूर्ण माना गया है। आरण्यक का मुख्य विषय आध्यात्मिक तत्व है। आरण्यक मुख्यतः वानप्रस्थों के लिए है, जो ब्रह्मचर्य और ग्रहस्थ आश्रम के कर्तव्यों को पूरा कर अध्ययन करने के लिए वनों में चले जाते थे। इससे स्पष्ट है कि आरण्यक का सम्बन्ध वानप्रस्थ अवस्था से था। आरण्यकों का अन्तिम भाग उपनिषद है, जो

---

[1] *वाचस्पत्यम् – तारानाथ भट्टाचार्य*

[2] *बामन शिवराम आप्टे – संस्कृत हिन्दी कोश पृ0 976*

[3] *वेदाः ब्रह्मात्म विषयाः। – श्रीमद्भागवत् 11/21/35*

वैदिक दर्शन का सार है। मंत्र एवं ब्राह्मण वेद का पूर्व भाग है और कर्मकाण्ड कहलाता है, जबकि उपनिषद की संज्ञा ज्ञानकाण्ड से है।

'वेदान्तों नामोपनिषद प्रमाणम्'[1] से स्पष्ट है कि प्रमाणभूत उपनिषद ही वेदान्त है। *मुण्डकोपनिषद* में कहा गया है कि जिस प्रकार कि तिलों में तेल विद्यमान होता है उसी प्रकार वेदों में वेदान्त की प्रतिष्ठा है।[2] अर्थात वेद के अन्तिम लक्ष्य एवं कार्यक्षेत्र की शिक्षा वेदान्त में ही प्राप्त होती है। वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म का निरूपण करना है और वेदान्त के द्वारा ही ब्रह्म को अन्तिम सत्य के रूप में निरूपित किया गया है। *श्वेताश्वर उपनिषद* से स्पष्ट है कि परम ब्रह्म को जान लेने के बाद साधक मृत्यु का भी अतिक्रमण कर जाता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।[3] उपनिषद और वेदान्त इन दोनों शब्दों में समन्वय स्थापित करते हुए स्वामी *रामतीर्थ यति* ने *'विद्वन्मनोरंजनी'* टीका में लिखा है, उपनिषद शब्द ब्रह्म विद्या का वाचक है, क्योंकि जब कोई इसका अनुशीलन करता है तो यह ब्रह्मविद्या– (1) संसार ही सार वस्तु है' इस प्रकार की बुद्धि को नष्ट कर देती है।[4] अथवा (2) प्रत्यगात्मा को ब्रह्म के समीप पहुँचा देती है।[5] अथवा (3) अज्ञान का विनाश कर देती है, जिसके कारण जीव दुःख, जन्म आदि प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है।[6]

इस प्रकार उपनिषद वह विद्या है जिसका अनुशीलन करने के पश्चात मनुष्य को इस संसार की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।

---

[1] *वेदान्तसार – खण्ड 3*
[2] *तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः। मुण्डकोपनिषद 1/9*
[3] *तमेव विदित्वा मृत्युमत्येति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। श्वेताश्वरोपनिषद 6/15*
[4] *संसारसारतामतिं सादयति। वेदान्तरसार (विद्वन्मनोरन्जनी) पृ0 67*
[5] *प्रत्यगात्मानं सादयति गमयतीति वा। वेदान्तसार 67*
[6] *अज्ञानं सादयति उन्मूलयतीति वा। वेदान्तसार 67*

वास्तविकता निःसारता ही है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः वेदान्त वह शास्त्र है जिसमें वेदो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अर्थात ब्रह्म का निरूपण किया जाता है तथा जिसकी व्याख्या उपनिषदों एवं अनुगामी ग्रंथों में हुयी है। वेदान्त के तीन प्रस्थान स्वीकार किये गये हैः- वेद और उपनिषद को श्रुति कहते हैं। श्रुति प्रतिपादित वेदान्त को *'श्रुति प्रस्थान'* कहा जाता है। महाकाव्य काल में द्वितीय प्रस्थान *'"भवगद्गीता '* का है, जिसे *'स्मृति प्रस्थान'* कहते है। सूत्र साहित्य में *'ब्रह्मसूत्र'* का प्रमुख स्थान है, जो *'न्याय प्रस्थान'* या *'तर्क प्रस्थान'* कहलाता है। शंकराचार्य ने इन तीनों पर भाष्य लिखा। गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद पर *'माण्डूक्य कारिका'* लिखकर अपने मत को स्पष्ट किया है। शंकराचार्य ने उस पर भी भाष्य लिखा। *ब्रह्मसूत्र* और *भगवद्गीता* में भी श्रुतियों को ही प्रमाण माना गया है। अतः श्रुति ज्ञान ही सर्वाधिक मौलिक एवं प्रामाणिक है। यहीं पर अद्वैत वेदान्त के सूत्र सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होते हैं।

वेद –

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद हमारे गौरवशाली अतीत के सर्वप्रथम साक्षी हैं। भारतीय संस्कृति के प्राणतत्व वेद ही हैं। धर्म-दर्शन, अध्यात्म, आचार-विचार और विज्ञान-कला ये सभी वेद से अनुप्राणित है। वेद सभी विद्याओं के बीज रूप है। वेद का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान वह प्रकाश है जो मनुष्य के मन एवं मस्तिष्क में छाये हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर देता है। ज्ञान न तो कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट। यह सदैव से इस सृष्टि में विद्यमान रहता है इसी अर्थ में वेद अनादि है। वेद अपौरुषेय एवं अप्रमेय है। चार वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, वर्तमान

और भविष्य सबकी सिद्धि वेद से ही है। सभी स्मृतियों का प्रामाण्य वेद पर ही निर्भर है। वादरायण के *'ब्रह्मसूत्र'* का 'शास्त्रयोनित्वात्'[1] सूत्र यह सिद्ध करता है कि ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के लिए *ऋग्वेद* आदि शास्त्र ही प्रमाण है।

ऋग्वेद में ऋत् की अवधारणा में जिस एकता के भाव का ज्ञान होता है वह अद्वैतवादी प्रवृत्ति का ही समर्थन है। यदि प्रकृति की भिन्न-भिन्न घटनाओं के कारण अनेक देवों की कल्पना की जाती है, तो प्रकृति के भीतर स्थित एकता की भावना के आधार पर ईश्वर का भी एकत्व सिद्ध होता है। इसी दृष्टिकोणं से वैदिक ऋषियों का संकल्प विश्व के एक ऐसे आदिकारण का अन्वेषण करने की ओर था, जो एकमात्र स्रष्टा तथा अनश्वर हो। इसी दिशा में विचार करते हुए उन्होंने जिज्ञासा की कि "प्रथम उत्पन्न देव को किसने देखा? उसे किसने देखा जो स्वयं अस्थिहीन होते हुए भी अस्थिधारियों को उत्पन्न करने वाला है? जानने वाले विद्वान के पास कौन यह पूछने गया?"[2] वास्तविक रूप में ईश्वर सम्बन्धी किसी भी विचारधारा पर जब हम चिन्तन करते हैं, तो निष्कर्ष के रूप में हमें एकत्ववाद पर ही जाकर रूकना पड़ता है। इसका मुख्य कारण यह है कि परम सत्ता एक ही हो सकती है। यदि अनेक सत्ताओं को माना जायेगा, तो उसमें से कुछ को किसी के अधीन भी मानना पड़ेगा। परिणामस्वरूप अन्त में एक ही सत्ता का अस्तित्व हमारे समक्ष उपस्थित होगा। *ऋग्वेद* के दशम मण्डल का *'पुरुषसूक्त'* इसका उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसमें कहा गया है। उस परम पुरुष के हजार सिर है, हजार आँखें हैं, और हजार पैर हैं। वे सम्पूर्ण विश्व की समस्त भूमि को सब ओर से व्याप्त करके इससे दश अंगुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित है

---

[1] *ब्रह्मसूत्र 1/1/3*
[2] *ऋग्वेद* 1/164/4

अर्थात वे ब्रह्माण्ड में व्यापक होते हुए भी उससे परे हैं। जो इस समय वर्तमान है, जो बीत गया है और जो आगे होने वाला है, वह सब पुरुष ही है। इसके अतिरिक्त वे देवताओं के तथा अन्नयुक्त भोजन द्वारा जो जीवित रहते हैं, उन सबके भी ईश्वर हैं। यह भूत, भविष्य, वर्तमान से सम्बद्ध समस्त जगत उस परम पुरुष का वैभव है। वे अपने इस विभूति विस्तार से भी महान है। इस विश्व के रूप में उनका एक पाद ही प्रकट हुआ है। एक पाद से ही वे विश्वरूप भी हैं। इसलिए वे सम्पूर्ण जड़ एवं चेतनमय जगत को परिव्याप्त किये हुए हैं।[1]

यहाँ पर परमतत्व को एक व्यक्ति या पुरुष के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है। *ऋग्वेद* के मंत्र *"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"* (1/164/46) तथा *"एको विश्वस्य भुवनस्य राजा"* (6/36/4) पर टिप्पणी करते हुए ब्लूमफील्ड ने लिखा है कि दोनों मंत्रों में अद्वैतवाद है। कहीं भी द्वैत नहीं है। यहाँ तक कि ये उपनिषदों के ब्रह्म, आत्मा, तथा परवर्ती वेदान्त दर्शन के पूर्व चरण हैं।[2] एक अन्य मंत्र में भी कहा गया है कि विप्र एवं कवि लोग एक ही सुपर्ण को अपनी वाणियों द्वारा अनेक प्रकार से कल्पित करते हैं।[3] इससे भी यही प्रमाणित होता है कि परम सत्ता एक ही है। सारी अनेकताओं के होते हुए भी यहाँ तत्व की एकता प्रतिपादित की गयी है।

निरुक्त में भी देवताओं की वास्तविक एकता को प्रतिपादित करते हुए कहा है - देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा अनेक प्रकार से स्तुत होता है। अन्य सभी देवता एक ही आत्मा के पृथक-पृथक

---

[1] *ऊँ सहस्रशीर्षा पुरुषः .... अभि – ऋग्वेद 8/4/17*

[2] *'It is but a step from such ideas to the Pantheistic, absolut without a second, Brahman-Atman of the upnishads and the Later Vedant Philosophy.' ब्लूमफील्ड – द रिलीजन आफ द वेद पृष्ठ 211*

[3] *सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति* / ऋ0 10.114.5

अंग हैं।[1] *ऋग्वेद* के तृतीय मण्डल में भी अद्वैतवाद की प्रवृत्ति स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है, जिसमें यह कहा गया है कि एक ही, जो विश्व है अर्थात् सब कुछ है, इस चराचर तथा उड़ने वाले समस्त जगत का स्वामी है– *'एकद्ध्रुवं पत्यते विश्वमेकं चरत्पतत्रिविषुणं विजातम्।*[2]*'* इस मंत्र में दो पद "एकम्" और "विश्वम्" इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि वह मूल तत्व 'एक' है तथा 'सब कुछ' वही है। इसके अतिरिक्त तृतीय मण्डल में ही एक पूरा 22 मंत्रों का सूक्त[3] है, जिसमें प्रत्येक मंत्र के चतुर्थ चरण में यह ध्रुवपद आया है कि *'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'* जिसका अर्थ है देवताओं के अन्दर विद्यमान बल या सामर्थ्य एक ही है। इस प्रकार यह पूरा सूक्त ही देवताओं के एकत्व को प्रतिपादित करता है।

ऋग्वेद में नासदीय सूक्त का अपना विशेष महत्व है। यह सूक्त दार्शनिक गम्भीरता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें नवीन परिकल्पना के साथ अद्वैतवादी दृष्टि परिलक्षित होती है। यह सूक्त गूढ़ सहस्यमयी आध्यात्मिक चिन्तन धारा का परिचायक है। इस सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है। इसलिए यह सूक्त *'सृष्टि सूक्त'* के नाम से भी जाना जाता है। नासदीय सूक्त में कुल सात मंत्र है। सूक्त में ऋषि कहते हैं कि–*'नासदासीन्नो–सदासीत तदानीं ... . वा न वेद।*[4] इस प्रकार नासदीय सूक्त के तीन भाग हैं तथा ये तीन स्थितियों में प्रबलतम रूप में अद्वैत तत्व का बोध कराते हैं।

प्रथम भाग में इस सृष्टि के पहले की स्थिति का वर्णन है। उस अवस्था में सत्–असत्, मृत्यु–अमरता, अथवा रात्रि–दिवस कुछ भी नहीं

---

[1] *महाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते। एकस्थत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।। निरूक्त 7–4*

[2] *ऋग्वेद 3/54/8*

[3] *ऋग्वेद 3/55*

[4] ऋग्वेद 10/129/1–7

था। उस समय न अन्तरिक्ष था, न आकाश था, न कोई लोक था, न जल था, न कोई भोग्य था और न ही कोई भोक्ता था। सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। उस समय केवल एक तत्व का अस्तित्व था। वह तत्व वायु के न रहते हुए भी श्वास ले रहा था।

द्वितीय भाग से स्पष्ट है कि जो नाम रूप आदि से रहित एकमात्र सत्ता विद्यमान थी, उसी की महिमा से संसार रूपी कार्य-प्रपंच का आर्विभाव हुआ। इसी परम सत्ता के मन में सृष्टि रचना की इच्छा हुई और इसके पश्चात् चर-अचर स्वरूप युक्त सम्पूर्ण सृष्टि ने आकार ग्रहण किया।

तृतीय भाग में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निरूपण मिलता है। इस पूरे ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो यह कह सके कि यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? देवताओं को भी सृष्टिकर्ता के रूप में नहीं माना जा सकता है क्योंकि वे भी सृष्टि रचना के बाद ही अस्तित्व में आये थे। इस प्रकार इस संसार में सृष्टि रचना के गूढ़ रहस्य को कोई भी समझ पाने में समर्थ नहीं प्रतीत होता है। यदि कोई सृष्टि के परम गूढ़ रहस्य को जानता है, तो वह केवल इस सृष्टि के अध्यक्ष या अधिष्ठाता ही हैं, इसके अतिरिक्त इस गूढ़ तत्व को कोई नहीं जानता है। अतः इस सूक्त में आध्यात्मिक धरातल एवं विश्व-ब्रह्माण्ड के धरातल पर की एकता की भावना स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है। विश्व में एक मात्र ही सर्वोपरि सत्ता विद्यमान है, जो सृष्टि-सर्जक एवं नियामक है। नासदीय सूक्त की इसी भावना का विकास अद्वैत दर्शन में हुआ हैं।

उपनिषद –

अद्वैतवाद की जिस विचारधारा का बीज हमें वेदों में मिलता है, उन बीजों का अंकुरण विस्तृत रूप में उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में प्रमुख रूप से अद्वैत तत्व का ही प्रतिपादन किया गया है।

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'[1]

'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन'[2]

'आसीदेकमेवाद्वितीयं'।[3]

ब्रह्म वा इदमग्र 'आसीत् तदात्मानम्वेत अहं ब्रह्मानास्मीति'।[4]

'एषु, सर्वेषु, भूतेषु गूढ़ोत्मा न प्रकाशते।'[5]

'सर्व खल्विदं ब्रह्म।'[6]

ये सभी उपनिषद वाक्य एक ओर नानात्व और प्रपंच के मिथ्यात्व का निरूपण करते हैं, वहीं दूसरी तरफ अद्वैत तत्व की प्रतिष्ठापना भी करते हैं। *उपनिषद* अपनी स्पष्ट एवं सुबोध शैली द्वारा सरल भाषा में अत्यन्त गंभीर अद्वैत तत्व की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार जिसके द्वारा अविद्या का विनाश होकर ब्रह्म की प्राप्ति हो, उस अध्यात्म विद्या को ही उपनिषद कहते हैं। यह वेद का सार तत्व है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में कोई भी ऐसी महत्वपूर्ण विचार धारा नहीं है, जिसका मूल श्रोत उपनिषद में उपलब्ध न हो। इसलिए *सुरेश्वराचार्य* का कहना है कि सभी शास्त्रों की

---

[1] *ऐतरेय उप0 1/1/1*
[2] *कठ उप0 2/4/11*
[3] *छान्दोग्य उपनिषद 6/2/1*
[4] *वृहदारण्यक 1/4/10*
[5] *कट उप0 1/3/12*
[6] *छान्दोग्य उप0 3/14/1*

प्रवृत्ति आत्मज्ञान को प्रकट करने के लिए है। इसलिए आत्म विद्या या वेदान्त ही सभी शास्त्रों का प्रयोजन है।[1]

सभी दर्शनों का समन्वय वेदान्त में होता है, क्योंकि वेदान्त से अधिक मूल्यवान कोई भी दर्शन नहीं है। परमसत् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए *श्वेताश्वर उपनिषद* के ऋषि एक स्थान पर एकत्र होकर प्रश्न करते हैं – ब्रह्म का स्वरूप क्या है, जो इस विश्व का कारण है? हमारा आधार क्या है? हम किससे प्रेरित होकर इस संसार में प्रवृत्त होते हैं और सुख–दुःख का अनुभव करते हैं।[2] इन प्रश्नों पर सम्यक् रूप से यदि हम विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि परमसत् एक है, जो ब्रह्म है। *छान्दोग्य उपनिषद* में पाँच गृहस्थ आपस में वार्ता करके, राजा अश्वपति के पास जाते है और उनसे प्रश्न करते हैं कि हमारी आत्मा क्या है? ब्रह्म क्या है?[3] इसी प्रकार *वृहदारण्यक* में याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछा गया है कि 'मुझे वह समझाओ जो ब्रह्म है, जो विद्यमान है और हमसे परे नहीं है, मुझे उसकी शिक्षा दो, जो सब वस्तुओं की आत्मा है।'[4]

इस प्रकार इन प्रश्नों का सूक्ष्म दृष्टि से यदि हम विवेचन करें तो ज्ञात होता है कि एक ही परम सत् है, जिसे ब्रह्म कहते हैं और वह सभी प्राणियों और वस्तुओं की आत्मा है। इस प्रकार के प्रश्न कई उपनिषदों में मिलते हैं और उनके उत्तर के रूप में एक अद्वितीय सत् का प्रतिपादन किया गया हैं। परम सत् में अनेकता का निषेध किया गया है।

---

[1] *यदर्थ सर्वशास्त्राणां प्रवृत्तिरति विस्तरा। आत्मज्ञानावतारार्थः सर्वशास्त्रसमुद्यमः।*
सुरेश्वर वृ०उ०भा०वा० 1/4/405

[2] *श्वेताश्वर उपनिषद 9/1*

[3] *छान्दोग्य उपनिषद 5/2/1*

[4] *वृहदारण्यक उपनिषद 3/4/1*

बृहदारण्यक उपनिषद में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि "अनेकता कहीं भी नहीं है। मनुष्य को अपने मन में स्वयं विचार करना है क्योंकि जिसे अनेकता दिखायी देती है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है।"[1] *कठ उपनिषद* में वर्णन है कि "जो वहाँ है वही यहाँ है, जो यहाँ है वहीं वहाँ है। वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है जो इसमें नाना की भाँति देखता है।"[2] *तैत्तिरीय उपनिषद* में पुनः सावधान किया गया है कि "जब तक यह थोड़ा सा भी अंतर करता है, तब तक वह भय से युक्त रहता है।"[3] छान्दोग्य उपनिषद में सनत्कुमार कहते हैं कि "जहाँ कुछ और नहीं दिखायी पड़ता है, वह भूमा है, जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह मृत्यु है।"[4] इस प्रकार उपनिषदों में एक तरफ नानात्व का निषेध किया गया है, दूसरी तरफ एक परमसत् का प्रतिपादन किया गया है। परमसत् एक ही है। उसे ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। उसी से यह नानात्वपूर्ण जगत व्यक्त हुआ है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाता है। यह जगत नाम रूप मात्र है। तत्व अनादि, अनन्त, सविकल्प बुद्धि द्वारा अगम्य, आत्म स्वरूप है जिसका ज्ञान हमें जन्म-मरण चक्र से छुटकारा दिलाता है। बुद्धि इसे जान नहीं सकती है। अतः सविकल्प बुद्धि अधिक से अधिक इसके बारे में *'नेति' 'नेति'* ही कह सकती है, किन्तु 'नेति' 'नेति' का तात्पर्य यह नहीं है कि तत्व अभावात्मक या शून्य है। 'नेति' 'नेति' के द्वारा हमें तत्व की अनिर्वचनीयता का बोध होता है, उसकी शून्यता का नहीं। *याज्ञवल्क्य* का कथन है कि "दृष्टा की दृष्टि का

---

[1] *मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किन्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।*
बृ०उ० 4/4/19

[2] *कठ उपनिषद 2/1/10*

[3] *तै०उ० 2/7*

[4] *छा०उ० 7/24*

विपरिलोप नहीं हो सकता है।''[1] ज्ञाता और ज्ञान में वास्तविक रूप में कोई भेद नहीं है। इसमें तादात्म्य का सम्बन्ध है। इस प्रकार 'नेति' 'नेति' का अर्थ है तत्व बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने के योग्य न होने से अनिर्वचनीय है।

आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं-''जिस प्रकार मिट्टी को जान लेने पर मिट्टी से बने सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि घर आदि केवल नाम रूप हैं, विकार हैं, सत्य तो मिट्टी ही है। जिस प्रकार सुवर्ण को जान लेने पर सोने से बने हुए सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि आभूषण नाम और रूप मात्र हैं। सत्य तो सुवर्ण ही है। उसी प्रकार आत्म तत्व का ज्ञान हो जाने पर नामरूपात्मक जगत् के सभी पदार्थ जान लिए जाते हैं। आत्मा ही परमार्थ सत् है। श्वेतकेतु तू ही आत्मा है।''[2]

वृहदारण्यक उपनिषद में आत्मानुभव को पाँच श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

प्रथम - आत्मा को अपने से भिन्न मानकर रहस्यात्मक रूप से आत्मा के दिव्य तेज का आध्यात्मिक अनुभव करना है।[3]

द्वितीय - हमारे अन्तस् में 'मैं' विद्यमान रहता है। इस मैं को अनुभूत आत्मा से अभिन्न मानकर हमें यह अनुभव करना है कि हम स्वयं आत्मा ही है। हम शारीरिक, ऐन्द्रिक, प्रज्ञात्मक या भावात्मक कोश नहीं है। अपने मूल रूप में हम विशुद्ध आत्मा से अभिन्न हैं।[4]

---

[1] *न द्रष्टुर्दृष्टेः विपरिलोपी विद्यते। वृ0ह0 4/3/23*
[2] *तत्त्वमसि श्वेतकेतो। छान्दोग्य उप0 6/8/7*
[3] *आत्मा वा अरे द्रष्टब्यः। वृहदारण्यक उप0 2/4/5*
[4] *आत्मानं विजानीयादयमस्मीति पुरुषः। वृ0 4/4/12*

तृतीय श्रेणी में आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में हमें यह अनुभव करना है कि आत्मानुभूत आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। *इशोपनिषद* के शान्ति मंत्र में भी यही तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि आत्मा को ही ब्रह्म मानना चाहिए। आत्मा का स्वरूप भी ब्रह्म की भाँति अनन्त है। आत्मा ब्रह्म से ही अपनी सत्ता ग्रहण करती है। ब्रह्म को अनन्तता में से आत्मा की अनन्तता घटा देने पर शेष अनन्त ही होता है।[1] यहाँ आत्मा और ब्रह्म, जीवात्मा एवं विश्वात्मा की एकरूपता की घोषणा की गयी है। इस प्रकार शान्ति मंत्र अनन्त पर अनन्त का ढेर लगाता जाता है और गणित के प्रमेय के आधार पर यह बतलाता है कि ब्रह्म के पूर्णत्व में से आत्मा का पूर्णत्व घटा देने पर शेष भी पूर्ण ही रहता है। अतः आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है।

चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत पूर्व की श्रेणी द्वितीय के अनुसार यदि हमारे अन्तस में *''मैं''* कहने वाला पुरुष आत्मा है और आत्मा ही ब्रह्म है, तो तार्किक रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मैं' ब्रह्म हूँ।[2] इस प्रकार हमें 'अहम्' को ब्रह्म से अभिन्न ही समझना है। इसी सिद्धान्त का दूसरा पक्ष त्वम् भी ब्रह्म से विनिर्गत होने के कारण अभिन्न है।

अन्तिम विभाजन के अन्तर्गत यह स्पष्ट है कि यदि अहं ब्रह्म है और यदि त्वम् भी समान रूप से ब्रह्म है अर्थात् उद्देश्य और विधेय, ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ब्रह्म है, तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक वस्तु जो हमें इस संसार में दिखलायी पड़ती है, चाहें वह मन और प्रकृति हो, चाहे आत्मा और अनात्मा, सभी समान रूप ब्रह्म ही है। जो

---

[1] *अयम् आत्मा ब्रह्म । वृ0उप0 2/5/19*
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पमर्णमदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।
इशो0 शान्ति मंत्र

[2] *अहं ब्रह्मास्मि। वृ0प0 2/5/19*

कुछ हमारे ज्ञान की परिधि के अन्तर्गत आता है, तथा हम जो कुछ भी हैं, दोनों समान रूप ब्रह्म की पूर्णता का ही परिचायक है। इसीलिए यह महावाक्य है कि ब्रह्म ही सर्वस्व है।[1] यह पूर्णतया अद्वैत की स्थिति है। यह स्थिति प्रज्ञा अथवा रहस्यानुभूति के द्वारा ही जानी जा सकती है।

बृहदारण्यक में आत्मा के बारे में कहा गया है कि "आरम्भ में केवल आत्मा ही था आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था।"[2] इसी प्रकार का वाक्य *ऐतरेय उपनिषद* में भी मिलता है – "इसके पहले एक आत्मा ही था।"[3] "दूसरा कोई चेष्टा करने वाला नहीं था। उसने विचार किया कि मैं निश्चय ही लोकों की रचना करूँ। उसने अम्भ मरीचि, मर और जल लोको की रचना की। फिर उसने विचार किया कि इन लोकों की रक्षा के लिए लोकपालों की रचना करूँ। यह विचार कर उसने हिरण्यगर्भ, लोकपाल एवं विभिन्न देवताओं की रचना अपने संकल्प के द्वारा किया। इस प्रकार जगत के तमाम प्राणियों की रचना कर वह आत्मा उनमें प्रविष्ट हो गया।"[4]

इस जगत का उद्भव ब्रह्म से ही है, उसी में इसकी स्थिति है और उसी में इसका विलय भी हो जाता है। उपनिषदकार ने इन समस्त भावों की व्यंजना एक शब्द "तज्जलान्"[5] के द्वारा की है। *श्वेताश्वर उपनिषद* में भी ब्रह्म के कई लक्षणों का उल्लेख किया गया है। इस उपनिषद में कहा गया है कि "वेदों में जिसका वर्णन मिलता है, ऐसा परब्रह्म सबका आश्रय होकर स्वयं में अविनाशी है। उसमें तीनों लोक स्थित हैं, जो महापुरुष वेद तत्व को जानते हैं, उन्हें अपने हृदय में विद्यमान

---

[1] *सर्वं खलु इदं ब्रह्म। छान्दो0 3/14/1*
[2] *आत्मवेदमग्र आसीत्। बृहदा0उप0 1/4/1*
[3] *वा इदमेक एवाग्र आसीत्। 1,1,1*
[4] *ऐतरेय उपनिषद – 1/3/12*
[5] *तज्जलानिति शान्त उपासीत्। छा0* 3/14/1

अर्न्तयामी ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है तो उसी परब्रह्म में लीन होकर जन्म-मृत्यु की श्रृंखला से दूर हो जाते हैं।"[1] "समस्त जड़-चेतन सृष्टि इसी ब्रह्म पर आश्रित है। वह आत्मा, अनन्त, सम्पूर्ण रूपों वाला, अकर्ता, परमेश्वर है। उससे बढ़कर जानने योग्य कुछ भी नहीं है। उस अजन्मा, निश्चल समस्त तत्वों से विशुद्ध परमात्मा को जानकर ही मनुष्य सब बन्धनों से छूट जाता है।"[2]

अद्वैतवाद की अवधारणा *मुण्डक उपनिषद* में जगत और ब्रह्म के निरूपण में भी मिलती है। जिसमें मकड़ी के उदाहरण से अद्वैत की स्थिति स्पष्ट की गयी है। "जिस प्रकार मकड़ी अपने अन्तस् से सूत्र निकालकर जाले का निर्माण करती है एवं पुनः उसे अपने में ही खींच ले जाती है, जिस प्रकार इस पृथ्वी पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ एवं वृक्ष उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर पर बाल तथा रोएं उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से समस्त विश्व का उद्भव होता है।[3] पुनः "जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि में अगणित स्फुलिंग निकलते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेकों प्रकार के प्राणियों का उद्भव होता है और वे उसी में लीन हो जाते हैं।"[4] ब्रह्म '*तदेतत्सत्यं तदमृतं*'[5] अर्थात् सत्य है, वह अमृत है। शेष सब कुछ नाम रूप मात्र है, जो उस सत्य से उत्पन्न होकर उसी में लय हो जाता है। जिस प्रकार बादल समुद्र से उत्पन्न होते हैं और बरसने के बाद पुनः तुरन्त बादल नहीं बनते हैं बल्कि वर्षा का पानी बहकर नदी में जाता है। फिर नदियों का पानी नाम रूप त्यागकर समुद्र में एकीकृत हो जाता है।

---

[1] *श्वेताश्वर 1/7*
[2] *श्वेताश्वर उपनिषद 1/7*
[3] *मुण्डक उपनिषद 1/1/7*
[4] *मुण्डक उपनिषद 2/1/1*
[5] *मुण्डक उपनिषद* 3/2/7

इसी प्रकार सत् से उत्पन्न नाना रूपात्मक जगत उसी में मिलकर एक हो जाता है।'[1] "जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।"[2] इसका तात्पर्य यह है कि जब तक अज्ञान की स्थिति रहती है, तभी तक नानात्व दिखलायी देता है, अन्यथा तात्विक रूप में सर्वत्र. एक ही ब्रह्म विद्यमान है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। "जिस प्रकार समुद्र की ओर बहने वाली नदियाँ अपने नाम और रूप को समुद्रसात् करके समुद्र में ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी अपने नाम और रूप का परित्याग करके परात्पर दिव्य पुरुष (ब्रह्म) से कैवल्य को प्राप्त करता है।"[3]

कठोपनिषद में भी अद्वैत का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ उपलब्ध हैं। इस उपनिषद में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि ॐ अक्षर ही अपर ब्रह्म है। यह अक्षर ही पर ब्रह्म है। इस अक्षर को पूरी तरह से जानने के बाद जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है।[4] ब्रह्म जीवों की अणु से अणुतर एवं महान से भी महत्तर आत्मा में रहता है।[5] वह सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापी एवं सबका आत्मा है – वह नित्यों का भी नित्य है, चेतनों का भी चेतन है और नानात्व के मूल में वही एक तत्व है।[6] इस उपनिषद में जगत को मिथ्या सिद्ध करने का अधिक प्रयास नहीं दिखायी पड़ता है, बल्कि जगत के अधिष्ठान रूप आत्मा एवं ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन अधिक है। इसी से जगत की निष्तत्वता सिद्ध हो जाती है।

---

[1] *मुण्डक उपनिषद 3/2/9*
[2] *मुण्डक उपनिषद 3/2/9*
[3] *मुण्डक उपनिषद 3/2/8*
[4] *कठ उपनिषद 1/2/16*
[5] *कठ उपनिषद 1/2/20*
[6] *कठ उपनिषद 2/3/1*

अद्वैत तत्व का उत्कृष्ट विवेचन *माण्डूक्य उपनिषद* में हुआ है। इस *उपनिषद* में जगत् के नानात्व का निषेध किया गया है एवं सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता का ही निर्देश किया गया है। इस प्रकार जीव और जगत का मूल एक ब्रह्म तत्व ही है। उस ब्रह्म का लक्षण बताते हुए यह *उपनिषद* कहता है कि यह न अन्तःप्रज्ञ है। न वहिः प्रज्ञ है और न उभय प्रज्ञ है, यह न प्रज्ञाबधन है और न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ। यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य है। यह एकात्म प्रत्यय सार है। यह विश्व के निखिल प्रसार का निषेध करता है, और शान्त, शिव तथा अद्वितीय है।[1]

समस्त उपनिषदों का सूक्ष्म अवलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपनिषदीय दर्शन में जिस परमसत् का प्रतिपादन किया गया है, वह ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, परमात्मा या अक्षर कहा गया है। इसी आधार पर जो नवीन दार्शनिक परम्परा विकसित हुई, वही वेदान्त है। स्वयं जगद्गुरू आदि शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है कि ऋक् आदि वेदों के अन्तिम सिद्धान्त का दर्शन वेदान्त में होता है। सदानन्द योगीन्द्र ने ठीक ही कहा है उपनिषदों को प्रमाण स्वरूप मानकर चलने वाला शास्त्र वेदान्त है और उपनिषदों का अनुसरण करने वाले शारीरक सूत्र भी वेदान्त है।[2]

भगवद्गीता –

श्रुति के पश्चात् स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई है, जिसका आधार श्रुतियाँ ही हैं। स्मृतियों के अन्तर्गत सभी पुराण, महाभारत, योग वासिष्ठ, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में ग्रन्थ आते हैं। इन सबमें *'श्रीमद्भगवद्गीता'* ही प्रमुख है, जिसमें अद्वैत तत्व का निरूपण अनेक

---

[1] *नान्तः प्रज्ञ न बहिप्रज्ञं .... आत्मैवः। मां0 1/12*

[2] *वेदान्तोनामो उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। वेदान्तसारं–3*

स्थलों पर किया गया है।' 'गीता उपनिषदों का सार है' इसकी तुलना गाय से की जाती है। ग्वाल बाल के रूप में विख्यात् भगवान श्री कृष्ण इस उपनिषद रूपी गाय को दुहने वाले हैं। अर्जुन बछड़े के समान है। समस्त विद्वान, दार्शनिक, एवं भक्तगण *भगवद्गीता* के अमृतमय दुग्ध का पान करने वाले हैं।[1]

भगवद्गीता में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक और अद्वैतपरक अर्थ में किया गया है। इसमें ब्रह्म का लक्षण बताते हुए कहा गया है अनादि और निर्गुण होने के कारण ब्रह्म अव्यय है।[2] वह अविनाशी और अन्तिम तत्व *(अक्षरं ब्रह्मपरमं)* है। वह आकाश की भाँति सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। अर्थात् जिस प्रकार आकाश का परिमाण सर्वव्यापी है किन्तु अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण वह किसी से लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार जीव चैतन्य भी विभिन्न प्रकार के शरीरों में स्थित होकर भी अपनी सूक्ष्म प्रकृति के कारण उनसे पृथक् बना रहता है। *भगवद्गीता* में विशुद्ध चैतन्य को ही परमतत्व माना गया है। परमतत्व के लिए 'पुरुषोत्तम' शब्द का प्रयोग हुआ है। पुरुषोत्तम में पर ब्रह्म अर्थात् विशुद्ध चैतन्य की निर्विकारता और अपर ब्रह्म की सगुणता दोनों का समावेश है।

भगवद्गीता में परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन मिलता है – अपरा एवम् परा। अपरा प्रकृति को क्षर पुरुष या क्षेत्र भी कहा गया है। यह जड़ प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान है। परा प्रकृति में चेतन जीव आते हैं। इन्हें क्षेत्रज्ञ अथवा अक्षर पुरुष भी कहते हैं।[3] चैतन्य स्वरूप होने के कारण ही जीव ईश्वर की परा प्रकृति है। जीव

---

[1] *सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।*
गीता महात्म्य – 6

[2] *भगवद्गीता 13/32, 13/33*

[3] *गीता 7/4–5, 15/16*

कूटस्थ और अक्षर है। जीव ईश्वर का सनातन अंश है।[1] क्षर पुरुष (जड़ प्रकृति) एवम् अक्षर पुरुष (जीव) इन दोनों के ऊपर पुरुषोत्तम हैं। क्षर और अक्षर चैतन्य की दो अवस्थायें हैं। क्षर चैतन्य की सांसारिक अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य अपने को अहं से युक्त मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि रूप में समझता है। सम्पूर्ण संसार का यही क्षर रूप है। सांसारिक चैतन्य सदैव उपाधि से पूर्ण रहता है। सुख–दुःख की उपाधि सदैव इस चैतन्य के साथ रहती है। इस उपाधि के कारण ही चैतन्य अपने को सांसारिक समझता है, और संसार के धर्मों को अपना धर्म समझता है। यही जीव की क्षर अवस्था है। अक्षर जीव की शान्त अवस्था है। इसमें उपाधियाँ नहीं रहती हैं। इस अवस्था में पहुँचने पर जीव में आत्म ज्ञान का उदय होता है। इनसे भिन्न आत्मा का जो सर्वोत्तम स्वरूप है, उसे परम आत्मा या पुरुषोत्तम कहते हैं। क्षर और अक्षर दोनों को निम्न कोटि मानकर इन दोनों के ऊपर रहने वाला पुरुष परमात्मा रूप माना गया है। यही परम–आत्म रूप पुरुषोत्तम है।[2] पुरुषोत्तम में दृष्टा–दृश्य, ज्ञाता–ज्ञेय दोनों का लय हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के सप्तम अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि – 'मेरे अतिरिक्त जगत का कारण कुछ नहीं है। यह जगत मुझमें उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार सूत्र में मणियाँ अनुस्यूत रहती हैं।''[3] वे कहते हैं कि सब भूतों में अर्न्तयामी मैं हूँ।[4] सब विभूतियाँ मेरा अंश हैं।[5] अतः यह उनका सगुण स्वरूप है, परन्तु पुनः वे कहते हैं कि यह व्यक्त रूप

---

[1] *गीता 15/7*
[2] *गीता 15/18*
[3] *गीता 7/7*
[4] *गीता 10/20*
[5] *गीता 10/41*

मायिक है और इससे परे जो इन्द्रियातीत रूप मेरा है, वही सच्चा रूप है।[1] मैं अव्यक्त हूँ, अज्ञानवश लोग मुझे व्यक्त समझते हैं। मैं कर्मो तथा गुणों से कभी लिप्त नहीं होता। यहाँ पर ईश्वर का निर्गुण स्वरूप दिखाया गया है। वस्तुतः परमतत्व का सगुण रूप उपासना का विषय है, उसका सर्वश्रेष्ठ रूप अव्यक्त ही है। *गीता* में कई स्थानों पर निर्गुण एवं सगुण दोनों को मिलाकर अव्यक्त ईश्वर का वर्णन किया गया है जैसे गीता में कहा गया है कि "मैं भूतों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूँ"[2] वह निर्गुण होकर भी गुणों का भोक्ता है। वह इन्द्रियों के विषय को जानता है, फिर भी वह इन्द्रिय रहित है। इस प्रकार अनेकों स्थलों पर परस्पर विरोधी वर्णन मिलता है। अतः *गीता* में ईश्वर का सगुण और निर्गुण तथा दोनों का परस्पर विरोधी स्वरूप दिखायी पड़ता है। इन सबका समावेश गीता अपने पुरुषोत्तम तत्व में कर देती है। पुरुषोत्तम ही गीता का सबसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्व है, जिसमें व्यक्त-अव्यक्त, क्षर-अक्षर या पर ब्रह्म की निर्विकारता और ईश्वर की क्रियाशीलता सबका समावेश हो जाता है। पुरुषोत्तम विश्व में व्याप्त रहकर भी उससे अछूता है। *गीता* में इसी पुरुषोत्तम को सभी कर्म समर्पित करने का निर्देश है।

गीता के अनुसार सत् और असत् दो ध्रुव हैं, जिनके मध्य समस्त संसार स्थित है। *गीता* में न तो सत् शून्य है और न ही असत् व्याप्त। बल्कि असत् का भाव नहीं होता तथा सत् का अभाव नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि जिसका कभी अभाव नहीं होता, उस अविनाशी आत्मा को सत् कहते हैं, दूसरी तरफ नाशवान, अनित्य वस्तु का नाम असत् है। ब्रह्म सत् और असत् से परे हैं। जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर व्यक्ति को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। वह अनादि, अनन्त ब्रह्म

---

[1] *गीता 7/24*
[2] *गीता 9/5*

सामान्य अर्थो में न सत् कहा जाता है, न असत् बल्कि वह अकथनीय है, पी0 टी0 राजू का मत है "*भगवद्गीता* को वेदों और पुराणों का सार कहा जाता है। विभिन्न दार्शनिक विचार धाराओं और परम्पराओं में ब्रह्म, ईश्व, मनुष्य और संसार को लेकर मतभेद हो सकते हैं किन्तु गीता उन सभी मान्यताओं को एकीकृत करके ऐसा जीवन दर्शन प्रस्तुत करता है जिससे कि जीवन की पूर्णता के लिए प्रेरणा और सामान्य दिशा निर्देश मिल सके।"[1] इस प्रकार गीता में ब्रह्म परमात्मा, ईश्वर एक ऐसे परमतत्व का संकेत करते हैं ज़िसमें माया जनित नानात्व का लय हो जाता है। यही *श्रीमद्भगवद्गीता* का अद्वैतवादी सिद्धान्त है।

ब्रह्मसूत्र –

वेदान्त का प्रमुख ग्रन्थ वादरायण का *ब्रह्मसूत्र* है। यह प्रस्थानत्रयी का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी महत्ता इसी से सिद्ध हो जाती है कि एकमात्र ब्रह्मसूत्र पर अनेकों आचार्यो ने भाष्य लिखकर विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। कुछ महत्वपूर्ण भाष्यकार, उनके भाष्य एवं संस्थापित मत इस प्रकार हैं –

1.	शंकराचार्य	*शारीरकभाष्य*	अद्वैतवाद
2.	भास्कराचार्य	*भास्करभाष्य*	भेदाभेदवाद
3.	रामानुजाचार्य	*श्रीभाष्य*	विशिष्टाद्वैतवाद
4.	मध्वाचार्य	*पूर्णप्रज्ञभाष्य*	द्वैतवाद
5.	निम्बार्काचार्य	*वेदान्तपारिजातभाष्य*	द्वैताद्वैतवाद
6.	श्रीकण्ठ	*शैवभाष्य*	शैवविशिष्टाद्वैतवाद
7.	श्रीपति	*श्रीकरभाष्य*	वीरशैवविशिष्टाद्वैतवाद

---

[1] *पी0 टी0 राजू–स्ट्रक्चरल डेफ्ट आफ इण्डियन थाट पृ0 529*

8.	बल्लभाचार्य	*अणुभाष्य*	शुद्धाद्वैतवाद
9.	विज्ञानभिक्षु	*विज्ञानामृत भाष्य*	अविभागाद्वैतवाद
10.	बलदेव स्वामी	*गोविन्दभाष्य*	अचिन्त्यभेदाभेदवाद

उपर्युक्त सभी में शंकराचार्य विरचित *शारीरक भाष्य* उत्कृष्ट एवं विद्वतापूर्ण है। *ब्रह्मसूत्र* में 555 सूत्र एवं 191 अधिकरण हैं। इसमें चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय समन्वयाध्याय है। इस अध्याय में ब्रह्म के सम्बन्ध में विभिन्न वेदान्त वाक्यों का समन्वय किया गया है। ब्रह्म का इस सांसारिक जगत एवं जीवात्मा के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। बादरायण का मत है कि तत्व एक ही है, जो माया के कारण नाना रूपों - जीव जगत आदि में प्रकट होता है। यही जीव व जगत का कारण है।[1] द्वितीय अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में उठायी गयी आपत्तियों का निराकरण किया गया है। इसके विरोधी सिद्धान्तों की समालोचना की गयी है। इसीलिए इसका नाम 'अविरोधाध्याय' है। तृतीय अध्याय का नाम 'साधनाध्याय' है। इस अध्याय में ब्रह्म विद्या की प्राप्ति के साधनों तथा उपायों पर विचार किया गया है। इसमें 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थ शोधन, जीव और ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश कर, ब्रह्म साक्षात्कार के बहिरंग यज्ञादि साधनों तथा शमदम साधन, निदिध्यासनादि अन्तरंग साधनों पर भी विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय 'फलाध्याय' है। इसमें मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा का निष्क्रमण, सगुण और निर्गुण विद्या के फल विशेष का निरूपण, जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति, देवयान - पितृयान मार्ग का विवेचन किया गया है।

वादरायण वेद को नित्य मानते हैं और शास्त्र प्रमाण ही उनकी दृष्टि में महत्वपूर्ण है। वे स्वीकार करते हैं कि तर्क अथवा विचार के द्वारा

---

[1] *जन्माद्यस्य यतः। ब्र० सू० 1/1/2*

अध्यात्म सम्बन्धी सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है। किसी भी सत्य का ज्ञान दो साधनों से प्राप्त होता है – श्रुति और स्मृति। श्रुति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष से एवं स्मृति का सम्बन्ध अनुमान से है। इसलिए आचार्य शंकर ने स्पष्ट किया है कि स्मृति को ज्ञान के आधार की आवश्यकता होती है जबकि श्रुति को नहीं क्योंकि श्रुति स्वतः प्रमाण है। श्रुति से बादरायण का तात्पर्य उपनिषदों से है, जबकि स्मृति उनका तात्पर्य *श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत* एवं *मनुस्मृति* से है। जिस प्रकार सांसारिक ज्ञान तो अनुमान से प्राप्त किया जाता है किन्तु उसका आधार प्रत्यक्ष ही है, उसी प्रकार स्मृति का आधार भी श्रुति ही है। बादरायण श्रुति के अलावा अन्य किसी को भी प्रमाण नहीं मानते हैं। वे मानते हैं कि जीवन के दो विचारणीय आधार है– पहला प्रकृति का है, जो विचार का विषय है और मन बुद्धि अहंभाव जिसके अवयव हैं। दूसरा अचिन्त्य ब्रह्म का क्षेत्र है, जिसके लिए केवल शास्त्र ही हमारे पथ प्रदर्शक हैं। ऐसा कोई भी तर्क जो वेद के अनुकूल नहीं है, निरर्थक है। यद्यपि तर्क का प्रारम्भ कुछ विशिष्ट लक्षणों से होता है किन्तु ब्रह्म के विषय में हम कदापि नहीं कह सकते हैं कि ब्रह्म कुछ लक्षणों से युक्त है और कुछ लक्षणों से शून्य है। यह ब्रह्म सम्बन्धी तर्क आत्म ज्ञान के अधीन है। आत्मज्ञान योगी जनों को भक्ति, ध्यान, प्राणिधान आदि अनुष्ठानों के सरांधन द्वारा होता है।[1] इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म के लक्षण तथा ब्रह्म के परमसत्य स्वरूप को निर्धारित करते हैं और जगत को स्वप्न के समान मिथ्या बताते हैं। इससे अद्वैतमत का ही प्रतिपादन होता है।

---

[1] *अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।। ब्र0 सू0शा0भा0 3/2/24*

माण्डूक्य कारिका –

माण्डूक्योपनिषद पर गौड़पाद द्वारा प्रतिपादित माण्डूक्यकारिकाएं अद्वैत वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ एवं तथ्यपूर्ण प्रतिपादन है। माण्डूक्य उपनिषद में परमसत् को "अद्वैत" शब्द से अभिहित किया गया है। गौड़पाद ने उस उपनिषद पर कारिका लिखकर भाष्य प्रस्तुत किया है, जो *"माण्डूक्य कारिका"*, *"आगम शास्त्र"*, *"माण्डूक्य वार्तिक"* और *"वेदान्त मूल"* आदि नामों से प्रसिद्ध है। यह रचना अद्वैत सिद्धान्त का प्रथम निबन्ध कहलाती है। इसमें परमतत्व की सत्यता का प्रतिपादन और जगत तथा जीव के नानात्व का निषेध किया गया है। इसमें चार प्रकरण हैं – आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण तथा अलातशान्ति प्रकरण।

आगम प्रकरण में चैतन्य की चार अवस्थायें तथा इन सभी अवस्थाओं का शरीर, आत्मा और ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों में अद्भुत वर्णन मिलता है–

	अवस्था	शरीर	आत्मा का रूप	ब्रह्म का रूप
1–	जागृत	स्थूल	विश्व	वैश्वानर
2–	स्वप्न	सूक्ष्म	तैजस्	हिरण्यगर्भ
3–	सुषुप्ति	कारण	प्राज्ञ	ईश्वर
4–	तुरीय	–	तुरीय	ब्रह्म

सर्वोच्च अवस्था तुरीयावस्था है जहाँ पर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। गौड़पाद परमसत् को अद्वैत बताते हुए कहते हैं कि 'तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में समर्थ है। वह अव्यय, अद्वैत, तुरीय और सब भावों में व्यापक देव रूप माना गया है।'[1] 'अनादि माया के प्रभाव से

---

[1] *निवृत्ते सर्वदृःषानामीशानः प्रभुरव्ययः ।*
अद्वैतः सर्वभावानां देव स्तुर्यो विभुः ।। माण्डूक्य कारिका 1/18

सोया हुआ जीव जब जागता है तब उसको अजन्मा निद्रारहित, स्वप्न रहित अद्वैत तत्व का ज्ञान प्राप्त होता है।'[1] इसी प्रकरण में वे सृष्टि के सम्बन्ध में प्रपंच का अभाव सिद्ध करते हैं। गौड़पाद के अनुसार 'प्रपञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वास्तव में जो द्वैत दिखायी पड़ता है, वह माया मात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है।'[2] परमार्थ की दृष्टि से न प्रलय है न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है।[3] इस प्रकार इस प्रकरण में जीव और ब्रह्म की एकता, प्रपञ्च का अभाव सिद्ध किया गया है।

माण्डूक्य कारिका में द्वितीय प्रकरण वैतथ्य प्रकरण है । वितथ के भाव को वैतथ्य कहते हैं जिसका तात्पर्य असत्यता से लिया जाता है।[4] इस प्रकरण में समस्त सांसारिक वस्तुओं को अयथार्थ बतलाया गया है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में चित्त में कल्पना किये गये पदार्थ बाहर देखे जाते हैं और असत्य होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत काल का जगत भी भासित होता है, किन्तु उसकी सत्ता संभव नहीं है। आत्मा में अविद्या के कारण जीव भाव की उत्पत्ति होती है और जीव को अपनी ही कल्पना से नानात्व का अनुभव होता है।[5] स्वयं प्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है, और वही सब भेदों को जानता है, यही अद्वैत वेदान्त का निश्चय है।[6] जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा

---

[1] *अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।*
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।। *माण्डूक्य कारिका 1/16*

[2] *प्रपञ्चो यदि विद्यते निवर्तेत न संशयः।*
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैत परमार्थतः।। *माण्डूक्य कारिका 1/17*

[3] *माण्डूक्य कारिका 2/32*

[4] *वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वम् इत्यर्थः।* *मा0का0 भाष्य 2/1*

[5] *माण्डूक्य कारिका 2/16*

[6] *मा.का. 2/12*

ही है। ये पदार्थ समूह असत् के समान होकर सत् जैसे दिखायी देते हैं।[1] इस प्रकार जब द्वैत असत् है और एक मात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है, तो इससे सिद्ध हो जाता है कि सम्पूर्ण लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्या विषयक ही है। सभी व्यवहार अविद्या विषयक होने के कारण परमार्थ अवस्था में न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न आबद्ध संसारी जीव है, न मोक्ष के साधन से सम्पन्न साधक ही है, न मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु है और न बंधन से छूटा हुआ कोई मुक्त ही है। जब उत्पत्ति और प्रलय का अभाव है, तो बद्ध और मुक्त कैसे हो सकते हैं? बस यही पारमार्थिक तत्व है।[2]

माडूक्य कारिका में तृतीय प्रकरण अद्वैत प्रकरण है, जिसमें तर्क के आधार पर अद्वैत तत्व का प्रतिपादन किया गया है। गौडपाद के अनुसार अद्वैत तत्व परमार्थ सत् है। वह नित्य शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला है, वह इन्द्रियों अथवा बुद्धि के द्वारा ग्राह्य नहीं है। इसलिए इनके द्वारा जो भाव रूप वर्णन अद्वैत तत्व का किया जाता है, उसका निषेध अनिवार्य हो जाता है। श्रुतियों में निर्विशेष आत्मा को बतलाने के लिए पहले आरोप वाद में आरोपित वस्तु का अपवाद किया जाता है। इसी अध्यारोप अपवाद न्याय से निर्विशेष वस्तु का बोध संभव होता है।[3] द्वैतवादियों के लिए व्यवहार तथा परमार्थ दोनों दशाओं में द्वैत है, किन्तु अद्वैतवादी के लिए व्यवहार में द्वैत व परमार्थ में अद्वैत है। अतः अद्वैत का किसी से विरोध नहीं है।[4] वह अद्वैत तत्व नित्य, शान्त, अजन्मा, स्वभाव से ही अत्यन्त उपरत तथा सम है क्योंकि आत्म तत्व अज, निरवयव, समतारूप और विशुद्ध चैतन्य

---

[1] *मा० का० 4/31*

[2] *न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः।*
न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।। मा०का० 3/4

[3] *स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः। मा०का० 3/26*

[4] *मा०का० 2/18*

है।[1] यदि उस अद्वैत तत्व में परमार्थतः भेद स्वीकार किया जाता है तो अमर, अजन्मा, अद्वय एवं स्वभाव से सत् होकर भी आत्मा मृत्यु को प्राप्त होने लगेगी।[2] इसलिए अजन्मा, अद्वय तत्व माया से ही भेद वाला होता है, परमार्थतः नहीं, अतः द्वैत पारमार्थिक सत् नहीं है, किन्तु अद्वैत का विवर्त है।

आचार्य गौड़पाद ने अलातशान्ति प्रकरण में अद्वैत–दर्शन के विरोधी मतों का खण्डन किया है। इसमें सौ श्लोकों में शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि का खण्डन है। अलात् शब्द का तात्पर्य उल्का या मशाल से है। जिस प्रकार उल्का चक्र अपने स्पंदन से नाना प्रकार की आकृतियों को जन्म देता है उसी प्रकार विज्ञान अपने स्पन्दन से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार अलात–चक्र के स्पन्दन की शान्ति होने पर नाना प्रकार की आकृतियों का शमन हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञान स्पन्दन के निरोध से सृष्टि का भी शमन हो जाता है। यही अलातशान्ति प्रकरण का उद्देश्य है।[3]

इस प्रकार अद्वैतवाद के सूत्र वैदिक संहिताओं में प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका विकास *उपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, माण्डूक्यकारिका* में हुआ है, जिससे अद्वैत वेदान्त की स्थापना हो जाती है। अद्वैत वेदान्त के मुख्य आचार्य शंकराचार्य हैं, जिनकी कृतियों में अद्वैत चिन्तन का निर्मल स्वरूप दिखायी पड़ता है।

---

[1] *मा0का0 2/93*

[2] *मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।*
तत्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यतामृतं व्रजेत ।। *मा0का0 3/19*

[3] *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका पृ0 39*

शारीरक भाष्य –

शंकराचार्य ने वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य किया, जिसे शारीरक भाष्य कहा जाता है, जो अद्वैत-वेदान्त का मुख्य आधार है। जिसके अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक ही है। ब्रह्म ही एक मात्र शाश्वत तत्व है। प्राणिमात्र में जो भिन्न आत्मा दिखायी देती है, वह एक ही आत्मा है। यह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है। अन्य सब मिथ्या है। प्राणियों से भिन्न जो पार्थिव जगत हमें दिखायी देता है, वह मिथ्या है। आत्मा ही सत्य रूप है। सारे मानसिक एवं भौतिक व्यापार क्षणिक हैं। अन्य सभी दर्शन जीवन में वस्तु सत्य को खोजते हुए पार्थिव जगत के सम्बन्ध में हमारे समक्ष व्यवहार रूप में प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करते हैं। उनकी दृष्टि वस्तुवादी है और संसार की मर्यादाओं तक सीमित है। परन्तु वेदान्त इस दृश्यमान जगत को कोई महत्व न देते हुए इसे माया से रचित मानकर उस मूल तत्व की ओर दृष्टिपात करता है, जिससे यह सारा संसार प्रतिभासित हो रहा है। वेदान्त उस अन्तिम सत्य को खोजता है, जो इस अनेकविध, सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल में अवस्थित है। *'तत् त्वम् असि'* अद्वैत वेदान्त का प्रसिद्ध वाक्य है। अपनी आत्मा के स्वरूप का यह ज्ञान ही सत्य ज्ञान है, क्योंकि जैसे ही यह ज्ञान हो जाता है, संसार की माया का स्वयं ही लोप हो जाता है। इस ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य इधर से उधर भटकता रहता है। परन्तु जब तक मन में वासना और तृष्णा का आवेग शान्त नहीं होता है, हम इस महान सत्य को सच्चे अर्थों में ग्रहण नहीं कर पाते हैं। शुद्ध चित्त होकर जब आत्मा मोक्ष की इच्छा से अन्तिम सत्य को खोजती है, तभी उसे महान सत्य का ज्ञान होता है। इस प्रकार वह स्वयं उस सत्य के साथ आत्मसात होकर एकनिष्ठ हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त का मत है कि इस पार्थिव जगत का कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह भ्रान्त मात्र है। यह केवल उस क्षण तक रहता है, जब

तक हमको सत्य ज्ञान नहीं होता है। ब्रह्म के स्वरूप का सही ज्ञान होते ही इस सांसारिक माया का लोप हो जाता है। माया संसार की समाप्ति का कारण यह नहीं है कि हम अपने आपको संसार से विरक्त कर लेते हैं, या इससे हम किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि इस पार्थिव व्यापार का कोई सत्याधार नहीं है। अनादि काल से चली आ रही हमारी संसार विषयक कल्पनाओं के पीछे कोई आधार ही नहीं है। ये कल्पनाएं भ्रान्ति मात्र हैं। हमको न अपने सम्बन्ध में कुछ पता है और न ही इस संसार के सम्बन्ध में। जो कुछ साधारण अनुभव हमको दिखायी पड़ता है, उसको ही हम सत्य मानकर अपने दैनिक कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। यह सत्य है कि इस सारे दृश्यमान जगत में एक व्यवस्था और क्रम दिखायी पड़ता है। उसको ही हम सत्य मानकर अपने दैनिक कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु यह व्यवस्थित एवं नियमित संसार यदि हमारी अनुभूति के आधार पर ही सत्य दिखायी देता है, तो यह सत्य एक आपेक्षित सत्य है। हमारी इन्द्रियानुभूति ही इस सत्य का आधार है। सीपी के टुकड़े को देखकर मनुष्य अनेक बार उसे चाँदी का टुकड़ा मान लेता है और उसे उठाने को भागता है। परन्तु जैसे ही उसे सत्य बोध होता है कि वह चाँदी का टुकड़ा न होकर सीपी मात्र है, वह उसे छोड़कर चल देता है। फिर वह पुनः भ्रम में नहीं पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य सत्य ज्ञान के पूर्व इस संसार को सत्य समझकर इसकी ओर दौड़ता है, परन्तु जैसे ही भ्रान्ति का लोप होता है, वह सत्य को जानकर इससे विमुख हो जाता है। चाँदी के टुकड़े की भ्रान्ति कुछ क्षणों के लिए प्रामाणिक दिखायी देती है। वह जीवन के अन्य तथ्यों की तरह हृदय में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प, आशा इत्यादि उत्पन्न करती है। इस पार्थिव सत्य से प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करने के लिए उद्यत होता है। परन्तु जब वह उसको हाथ में उठाता है, तब उसे वास्तविक सत्य का पता चलता है। वह तत्काल उसे दूर फेंक देता है उसके हृदय में

फिर किसी प्रकार का मोह उस शुक्ति-खंड की ओर नहीं रहता है। अतः *उपनिषद* का कथन है कि एक ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब मिथ्या है। जो इस सत्य को छोड़कर अनेक प्रपंचों में फँसता है, उसे दुःख और निराशा ही प्राप्त होती है।

शंकराचार्य के मतानुसार तत्व आत्मा या ब्रह्म है। जो ज्ञान स्वरूप है।[1] वह निर्विशेष, निर्विकल्प और निर्गुण है। अपनी माया शक्ति से समन्वित होते हुए ही यह ब्रह्म अपर, सविकल्प, सविशेष और सगुण बन जाता है। इसे ही ईश्वर कहते हैं। यही विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण है।[2] यही विषयी जीव और विषय जगत के रूप में प्रतीत होता है। विषयी और विषय, प्रमाता और प्रमेय दोनों में एक ही तत्व प्रकाशित हो रहा है, जो दोनों में अर्न्तयामी है और दोनों के पारगामी भी है। जीव में जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है, वहीं ब्रह्म रूप से इस समस्त बाह्य जगत में भी व्याप्त है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि से भिन्न है। वह शुद्ध चैतन्य, समस्त ज्ञान तथा अनुभव का अधिष्ठान है। वह स्वतः सिद्ध तथा स्वयं प्रकाश है। उसका निराकरण असम्भव है क्योंकि जो निराकर्ता है, वही उसका स्वरूप है।[3]

माया या अविद्या अत्यन्त असत् या निरी भ्रान्ति नहीं है। यह केवल अज्ञान भी नहीं है। यह भावात्मक और शक्तिरूप अन्यथा ग्रहण है। यह सत् और असत् का मिश्रण है। इसीलिए यह सद्सद्निर्वचनीय कही जाती है। माया सत् नहीं हो सकती क्योंकि सत् का अर्थ है त्रिकालाबाधित सत्ता तथा केवल ब्रह्म ही ऐसी सत्ता है, जो त्रिकालाबाधित है माया असत् भी

---

[1] *दृष्टिरेव स्वरूपमस्य अग्नौष्णवत् ।   वृह० भा० 1/4/10*
[2] *जन्माद्यस्ययतः । ब्रह्म सूत्र*
[3] *य एव निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् । शा०भा० 2/3/6*

नहीं हो सकती क्योंकि असत् का अर्थ है अत्यन्ताभाव, जिसके अन्तर्गत बन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम आदि की गणना की जाती है। अत्यन्त असत् को तुच्छ भी कहते हैं। माया सत् नहीं है क्योंकि ज्ञान से बाध हो जाता है। यह असत् भी नहीं है क्योंकि व्यवहार में इसकी प्रतीति और उपलब्धि होती है। अतः सद्सदनिर्वचनीय होने के कारण यह मिथ्या कही जाती है। यह 'रज्जुसर्प' के समान है। इसीलिए इसे अध्यास भी कहते हैं। यह माया वास्तव में जो वह नहीं है उसमें 'वह है' ऐसी बुद्धि है। शुक्ति को रजत और रज्जु को सर्प मान बैठना अध्यास है क्योंकि शुक्ति रूपी अधिष्ठान में अज्ञान के कारण रजत का आरोप किया जाता है। शुक्ति और रजत में 'न तो भेद है' और न ही अभेद इनमें तादात्म्य के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध निश्चित नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूपी अधिष्ठान में अविद्या के कारण जीव जगत आदि का अध्यास होता है, जो विद्या के द्वारा ही दूर होता है। ब्रह्म और प्रपंच में तादात्म्य के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है।

शंकराचार्य माया के पारमार्थिक मिथ्यात्व की अपेक्षा उसके व्यावहारिक सत्यत्व पर विशेष बल देते करते हैं। यह उनकी महत्ता एवं महनीयता का द्योतक है। वे स्वप्न और जाग्रत को समान नहीं मानते हैं। स्वप्न और जाग्रत में उतना अन्तर है जितना कि जाग्रत और सम्यक् सम्बोधि में। दोनों अपने-अपने स्थान पर सत्य हैं। जब तक तत्व का ज्ञान न हो, तब तक लौकिक और वैदिक सभी कार्य सत्य हैं। स्वप्न का सृजन जीव के द्वारा होता है, इसलिए वह व्यक्तिगत है, जबकि यह जगत ईश्वर द्वारा निर्मित है, इसलिए यह समष्टिगत है। जीव अविद्या के वशीभूत होकर भेद को सत्य मान लेता है तथा स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता समझता है। जीव पर अविद्या की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों का आधिपत्य है। अविद्या जीव और ब्रह्म की एकता का आवृत किये रहती है तथा

नामरूपात्मक जगत की सृष्टि भी करती है। ईश्वर माया के वश में नहीं है। ईश्वर पर माया का कोई आवरण नहीं है। ईश्वर माया की विक्षेप शक्ति से काम लेते हैं और प्रपंच की सृष्टि करते हैं। मायायुक्त ब्रह्म ही ईश्वर है। वास्तव में परब्रह्म ही माया का आश्रय एवं विषय दोनों हैं। जब ज्ञान द्वारा जीव आत्मैक्य स्वरूप अद्वैत तत्व का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह जीव जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेता है। शरीर त्याग के बाद विदेहमुक्ति होती है। ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। कर्म और उपासना सत्वशुद्धि के साधन और ज्ञान प्राप्ति में सहायक हैं।

द्वितीय-अध्याय

शकंराचार्य ने *संहिता, उपनिषद् आरण्यक, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, गौडपादकारिका* के आधार पर ही अद्वैत वेदान्त मत को सुस्थापित किया था। उन्होंने जिस अद्वैत वेदान्त की धारा को गति दी है, उसे प्रगति के पथ पर ले जाते हुए उनके परवर्ती दार्शनिकों ने उसकी विस्तृत व्याख्या की है। इसके परिणामस्वरूप अनेक नवीन सिद्धान्तों का सूत्रपात हुआ है, जिसमें आभासवाद, अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद प्रमुख हैं। इन सभी सिद्धान्तों का मुख्य उद्देश्य समस्त विरोधों एवं विसंगतियो को समाप्त करते हुए अद्वैत तत्व के स्वरूप को स्पष्ट करना है। शकंराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त मे मण्डन मिश्र एवं सुरेश्वराचार्य की विचारधारा का विशेष प्रभाव है क्योकि अद्वैत वेदान्त के दो प्रमुख सम्प्रदाय भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान इन्हीं से प्रभावित है। भामती प्रस्थान के सिद्धान्तो की उत्पत्ति एवं विकास में मण्डन मिश्र के द्वारा प्रतिपादित *ब्रह्मसिद्धि* का महत्वपूर्ण योगदान है। इसके विपरीत विवरण प्रस्थान के सिद्धान्तों पर आचार्य सुरेश्वर का विशेष प्रभाव है। इसलिए भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान के आचार्यो एवं सिद्धान्तों पर विचार करने के पूर्व मण्डन मिश्र एवं सुरेश्वराचार्य के सम्बंध मे विचार करना आवश्यक हो जाता है।

मण्डन मिश्र -

मण्डन मिश्र का प्रमुख ग्रंथ '*ब्रह्मसिद्धि*' है। इसके अतिरिक्त मण्डन के अन्य ग्रंथ *भावना विवेक, विधि विवेक, भ्रम विवेक और स्फोट सिद्धि*

है। मण्डन मिश्र का *विभ्रम विवेक* एक छोटा सा ग्रंथ है, जो भ्रम के चार सिद्धान्तों आत्म-ख्याति, असत्ख्याति, अन्यथाख्याति एवं अख्याति की विवेचना करता है। *ब्रह्मसिद्धि* पर शंखपाणि ने टीका की है। *ब्रह्मसिद्धि* में चार अध्याय है जिनको ब्रह्मकाण्ड, तर्ककाण्ड, नियोग काण्ड और सिद्धिकाण्ड कहा जाता है। *ब्रह्मसिद्धि* पर वाचस्पति मिश्र ने *'तत्वसमीक्षा'* नामक टीका लिखी है। ब्रह्मकाण्ड में मण्डन मिश्र महत्वपूर्ण वेदान्ती विचारो की व्याख्या करते है। इसमें ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना की गयी है। अविद्या को माया अथवा मिथ्या प्रतीति कहा गया है। अविद्या का अधिष्ठान जीव है। जीवों का आवश्यक रूप से ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है और जीवो के नानात्व का कारण कल्पना है, परन्तु ब्रह्म तो कल्पना शून्य है। अतः यह कल्पना ब्रह्म की नहीं हो सकती है। यह कल्पना जीवों की भी नहीं हो सकती है क्योंकि जीव तो स्वयं कल्पना के ही आश्रित है।[1]

इस समस्या के समाधान में *ब्रह्मसिद्धि* में किया गया है कि माया शब्द का अर्थ असगंत पदार्थ है। यदि यह सगंत या निर्वचन करने योग्य प्रत्यय है, तो इसकी यर्थाथता सुनिश्चित हो जायेगी, फिर यह माया नहीं हो सकती है।[2] पुनः जीव अविद्या पर और अविद्या जीवों पर आश्रित रहती है और यह चक्र अनादि है।[3] इसी अविद्या के द्वारा जीव संसार में आवागमन के चक्र में पड़ता हैं और यह अविद्या जीवों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है, क्योकिं स्वयं जीव अविद्या से ही उत्पन्न होता है।[4] मण्डन मिश्र ने यह माना है कि वेदान्त वचनों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा यथार्थ ज्ञान का उदय होता है एवं अविद्या का विनाश

---

[1] *इतरेतराश्रयप्रसंगात् कल्पनाधीनोहि जीव विभागः जीवाश्रया कल्पना। ब्रह्मसिद्धि पृ0 10*
[2] *अनुपपद्यमानार्थैव हि माया, उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात् । वही*
[3] *अनादित्वान्नेतरेतराश्रयत्वदोषः । वही*
[4] *न हि जीवेषु निर्सगजा विद्यास्ति, अविद्यैव हि नैसर्गिकी, आगन्तुक्या विद्यायाः प्रविलयः। वही पृ0 11–12*

होता है। इसी अविद्या के कारण ही ब्रह्म से जीव अलग होता है एवं उसकी निवृत्ति अथवा नाश से ही वह ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।[1]

मण्डन मिश्र की अभूतपूर्व तार्किक क्षमता का परिचय ब्रह्मसिद्धि के द्वितीय अध्याय तर्ककाण्ड से लग जाता है। तर्ककाण्ड में उन्होने भेद के प्रत्यक्षीकरण का खण्डन किया है। वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि हमें प्रत्यक्ष द्वारा भेद गोचर नहीं हो सकता है। अतः किसी को भी उपनिषद ग्रंथों की द्वैतवादी विचारधारा की यह व्याख्या इस आधार पर नहीं करना चाहिए कि प्रत्यक्ष भेद को अभिव्यक्त करता है। मण्डन मिश्र ने जिस तार्किक युक्ति प्रणाली का प्रारम्भ किया उसका प्रभाव आगे चलकर शांकर वेदान्त के अन्य दार्शनिकों आनन्द बोध, श्री हर्ष, आनन्द ज्ञान, चित्सुखाचार्य नृसिंहाश्रम पर पड़ा।

नियोग काण्ड नामक तृतीय अध्याय में मण्डन मिश्र मीमांसकों के इस मत का खण्डन करते हैं कि वेदान्त वाक्यों की व्याख्या मीमांसक व्याख्या पद्धति के अनुसार की जानी चाहिए। अर्थात् वैदिक वचनों का अर्थ आदेश है या निषेध, इसके आधार पर वेदान्त वाक्यों की विवेचना की जानी चाहिए। चौथा अध्याय सिद्धि काण्ड सबसे छोटा है। मण्डन मिश्र का यहां पर दृष्टिकोण है कि उपनिषद यह बताते है कि नाना प्रपंचात्मक जगत की कोई सत्ता नहीं है, इसका जो अस्तित्व दिखाई पड़ता है, वह जीव की अविद्या के कारण है।

---

[1] *अविद्यैव ब्रह्मणो जीवो विभक्तः, तन्निवृत्तौब्रह्म–स्वरूपमेव भवति।*
ब्रह्मसिद्धि पृ0 13

सुरेश्वराचार्य-

सुरेश्वराचार्य शंकराचार्य के शिष्य थे। इन्होने *तैत्तिरीयोपनिषद भाष्य वार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, वृहदारण्यकोपनिषद भाष्यवार्तिक, पञ्चीकरणवार्तिक* की रचना की है। इसीलिए ये 'वार्तिककार' के नाम से भी जाने जाते है। इनका सवसे महत्वपूर्ण ग्रंथ *'नैष्कर्म्यसिद्धि'* है। इसी ग्रंथ में इन्होंने अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यह *शारीरक भाष्य* का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जो इस भाष्य पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डालता है। सुरेश्वराचार्य की प्रमुख दार्शनिक देन आभासवाद का सिद्धान्त है। आभासवाद के माध्यम से ही इन्होंने अद्वैतवाद की सिद्धि की है।

आभासवाद -

सर्वप्रथम *ब्रह्मसूत्र* में वर्णित 'आभास एव च'[1] सूत्र का तात्पर्य है कि जीव परमात्मा का आभास ही है। आभास वह है जो वस्तु के समान प्रतीत होते हुए भी वस्तु न हो। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जीव परमात्मा का आभास होने के कारण मिथ्या है। वास्तविक रूप में सत्य परमात्मा ही है। शंकराचार्य के पश्चात् जीव के एकत्व एवं अनेकत्व को लेकर अनेक विवाद उपस्थित हुए। क्या जीव ही ब्रह्म है या उससे-पृथक? यदि जीव को जीवस्वरूप में ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, तो अद्वैत की जगह द्वैतवाद का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। यदि जीव को जीव स्वरूप में ब्रह्म मानते हैं, तो द्वैतापत्ति होगी क्योंकि जीवो की संख्या असंख्य है, यह हमें प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होता है।

---

[1] *ब्रह्मसूत्र 2/3/50*

इन समस्त समस्याओं का निराकरण सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद के द्वारा किया है, वे जीव को ब्रह्म का आभास भर मानते है। उनके अनुसार इस नानारूपात्मक जगत की प्रतिति, यथार्थ न होकर आभासात्मक है जिसका कारण अविद्या है।[1] जिस प्रकार मृगमरीचिका के कारण दूर से जलाभास तो होता है किन्तु वास्तविक रूप से वहाँ जल नहीं होता है। उसी प्रकार जो जगत अविद्या से युक्त जीव को पहले वास्तविक प्रतीत होता है, वही जगत अविद्या-निवृत्ति के पश्चात् अवास्तविक प्रतीत होने लगता है। यद्यपि जगत की स्थिति सत्य नही है। जिस प्रकार शुक्तिका में रजत अथवा रज्जु के सर्प की स्थिति भ्रमात्मक है, उसी प्रकार ब्रह्म में अविद्या कल्पित जगत की स्थिति असत्य एवं भ्रामक है।[2]

आचार्य सुरेश्वर ने असत् प्रतीत होने वाले जगत की व्याख्या आभासवाद के माध्यम से की है। इन विशिष्ट आध्यासिक दृष्टान्तो से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत ब्रह्म में केवल सम्भावना या परिकल्पना मात्र है।[3] अविद्या को जगत का उपादान माना गया है ब्रह्म अविकारी है, वह कूटस्थ है। जिस प्रकार शूक्ति रजत अपने अंश से सत्य न होकर उसका आभास मात्र होता है, उसी प्रकार जगत की अभिव्यक्ति आभास भर होती है।[4] यह जगत आत्म प्रधान होने के कारण ब्रह्म सत्तात्मक है। जिस जगत की प्रतीति होती है, वह मोहयुक्त तथा मिथ्या है। अतः अविद्या के कारण

---

[1] *वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 1/4/279*

[2] *किं नश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञान कल्पितम्।*
अनात्मवस्तु यत्किंचित ब्रह्मणयेव समध्यस्तं शुक्तिकारजतादिवत्।
वृ0उ0, भा0वा0 अ0 1/4/280

[3] *'तस्मात्यंभावना मात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि।' वृ0उ0, भा0वा0 अ0 1/4/421*

[4] *महादेव शास्त्री – वेदान्त सिद्धान्त, पृ0 5*

यह नानारूपात्मक जगत दुर्बोध प्रतीत होता है।[1] संसार की नानारूपात्मक अभिव्यक्ति आभास के कारण है।

इस प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मतानुसार जगत की सत्यता आभास मात्र है, वास्तविक नहीं। व्यावहारिक जगत की जो सत्यता हमें आभासित होती है, वह किसी काल में भी पारमार्थिक दृष्टि से सत्य नही है क्योकि व्यावहारिक जगत के सत्य दिखाई पड़ने का कारण अविद्या है। इस प्रकार आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य व्यावहारिक जगत को आभासमात्र कहकर जगत की व्यावहारिक सत्यता का निराकरण करते है तथा एकमात्र विशुद्ध चैतन्य की सत्ता स्वीकार करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं।

आचार्य सुरेश्वर सम्मत आभास प्रस्थान में जीव को चिदाभास कहा गया है। अर्थात चित् से विलक्षण होते हुए भी, जो चित् के समान भासमान हो, वही चिदाभास है।[2] चित् ब्रह्म है और जीव चित् का आभास है। अविद्या ही जीव एवं ईश्वर को उत्पन्न करती है। ईश्वर ही अविद्या के संयोग से चैतन्याशं में जब आभासित होता है, तब जीव कहलाता है।[3] अतएव ईश्वर एवं जीव में तत्वतः कोई भेद नही है। अद्वैत ब्रह्म अविद्या के संयोग से जब भासित होता है, तब जीव एवं ईश्वर कहलाता है। सुरेश्वराचार्य कहीं भी स्पष्ट शब्दों में यह नही कहते है कि ईश्वर ब्रह्म का आभास है, बल्कि उनके मत में ब्रह्म एवं ईश्वर एक ही जान पड़ते है। ब्रह्म के संदर्भ में आचार्य सुरेश्वर का विचार है कि ब्रह्म स्वतः न इस जगत का कारण है, न नियन्ता है तथा न ही साक्षी है बल्कि अविद्या के कारण वह एक ब्रह्म अनेक रूपों में कल्पित कर लिया जाता है। जिस

---

[1] *नैष्कर्म्य सिद्धि 11/44*

[2] *चिद्विलक्षणत्वे सति चितवत् भासमानत्वं चिदाभासत्वम् । वृ0उ0भा0वा0 4/3/1320*

[3] *वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली – 33*

प्रकार से रज्जु में सर्प की कल्पना कर ली जाती है।[1] ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई जगत का कारण नहीं हो सकता।[2] ईश्वर सर्वत्र, सर्वशक्तिमान, सर्वात्मा, सर्वव्यापी, ध्रुव एवं अन्तर्यामी है।[3] अविद्या में प्रतिबिम्बित चिदाभास से तादात्म्य स्थापित हो जाने पर वह नियन्ता कहलाता है।[4]

इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों ब्रह्म से पृथक् नहीं है, दोनों का ब्रह्म के साथ अभेद सम्बन्ध है। दोनो की उत्पत्ति का प्रमुख कारण अविद्या है। दोनो कूटस्थ ब्रह्म से ही आभासित होते हैं। ईश्वर और जीव दोनो को सोपाधिक सिद्ध करना आभासवाद की विशेषता है, किन्तु ईश्वर और जीव अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर भिन्न है, उनकी एकता स्वीकार करना युक्तिपूर्ण नही है।[5] ईश्वर ज्ञान सम्पन्न है, जबकि जीव अज्ञानी है, क्योकि जीव अविद्याग्रस्त होने के कारण संसारी है। जिस प्रकार निद्रावस्था में सोया हुआ मनुष्य स्वप्न का अनुभव करता है, उसी प्रकार अविद्यारूपी महानिद्रा में सोया हुआ जीव अर्थात संसारी मनुष्य जन्मादि षट् विकारो का अनुभव करता है।[6] ईश्वर एक है, किन्तु जीव अनेक है। ईश्वर वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है, किन्तु अज्ञान के कारण ईश्वर कह दिया जाता है। ब्रह्म ही बुद्धि की उपाधि से उपहित हो जाने पर जीव हो जाता है।[7] बुद्धि अविद्या का कार्य है। बुद्धि में चित् का आभास पड़ने पर अज्ञान के कारण उस बुद्धिस्थ चिदाभास से तादात्म्य स्थापित करने वाला चैतन्य तत्व जीव कहलाता है।[8] चूँकि बुद्धि अनेक हैं और प्रत्येक बुद्धि में स्थित

---

[1] *वृ०भा०वा० 2/1/900*
[2] *वृ०भा०वा० 3/4/321*
[3] *सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः । वृ०भा०वा० 1/4/376*
[4] *वृ०भा०वा० 3/9/3*
[5] *वृ०भा० वा० 2/1/456*
[6] *वृ०भा०वा० 1/4/1326*
[7] *वृ०भा०वा० 2/3/7*
[8] *वृ०भा०वा० 2/4/426*

चिदाभास दूसरी बुद्धि में स्थित चिदाभास से भिन्न होता है, इसलिए जीव भी अनेक हैं। स्वयं सुरेश्वराचार्य का कहना है कि जिस प्रकार आकाश एक है, किन्तु घटाकाशो के रूपों में अनेकशः दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा बुद्धिस्थ चिदाभासो के रूप में अनेक प्रतीत होता है।[1] इस प्रकार आत्मा ही सत्य है। आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नही है। अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्कारण है, तथापि अज्ञान उपाधि से युक्त हुआ आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के कारण अन्तर्यामी, साक्षी, ईश्वर कहलाता है।

आभासवाद से स्पष्ट है कि जहाँ एक तरफ जीव और ईश्वर में अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ दोनों मे स्वतः व्यावहारिक भेद भी दिखायी पड़ता है। ईश्वर समस्त जगत का अर्न्तयामी एवं साक्षी है और जीव जगत का भोक्ता, प्रमाता एवं कर्ता है[2] क्योकि जीव बुद्धि उपहित तादात्म्य प्राप्त कर लेने के कारण बुद्धि में स्थित 'स्वकीय चिदाभास' को नही जान पाता है। ईश्वर जहाँ माया से उपहित है, वहाँ जीव अविद्या से आविष्ट है। ईश्वर का अहमत्व माया से बाधित नही होता, अतएव वह साक्षी कहलाता है।[3] परन्तु जीव अविद्याजन्य आवरण शक्ति से आवृत्त होकर स्वरूप ज्ञान को भूल जाता है। अतएव ईश्वर के लिए कोई बंधन नही है तथा जीव को कर्मो के बंधनो से ग्रसित होना पड़ता है।

इस प्रकार आभासवाद की व्याख्या करने पर सुरेश्वराचार्य का ईश्वर, जीव, अविद्या का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। मण्डन मिश्र और सुरेश्वर में कई मतभेद है किन्तु प्रमुख अविद्या के आश्रय और विषय को लेकर है। मण्डन अविद्या के आश्रय और विषय में भेद करते है। उनके मत में

---

[1] *वृ०भा०वा० 1/2/126*
[2] *B.V. Balsubrahmaniyam Shastri Introduction Taitti Upanishad Page 136*
[3] *B.V. Balsubrahmaniyam Shastri Introduction Taitti Upanishad Page 154*

अविद्या का आश्रय जीव है, जबकि इसका विषय ब्रह्म है। परन्तु सुरेश्वराचार्य अविद्या के आश्रय और विषय में भेद नही मानते है। उनके मत में ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों है। यही मतभेद शांकरोत्तर वेदान्त के दो सम्प्रदायों का आधार बना। मण्डन मिश्र प्रवर्तित विचारधारा भामती प्रस्थान एवं सुरेश्वर का मत विवरण प्रस्थान के रूप आर्विभूत हुआ।

भामती प्रस्थान

वाचस्पति मिश्र –

अद्वैत वेदान्त के मर्मज्ञ वाचस्पति मिश्र ने आचार्य शंकर के '*शारीरक भाष्य*' की अद्‌भुत व्याख्या की, जिसे 'भामती टीका' के नाम से जाना जाता है। इसी टीका के कारण शंकराचार्य के उत्तर कालीन अनुयायियों के द्वारा प्रतिस्थापित प्रस्थान का नाम भामती प्रस्थान पड़ा। जिस पर आचार्य मण्डन मिश्र एवं वाचस्पति मिश्र का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वाचस्पति मिश्र ने *भामती* के अतिरिक्त मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि पर 'ब्रह्मत्व की समीक्षा', सांख्यकारिका पर तत्व कौमुदी, पातंजल दर्शन पर '*तत्व वैशारदी*' नामक टीका की रचना की। वाचस्पति मिश्र में सर्वतोन्मुखी प्रतिभा थी। उन्होने अद्वैतवाद का प्रतिपादन अवच्छेदवाद के आधार पर किया है। आचार्य शंकर ने *उपनिषद* एवं *शारीरक भाष्य* में अनेकों स्थानों पर घटाकाश एवं मठाकाश का उदाहरण दिया है, वे आत्मा को आकाश के समान अनन्त मानते हैं, और जीवात्मा को घटाकाश एवं मठाकाश के

समान, परिच्छिन्न, शान्त और सीमित कहते हैं।[1] इन्हीं उदाहरणों के आधार पर वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

अवच्छेदवाद –

'घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथाघटोलीयेत् नाकाशं' श्रुतिवाक्य यह स्पष्ट करता है कि घड़े से संवृत अर्थात सीमित, आकाश जिस प्रकार घड़े के नष्ट हो जाने महाकाश में लीन हो जाता है (नाश सदैव घड़े का ही होता है, आकाश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है), उसी प्रकार घड़े के आकाश के समान जीव है। नाश अविद्या का होता है, जीव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वाचस्पति मिश्र ने आकाश के सीमा सम्बन्ध को दृष्टान्त बनाकर असीम, अरूप, अनाम, अदृष्ट, अव्यवहार्य, ब्रह्मचैतन्य अथवा आत्मतत्व का सीमायुक्त अविद्या से सम्बन्ध मानते हुए जीव–ईश्वर भेद की व्याख्या की है। इसे अवच्छेदवाद कहा गया है। जीव अविद्या–उपाधि के कारण अनवच्छिन्न एवं असीम ब्रह्म से अवच्छिन्नता एवं ससीमता को प्राप्त होता है। अवच्छेद का तात्पर्य सीमा से ही है। ब्रह्म असीम है, किन्तु इस संसार में अनुभव प्राप्त करने वाला जीव स्वयं को सीमित ही अनुभव करता है। यह सीमा तब तक अनुभव में आती रहती है, जब तक प्राणी जीव रहता है। जिस प्रकार एक ही आकाश को सांसारिक लोग घट एवं मठ के सम्बन्ध से घटाकाश एवं मठाकाश कहकर पुकारते हैं, उसी प्रकार एक ही असीम ब्रह्म, जीव की अविद्योपाधि के कारण ससीमता एवं अवच्छिन्नता को प्राप्त होता है। जैसे घट एवं मठ उपाधियों के नष्ट होने पर घटाकाश एवं मठाकाश आदि भेद नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार

---

[1] *घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत्।*
ब्र0सू0शा0भा0 1,2,6
–एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति।
ब्र0सू0शा0भा0 1,2,30

अविद्योपाधि के नष्ट हो जाने पर जगत् के समस्त भेद नष्ट हो जाते हैं और परिणामस्वरूप एक ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

आचार्य शंकर ने अपने *शारीरक भाष्य* में जिन जिन स्थलों पर अवच्छेदवाद का संकेत दिया है, वाचस्पति मिश्र ने उन सभी स्थलों की युक्तिपूर्ण व्याख्या करके अपने मत का प्रतिपादन किया है। उदाहरण स्वरूप घटाकाश का अभिप्राय परमाकाश से भिन्न नहीं, अपितु महाकाश ही घटाकाश के रूप में परिवर्तित हो जाता है। घटाकाश और महाकाश की स्थिति बहुविवेचनीय भी नहीं है। इसका कारण यह है कि महाकाश की उपाधि घटाकाश है और यह विभक्त होने के कारण ही लक्षित है। इसी प्रकार अनादि अनिर्वचनीय, अविद्या की उपाधि से कल्पित जीव वास्तविक रूप में पृथक् नहीं है, अपितु उसकी उपाधि से उद्भावित और उद्भूत जीव, अभिभूत दिखायी देता है।[1]

इस प्रकार ब्रह्म महाकाश के समान अनन्त है। जीव घटाकाश के समान सीमित है, क्योंकि जीव अविद्याग्रस्त है। अविद्या जीव की शक्ति को सीमित कर देती है। स्वयं में जीव अनन्त ज्ञान सम्पन्न है किन्तु अविद्या के ही कारण वह अल्पज्ञ हो जाता है। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। जीव ब्रह्म ही है। ब्रह्म अविद्या के उपाधि भेद के कारण घटाकाश, महाकाश के समान जीव के रूप में प्रसिद्ध होता है।[2] अतः अविद्या के ही कारण ब्रह्म क्षुद्र जीव रूप में परिवर्तित होता है। वास्तविक रूप में अज्ञान के विषय एवं आश्रय का अन्तर ईश्वर एवं जीव का विभेदक है। ईश्वर अज्ञान का विषयभूत चैतन्य है और जीव अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य है।

---

[1] *यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः, अथ च अन्य इव यावद् घटमनुवर्तते। न चासौ दुर्विवेचनः, तदुपार्धघटस्य विविक्तत्वात्। एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपाधान कल्पितो जीवः न वस्तुतः परमात्मनो, तदुपाध्युद्भवाभिभावाभ्यां च उद्भूत इव अभिभूत इव प्रतीयते।*
भामती 2/3/3

[2] *स एव तु अविद्योपादान् भेदात् – घटकरकाधाकाशवत् भेदेन प्रथते ।*
भामती 2/1/6

अपने विषय के रूप में जो विभिन्न प्रकार का नानात्मक अज्ञान है, वही ईश्वर के स्वरूप का अवच्छेदक है, दूसरी तरफ आश्रय के रूप में वही नानात्मक अज्ञान जीव के स्वरूप का अवच्छेक है।[1]

अमलानन्द –

आचार्य अमलानन्द ने अद्वैतमत के समर्थन में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। वाचस्पति मिश्र की *'भामती'* पर अमलानन्द ने *'वेदान्तकल्पतरु'* नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की। इसके अतिरिक्त *'ब्रह्मसूत्र'* पर *'शास्त्रदर्पण'* तथा एक अन्य ग्रन्थ *'पंचपादिका दर्पण'* की भी रचना की है। से तीनों ग्रन्थ अद्वैत–वेदान्त के मुख्य–मुख्य बिन्दुओं का पूर्ण विवेचन करते हैं। अमलानन्द ने दृष्टिसृष्टिवाद का समर्थन किया है। दृष्टिसृष्टिवाद के अनुसार समस्त प्रपंच शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन स्वीकार किया गया है।[2]

प्रायः यह देखा जाता है कि श्रुतियों में भी सृष्टि का प्रतिपादन पारमार्थिक रूप से नहीं किया गया है। जहाँ एक तरफ आरोप न्याय का सहारा लेकर सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है, वहीं पर दूसरी तरफ अपवाद न्याय के द्वारा उसका निराकरण भी कर दिया जाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए अमलानन्द ने स्पष्टतः कहा है, यद्यपि सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियाँ ब्रह्मात्मैक्य परक हैं किन्तु ब्रह्मात्मैक्य परक होने से सृष्टि का प्रतिपादन उनका अभिप्राय नहीं है। इसीलिए दृष्टिसृष्टिवाद के मत में सृष्टि तात्विक न होकर दृष्टिकालिक ही है।

---

[1] *अज्ञानविषयीभूतं चैतन्यमीश्वरः अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पति मिश्रः। अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वाज्जीवनानात्वम्। वही*

[2] *वेदान्तसार – पृ0 12*

अमलानन्द ने ब्रह्म साक्षात्कार को प्रमारूप स्वीकार कर अनेक पूर्ववर्ती विसंगतियों का निराकरण किया है। मण्डन मिश्र प्रसंख्यान को ब्रह्म साक्षात्कार का करण मानते हैं। यदि प्रसंख्यान को ब्रह्म साक्षात्कार का करण माना जाता है, तो एक समस्या उत्पन्न हो जाती है, कि प्रसंख्यान प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं है अतः प्रसंख्यान से उत्पन्न होने वाले ब्रह्म साक्षात्कार को प्रमा नहीं कहा जा सकता है। इस समस्या का समाधान अमलानन्द ने *वेदान्त कल्पतरु* में किया है। उन्होने कहा है कि वेदान्त वाक्यों में जन्य ज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न होने वाली अपरोक्ष बुद्धि वेदान्त वाक्य अथवा उससे होने वाली प्रमा की दृढ़ता से भ्रमित नहीं होती है। इसलिए परतः प्रमाण्यापत्ति प्रसक्त नहीं होती है, क्योंकि अपवाद के निरास के लिए मूल प्रमाण की शुद्धि की अपेक्षा की गई है।[1] इस प्रकार अमलानन्द ने परिसंख्यान जन्य ब्रह्म साक्षात्कार को प्रमा रूप स्वीकार किया है।

अप्पय दीक्षित –

अप्पय दीक्षित ने भामती की टीका 'कल्पतरु' के आधार पर एक सारगर्भित ग्रंथ, *'कल्पतरु परिमल'* की रचना की। ब्रह्मसूत्र की *टीका न्याय रक्षामणि, मतसारार्थसंग्रह, न्याय मंजरी* एवं *सिद्धान्तलेश संग्रह* इनकी अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों में इन्होने विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

---

[1] *वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानभावनाजापरोक्ष धीः ।*
मूलप्रमाण दार्ढ्येन नभ्रमत्वं प्रपद्यते ।।
नचप्रामाण्यपरतस्त्वापत्तिरस्तु प्ररुच्यते ।
अपवाद निरासायमूलशुद्ध्लनुरोधनाद्।।
सिद्धान्तलेश संग्रह पृ0 470 पर उद्धृत कल्पतरू मत

'सिद्धान्त लेश संग्रह' में अप्पयदीक्षित ने अद्वैत-वेदान्त के भिन्न-भिन्न रूपों का सार संग्रह करके तत्व-जिज्ञासुओं के लिए ज्ञानमार्ग प्रकाशित किया है तथा एक नयी दिशा प्रदान की है। यह ग्रंथ चार परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण, जीव के एकत्व एवं अनेकत्व पर विचार करते हुए ब्रह्म से अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। पुनः साक्षी के स्वरूप का वर्णन करते हुए *'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'* श्रुति वाक्य के आधार पर यह सिद्ध किया है कि साक्षी, कर्मफल प्राप्त करने वाले जीव से पृथक् रहकर उदासीन और प्रकाशस्वरूप है। द्वितीय परिच्छेद में स्वप्नावस्था में दृश्यमान पदार्थों के अधिष्ठान की व्याख्या करते हुए स्वप्न प्रपंच को प्रतिभासिक सिद्ध किया है। सृष्टि के सम्बन्ध में मिथ्या अर्थ की अर्थक्रियाकारिता और मिथ्या के मिथ्या होने पर भी प्रपंच में मिथ्यात्व की उपपत्ति दिखायी गयी है। जीव की उपाधियों का वर्णन करते हुए जीव के अणुत्व का परिहार किया गया है। तृतीय परिच्छेद में आचार्य ने ज्ञान की उत्पत्ति में कर्मो की उपयोगिता ब्रह्म विद्या में योगमार्ग, ब्रह्मसाक्षात्कार में करण और उसमें शाब्द अपरोक्षत्व पर विचार करते हुए अज्ञान की निवृत्ति हेतु उपायों का वर्णन किया गया है। चतुर्थ परिच्छेद में अविद्यालेश का विवेचन, अविद्या की निवृत्ति का स्वरूप, मोक्ष के स्वतः पुरुषार्थत्व का वर्णन करते हुए उसके प्राप्यत्व एवं अप्राप्यत्व का विचार किया गया है।

विवरण प्रस्थान –

आचार्य पद्मपाद ने *शारीरक भाष्य* पर *'पन्चपादिका'* नामक की रचना की। यह टीका शांकर वेदान्त के महत्वपूर्ण ग्रंन्थो में एक है, एवं अद्वैत वेदान्त के प्रमुख सम्प्रदाय विवरण प्रस्थान का मूलाधार है। इसे *पंचपादिका* इसलिए कहा जाता है क्योकि यह सम्पूर्ण ग्रंथ पाँच पादो में विभक्त है, जिसमें प्रथम पाद अध्यास, द्वितीय पाद ब्रह्मजिज्ञासा, तृतीय पाद

ब्रह्म लक्षण, चतुर्थ पाद ब्रह्म में प्रमाण, तथा पंचम पाद ब्रह्म में समन्वय के द्वारा अद्वैत वेदान्त की उपादेयता सिद्ध की गयी है। इसी ग्रंथ के द्वारा *विवरण प्रस्थान* की आधारशिला रखी गयी।

पद्मपादाचार्यः-

पद्मपादाचार्य *विवरण प्रस्थान* के संस्थापक आचार्य है। इनके दो प्रसिद्ध ग्रंथ है, प्रथम *पञ्चपादिका* और द्वितीय *आत्मबोध व्याख्यान।* लेकिन पद्मपादाचार्य को सर्वाधिक प्रतिष्ठा *पञ्चपादिका* के कारण मिली।

पद्मपादाचार्य के मत में माया और अविद्या में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही है। अविद्या माया, प्रकृति, अव्यक्त, अग्रहण, अव्याकृत, आकाश, नाम, रूप, तमस, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, क्षर आदि सभी अविद्या के नाम है। अविद्या अनादि है और जड़ात्मिका है। यह शक्ति स्वरूपा भी है। ब्रह्म और अविद्या में आश्रयाश्रयी तथा विषयाविषयी भाव सम्बंध है। यह सम्बंध नैसर्गिक तथा अनादि है। ब्रह्म अविद्या का आश्रय और विषय दोनो है। पद्मपादाचार्य का कहना है कि जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है क्योंकि जीव स्वयं अविद्या का परिणाम है। अविद्या के आश्रय और विषय में भेद की सम्भावना नही हो सकती है। जिस प्रकार जितने क्षेत्र में अंधकार रहता है, उतने क्षेत्र का आवरण वह स्वयं करता है, उसी प्रकार अविद्या भी अपने आश्रयभूत प्रदेश का आवरण करने की सामर्थ्य विद्यमान रखती है।

ब्रह्म के आश्रय से युक्त अविद्या इस जगत में दो रूपों में व्यक्त होती है- प्रथम व्यावहारिक ज्ञान के रूप में, द्वितीय कर्म रूप में। अविद्या के कारण ही जीव अपने आपको समस्त कर्मो का कर्ता एवं उसका भोक्ता मान लेता है। अविद्या ही जीवत्व की जननी है। यही जगत का उपादान कारण है।

प्रतिबिम्बवाद –

पद्मपादाचार्य ने प्रतिबिम्बवाद का समर्थन किया है। प्रतिबिम्बवाद का बीज आचार्य शंकर के *कठोपनिषद, प्रश्नोपनिषद, मुण्डकोपनिषद, ऐतरेयोपनिषद* भाष्य में उपलब्ध होता है, जहाँ पर उन्होंने ब्रह्म को बिम्ब और जीव को प्रतिबिम्ब के समान कहा है।[1] जिस प्रकार जल का प्रतिबिम्ब जल के बढ़ने पर बढ़ता है, जल के ह्रास होने पर घटता है, जल के चलने पर चलता है और जल के खण्डित होने पर प्रतिबिम्ब भी खण्डित होता है। अतः जल के धर्मो में जैसा परिवर्तन होता है, ठीक वैसा ही परिवर्तन उसके प्रतिबिम्ब में भी होता है, किन्तु इसका किसी भी प्रकार से कोई भी प्रभाव बिम्ब स्वरूप सूर्य पर नही पड़ता है।[2] उसी प्रकार बिम्बस्थानीय ब्रह्म और प्रतिबिम्ब स्थानीय आत्मा है। जीवात्मा अज्ञानग्रस्त है। अज्ञान के ही कारण सुख-दुख आदि अनुभूतियों से प्रभावित होता है, किन्तु कूटस्थ ब्रह्म इससे पूर्णतया अप्रभावित रहता है। शंकराचार्य का मत है, बुद्धि की उपाधि से चैतन्य में प्रतिबिम्बित जीव सूर्य चन्द्र के प्रतिबिम्ब के सदृश है।[3] यद्यपि ब्रह्म निरुपाधिक है लेकिन उसमें प्रतिबिम्बत्व उसी प्रकार सम्भव है, जिस प्रकार आकाश के निरुपाधिक होने के बावजूद नीले वर्ण की प्रतिति संभव है।

विवरण प्रस्थान में सभी अद्वैत वेदान्ती प्रतिबिम्बवादी है। इस मत में शुद्ध चैतन्य को बिम्ब और जीव को प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिपादित किया गया है।, अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य को ईश्वर कहा गया है। यद्यपि ईश्वर

---

[1] *प्र0उ0 4/9, कठोप0 6/2, मुण्डक 3/9 ऐ0उ0 3/1*

[2] *तदुच्यते वृद्धिह्रास भाक्तत्वमिति, जलगतो हि सूर्यप्रतिबिम्बो जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति, जलचलने चलसि, जल भेदे भिद्यते, इत्येव जलधर्मानविधायी भवति न तु सूर्यस्य तथात्वमस्ति।* *ब्र0सू0शा0भा0 3/2/30*

[3] *वुध्युपाधिस्वभावानुविधायी हि सः चन्द्रादि प्रतिविम्बवत् । वृ0उ0शा0भा0 2,1,9*

अविद्योपहित है तथापि उसमें अज्ञानावरण नहीं होता, इसीलिए वह सर्वत्र बना रहता है। जिस प्रकार दर्पण की स्वच्छता एवं मलिनता का प्रतिबिम्ब पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार यद्यपि शुद्ध चैतन्य समस्त दोषों से रहित है फिर भी अविद्या की मलिनता के कारण प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव में अज्ञानता और अल्पता आ ही जाती है। *पंचपादिका* में कहा गया है बिम्ब स्थान से ब्रह्मस्वरूप का और प्रतिबिम्ब स्थान से जीव स्वरूप का उपदेश किया जाता है।[1] जिस प्रकार प्रतिबिम्ब कल्पित होता है उसी प्रकार जीव भी प्रत्यक्षचिद्रूप व कल्पित है। जीव का अन्तःकरण अज्ञानयुक्त होता है, इसलिए उसका जड़ बना रहना स्वाभाविक ही है। अन्तःकरण की जड़ता ही जीव को कर्ता-भोक्ता बनाती है। बिम्ब कल्प ब्रह्म और जीव के कल्पित रूप में एकरूपता सम्भव नही हो सकती। अतः जीव के मिथ्यात्मक रूप को प्रदर्शित करने के लिए प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त उपयुक्त सिद्धान्त है।[2]

इस प्रकार पद्मपादाचार्य प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न नहीं मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिबिम्ब जीव, बिम्ब ब्रह्म से भिन्न नहीं है, बल्कि बिम्ब रूप अर्थात ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म और जीव की पृथकता का जो भान हमें होता है, वह मिथ्या है। प्रतिबिम्ब मिथ्या नही है। प्रतिबिम्ब बिम्ब के समान ही है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए *पञ्चपादिका* में दर्पण तथा में मुख तथा चन्द्र का उदाहरण दिया गया है।[3] बिम्ब और प्रतिबिम्ब की अभिन्नता की पुष्टि में उनका तर्क है कि जैसे एक ही मनुष्य जिन लक्षणों से सम्पन्न हुआ घर के बाहर दिखायी देता है, उन्हीं लक्षणो से

---

[1] *बिम्ब स्थानीय ब्रह्मस्वरूपतया प्रतिबिम्ब स्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते।*
पंचपादिका प्रथम वर्णक पृ0 108

[2] *जीवः पुनः प्रतिबिम्बकल्पः सर्वेषां प्रत्यक्षश्चिदरूपः नान्तःकरणे जाड्येनास्पन्दितः स चाह कर्तृत्वमात्मनो रूपं मन्यते, न बिम्ब कल्पब्रह्मात्मैकरूपताम अतो युक्तस्तद्रूपावगमें मिथ्यापगमः। पंचपादिका पृ0 108*

[3] *यत् पुनः दर्पण जलादिषु मुख चन्द्रादि प्रतिबिम्बोदाहरणम्। प0पा0 104*

सम्पन्न वह घर के अन्दर भी प्राप्त होता है। उसी प्रकार बिम्ब तथा दर्पण तल पर स्थित प्रतिबिम्ब, दोनों एक समान रहता है। दोनो को भिन्न स्वीकार करना उपयुक्त नही है। अतः यह स्पष्ट है बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनो सत्य है। जीव अविद्या प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही है। जीव के संसारी, विज्ञानघन, विज्ञानात्मा, जीवात्मा, प्राज्ञ, शरीरी, आत्मा, पुरुष, प्रत्यगात्मा, कर्ता, भोक्ता आदि अनेक नाम हैं। बुद्धि की दृष्टि से इसको अन्तःकरण, मनस्, बुद्धि, अहंकार आदि कहते है और जीवन गति की दृष्टि से इसको प्राण कहा जाता है।

प्रकाशात्मा –

पद्मपादाचार्य की *'पञ्चपादिका'* पर प्रकाशात्मा ने *'पञ्चपादिकाविवरण'* की रचना की, जिसे अद्वैत वेदान्त में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि पंचपादिका विवरण टीका के नाम से विवरण सम्प्रदाय नामक एक पृथक् सम्प्रदाय का प्रचलन हो गया।

प्रकाशात्मा ने पद्मपादाचार्य के समान ही ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव सम्बंध को स्वीकार किया है। ये जीव की व्याख्या के संदर्भ में पूर्णतया प्रतिबिम्बवादी है। ये ईश्वर और ब्रह्म का समान अर्थ में प्रयोग करते है। अन्य अद्वैत वेदान्ती दार्शनिको की भाँति प्रकाशात्मा भी चिन्मात्र की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म और ईश्वर इसी चिन्मात्र के नाम है। यह एक तत्व जगत् का कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और सब प्रकार से अनवच्छिन्न है, जो 'ब्रह्म' शब्द से अभिहित है।[1] जगत् के

---

[1] *एकं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसर्वतोऽनवच्छिन्नं च जगत्कारणम्, तच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयमित्यर्थः ।*
प०पा०वि०पृ० 671

कारण रूप में भी ब्रह्म और ईश्वर एक ही है। ब्रह्म के अर्थ में ही ईश्वर शब्द का प्रयोग किया जाता है। चूंकि प्रकाशात्मा भी अविद्या और माया में भेद नही मानते है।[1] इसलिए वे कहते हैं कि ब्रह्म ही अपनी माया अथवा अविद्या से जगत् रूप में विवर्तित होता है।[2]

ईश्वर बिम्ब है और जीव प्रतिबिम्ब है। जीव का लक्षण बताते प्रकाशात्मा कहते हैं कि ब्रह्म ही जब अविद्या में प्रतिबिम्बित होता है, तब जीव कहलाता है।[3] यहाँ एक समस्या उत्पन्न हो जाती है कि जीव स्वरूपतः चिन्मात्र है और रूपरहित, निरवयव भी है, फिर उसका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है? इसका समाधान करते हुए विवरणकार का मत है कि आकाश अमूर्त तथा निरवयव है, फिर भी उसका जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है और जल में आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही जानुमात्रपरिमाणवाला जल दूर से देखने पर अथाह जल प्रतीत होता है। इसी प्रकार अमूर्त ब्रह्म रूप चैतन्य तत्व का प्रतिबिम्ब भाव मानने से कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। अतः चिद्रूप के प्रतिबिम्ब का किसी भी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकता है।[4] इस प्रकार चिन्मात्र ईश्वर जीव रूप में कल्पित किये जाने का कारण अविद्या ही है। अनादि सिद्ध अविद्या के कारण चैतन्य रूप ईश्वर का जीव रूप में भेद कल्पित कर लिया जाता है जबकि स्वरूप से चैतन्य तत्व एक ही है।

[1] प्रकृति भूतयोर्मायाविद्ययोः तद्विकारयोश्च अध्यासभाययोः लक्षणा भेदादेकत्वमव गम्यते।
प०पा०वि०पृ० 171

[2] तस्मात् ब्रह्मैव स्वमायया अविद्यया विवर्तत इति। पं०पा० वि० पृ० 613

[3] ब्रह्मैवाविद्याप्रतिबिम्बितमिति वदामः । प०पा०वि० पृ० 760

[4] तत्प्रतिबिम्बत्वं चिद्रपत्वं च शास्त्र प्रतिपन्नं च न निराकत्तुं शक्यते इति भावः। प०पा०वि०पृ० 289

विद्यारण्य –

विद्यारण्य का प्रारम्भिक नाम माधवाचार्य था। विद्यारण्य ने सोलह ग्रंथो की रचना की है लेकिन उनमें *पंचदशी* तथा *विवरण प्रमेयसंग्रह*, सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। विद्यारण्य के ग्रंथों का अनुशीलन करने वाले विभिन्न दार्शनिक उन्हें प्रतिबिम्बवाद का समर्थक स्वीकार करते हैं।[1] विद्यारण्य के अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं तथा माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर कहते हैं। चैतन्य जब अविद्या के विचित्रताओं के वशीभूत हो जाता है तभी जीव रूप में होकर देव, मनुष्य अनेक प्रकार का हो जाता है। अविद्या के कारण जीव का तत्वज्ञान नष्ट हो जाता है। अविद्या कारण शरीर कहलाती है। इस अविद्या के अहं अभिमान को प्राज्ञ कहते है।[2] दूसरी तरफ चिदात्मा परब्रह्म का बिम्ब जब माया में पड़ता है, तो वह माया को वश में करके ज्ञान आदि गुणो से युक्त होकर सर्वज्ञ ईश्वर हो जाता है। माया और अविद्या दोनों सत्वगुण से युक्त हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि रजोगुण एवं तमोगुण की मलिनता परे शुद्ध सत्वगुणमयी माया है तथा मलिनता से युक्त मलीन सत्वगुणमयी अविद्या है।[3] प्रस्तुत माया और अविद्यागत चित्प्रतिबिम्ब ही क्रमशः ईश्वर तथा जीव है। इस ईश्वर तथा जीव के क्षण में अविद्या का अर्थ अविद्या का कार्यभूत अन्तःकरण है। यही अविद्या कार्यभूत अन्तःकरणगत चित्प्रतिबिम्ब या चिदाभास जीव है। अविद्यागत प्रतिबिम्ब को जीव नहीं माना जा सकता है,

---

[1] *T.M.P. Mahadevan. The Philosophy of Advaita P. 214*

[2] *अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्रयादनेकधा।। सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान्।।*
पञ्चदशी 1/17

[3] *सत्वशुद्धयविशुद्धिभ्यां मायाऽविधं च ते मते। मायाविंवोवशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।।*
पञ्चदशी 1/16

क्योंकि अनुभूति प्रकाश में विद्यारण्य ने अज्ञानगत या अविद्यागत प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहा है।[1]

इस प्रकार विद्यारण्य ने विवरणकार और वार्तिककार की भाँति अविद्या और माया के भेद के खण्डन का समर्थन किया है। केवल सत्वगुण की विशुद्धि और अशुद्धि को ही माया और अविद्या का भेद माना है उनमें से माया में प्रतिबिम्बत चिदात्मा अपने माया को अधीन कर सर्वज्ञ ईश्वर कहलाता है और अविद्या शक्ति में प्रतिफलित अन्य जीवात्मा पराधीन बना रहता है। समस्त सासांरिक प्रपंचों एवं दुःखों का मूल कारण अविद्या ही है। अविद्या का उन्मूलन ज्ञान के द्वारा ही संभव है ज्ञान की प्राप्ति शास्त्र का अध्ययन एवं गुरु के उपदेश के बिना सम्यक प्रकाश से संभव नहीं है। वेदान्त शास्त्र के द्वारा बताये गये मार्ग श्रवण, मनन, निदिध्यासन से विचार करने पर ही उस सच्चिदानन्द स्वरूप का निश्चय हो पाता है।[2]

चित्सुखाचार्य –

शंकराचार्य की शिष्य प्रशिष्य परम्परा को आगे बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देने वाले, उद्‌भट विद्वान दार्शनिक चित्सुखाचार्य ने 'तत्वप्रदीपिका' ग्रंथ की रचना करके अद्वैत मत को समृद्धशाली बनाया। चित्सुखाचार्य ने तीन मौलिक ग्रन्थों की रचना की है। *तत्वप्रदीपिका, षड़दर्शन संग्रहवृत्ति* एवं *ब्रह्मस्तुति* टीका ग्रंथों में *न्यायमकरन्द, खण्डनखण्डखाद्य, ब्रह्मसिद्धि* तथा *विवरण* की व्याख्या प्रमुख है। ब्रह्मसिद्धि की व्याख्या इन्होने '*अभिप्राय प्रकाशिका*' के रूप में की है। '*भावद्योतिनी*'

---

[1] *यदावरकमज्ञानमात्मास्मिन् प्रतिबिम्बति । ईश्वरः प्रतिबिम्बोऽसौ सृष्ट्यादीनां प्रवर्तकः ।।*
अनुभूति प्रकाश 10/36 पृ0 198

[2] *शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानंद निश्चयात ।*
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्वज्ञानं न तु भ्रमः ।। पंचदशी 9/19

विवरण व्याख्या है। सुरेश्वराचार्य की *'नैष्कर्म्यसिद्धि'* पर *'भावतत्व प्रकाशिका'* नामक व्याख्या की है।

तत्वप्रदीपिका में चित्सुखाचार्य ने न्याय शैली के आधार पर वाद पद्धति के द्वारा आत्मतत्व का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार *ब्रह्मसूत्र* में समन्वय, अविरोध, साधन एवं फल चार अध्याय है, उसी प्रकार तत्वप्रदीपिका में भी चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में तेरह वादों पर विशद विचार किया गया है। जैसे – (1) ज्ञान की स्वप्रकाशता (2) आत्मा की ज्ञानरूपता (3) तमस् की भावरूपता (4) जगत् का मिथ्यात्व (5) भ्रम की सिद्धि (6) अज्ञान का अनादित्व एवं भावरूपत्व (7) अध्यास की सिद्धि (8) वेदवाक्य में सिद्धार्थविषयिणी प्रमा की उत्पादकता (9) अखण्डार्थता (10) स्वतः प्रमात्व (11) अतिरिक्तशक्तिकल्पना (12) अभिहितान्वयवाद (13) वेदाऽपौरुषेयता

तत्वप्रदीपिका का द्वितीय परिच्छेद न्याय-वैशेषिक दर्शन से सम्बन्धित है। इस परिच्छेद में चित्सुखाचार्य ने न्याय दर्शन में विवेचित सोलह पदार्थ जैसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान तथा वैशेषिक दर्शन में स्वीकार किये गये सात पदार्थ जैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, का खण्डन किया है। अद्वैत-तत्व को सिद्ध करते हुए तथा इस प्रक्रिया में आने वाले विरोध को पूरी तरह से निरस्त किया है। तीसरे परिच्छेद में मुख्य रूप से निम्न तीन[1] विषयों का निरूपण किया गया है – (1) शब्द अपरोक्ष ज्ञान का कारण। (2) ज्ञान, मोक्ष का कारण। (3) ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद का खण्डन।

---

[1] *शब्द साक्षात्कार हेतु र्विद्यामुक्तिफलप्रदा। विद्यैव न तु कर्मेति तृतीयेत्रितयंगतम्।। नयन प्रसादिनी टीका*

चतुर्थ परिच्छेद में 6 विषयों[1] का विवेचन मिलता है – (1) बौद्ध सम्मत मुक्ति का खण्डन (2) तार्किकमोक्ष स्वरूप का खण्डन (3) सांख्य दर्शन सम्मत मुक्ति के स्वरूप का निरसन (4) एकाविद्या और उसका विषय (5) अविद्या निवृत्ति का स्वरूप (6) जीवन्मुक्ति का साधन।

तत्वप्रदीपिका में सर्वप्रथम विषय का पूर्वपक्ष रखा गया है और वाद में उस विषय के सम्भावित सभी विकल्पों पर विचार किया गया है और प्रत्येक विकल्प का खण्डन तर्कपूर्ण युक्तियों के माध्यम से दिया गया है। तत्वप्रदीपिका में प्रत्यक् अर्थात जीव के पारमार्थिक स्वरूप का वर्णन किया गया है।, इसलिए इसे प्रत्यक्तत्वप्रदीपिका भी कहते हैं।

इस प्रकार *भामती* एवं *विवरण प्रस्थान* के प्रमुख आचार्यो एवं सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करने के पश्चात कुछ अन्य अद्वैत–वेदान्ती आचार्यो सर्वज्ञात्मुनि, प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती का विवेचन आवश्यक हो जाता है क्योंकि इन आचार्यो ने दोनों प्रस्थानों का विधिवत अनुशीलन किया है।

सर्वज्ञात्ममुनि –

सर्वज्ञात्ममुनि अद्वैत–वेदान्त के प्रमुख आचार्यो में एक है। इनकी प्रमुख रचना *संक्षेप शारीरक* है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने सर्वज्ञात्ममुनि को प्रतिबिम्बवादी माना है, फिर भी उनके ग्रथों में आभास पद[2] का उल्लेख प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि वे केवल प्रतिबिम्बवाद के ही समर्थक नहीं थे, बल्कि आभास प्रस्थान के प्रति भी उनकी गहरी आस्था

---

[1] *स्वात्यन्तोच्छेदरूपा क्षणिकनिरतिभिस्तार्किकैः कापिलैर्या,,*
सोक्ता मुक्तिर्निरस्ता दृढनयनिकरैरात्मपक्षे च मुक्तिः।। नयनप्रसादिनी टीका

[2] *साभासाज्ञानवादी यदि भवति पुनब्रह्मशब्द स्तथाऽहं। वही*
संक्षेपशारीरक 1/323, साभाससमेतदुपजीव्य .... /2/164 तथा 3/48

थी। 'तत्वमसि' महावाक्य का निरूपण करते हुए उन्होने तत् और त्वम् पदों के प्रसंग में 'चिदाभास' और 'चित्प्रतिबिम्ब' दोनों का साथ साथ प्रयोग यही निष्कर्ष ध्वनित करता है।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि ने शुद्ध चित् रूप ब्रह्म के आधार एवं अधिष्ठान दोनों स्वरूपों का अन्तर स्पष्ट किया है। सर्वज्ञात्ममुनि के मत में शुद्ध चित् रूप ब्रह्म या साक्षी का अधिष्ठान स्वरूप तब प्रकट होता है, जब हम उसे अविद्या जगत की स्थिति एवं उसके दृश्यत्व के लिए उत्तरदायी मानते है। इसके अतिरिक्त जब वह (ब्रह्म) अविद्या के आश्रयदाता के रूप में स्थित होता है, तब वह आधार स्वरूप होता है, क्योकि ऐसी स्थिति में ब्रह्म उस अविद्या से विशिष्ट प्रतीत होता है, जो अविद्या मात्र ब्रह्म की उपस्थिति से ही व्यावहारिक जगत में परिणत हो जाती है।[2] उदाहरण स्वरूप 'इदं रजतम्' वाक्य में इदं शब्द का तात्पर्य चित् के उस रूप से है, जो अविद्या का आश्रय प्रतीत होता है यही आधार रूप है। शुक्ति–रजत तथा ब्रह्म–अविद्या के कारण उत्पन्न जगत के सम्बंध में शुक्ति और ब्रह्म का आधार रूप मिथ्या है। ब्रह्म और जगत के बीच जिस आधार आधेय भाव की कल्पना की जाती है, वह मिथ्या है, क्योंकि जिस जगत की उत्पत्ति अविद्या से हुई है, उसे ब्रह्म का आधेय और ब्रह्म को उसका आधार नही कहा जा सकता है। जहाँ तक ब्रह्म की अधिष्ठानरूपता का प्रश्न है, उसके अज्ञान के कारण ही शुक्ति में रजत एवं ब्रह्म में जगत की बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु अधिष्ठानरूप शुक्ति एवं ब्रह्म पूरी तरह से रजत एवं जगत से सम्बंधित नही है।[3] दोनो में सम्बंध असम्भव है, क्योंकि एक सत् है

---

[1] *उपाधिमौपाधिकमान्तरं चिदाभासनं चित्प्रतिबिम्बकं च। संक्षेप शा० 3/275*
[2] *Lights on vedanta P. 162*
[3] *Lights on vedanta P 162*

और दूसरा असत् और सत् एवं असत् का सम्बंध अनिश्चित है।[1] अतः सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार ब्रह्म का अधिष्ठान रूप सत्य है, आधार रूप नही।[2]

प्रकाशानन्द –

अद्वैत–वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों की अत्यन्त विशद एवं तर्कसंगत व्याख्या प्रकाशानन्द ने *'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली'* ग्रंथ के द्वारा की है। यह अद्वैत–वेदान्त का एक प्रामाणिक एवं प्रख्यात ग्रंथ है। इस ग्रंथ में अद्वैत–वेदान्त के अज्ञान आदि सिद्धान्तो का मौलिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण दृष्टिसृष्टिवादी है जिसके अनुसार अज्ञानात्मक दृष्टि ही जगत की सृष्टि कहलाती है। प्रकाशानन्द के अनुसार न तो प्रतिबिम्बवाद उपयुक्त है और न ही अवच्छेदवाद, क्योंकि जीव न तो प्रतिबिम्ब है और न ही महाकाश से अवच्छिन्न मठाकाशवत् है। जिस प्रकार कुन्ती के उदर से जन्म लेने वाला कर्ण अपने आपको राधापुत्र समझता है, क्योकि उसे कुन्ती का पुत्र होने का ज्ञान नही है। उसी प्रकार अविद्या के कारण ब्रह्म ही जीव भाव को प्राप्त होता है, इस मिथ्यादृष्टि के कारण, यह सृष्टि सत्य प्रतीत होने लगती है।[3]

प्रकाशानन्द ने माना है कि अज्ञान ही अपने अंश से नाना प्रपंचात्मक जगत की सृष्टि करता है। अज्ञान कल्प्य है क्योंकि अज्ञान को लौकिक रूप से प्रत्यक्ष आदि के द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता है। यदि अज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होता तो किसी प्रकार के

---

[1] *ब्र0सू0शा0भा0 2/1/18*

[2] *Lights on vedanta P. 163*

[3] *न प्रतिबिम्बः नाप्यवच्छिन्नोजीवः । किन्तु कौन्तेयस्य राधेयत्ववदधिकृतस्य ब्रह्मण एवं अविध्या जीवभावः।* *सि0ले0स0 पृ0 119*

विवाद का प्रश्न ही न उठता। अज्ञान को वेदसिद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता है क्योंकि वेद के पूर्व काण्ड अर्थात् पूर्व मीमांसा का विषय कर्म मात्र है एवं वेदान्त अर्थात् उत्तर मीमांसा का विषय पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म है। किन्तु अज्ञान के सम्बंध में इन दोनो स्थितियों का अभाव रहता है। अतः अज्ञान को वेदसिद्ध नही माना जा सकता है।[1] इसलिए अज्ञान कल्प्य है। अज्ञान को कल्प्य मानने के लिए प्रकाशानन्द का तर्क है जो ईश्वर असंग, उदासीन एवं स्वानन्दतृप्त है, उसके द्वारा असत्य एवं अनेक प्रकार से सुख-दुख आदि प्रपंचयुक्त जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् उसके द्वारा यह सृष्टि अनुपपन्न है। अतः बिना अज्ञान के प्रपंचमय जगत की रचना अनुपपन्न होने के कारण अज्ञान की कल्पना करना अपेक्षित ही है।[2] इसीलिए अज्ञान *वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली* की दृष्टि से कल्प्य है।

प्रकाशानन्द के पूर्व अज्ञान को अनिर्वचनीय माना जाता था, परन्तु प्रकाशानन्द ने अज्ञान को कल्प्य मानकर एक ठोस एवं सकारात्मक रूप से अविद्या का प्रतिपादन किया है। अविद्या अपने अंश से जन्म लेती है और उसकी सत्ता तत्वबोध होने तक बनी रहती है। अतः यथार्थ से परे अविद्या का स्वरूप कल्प्य ही है। इसका एक कारण जगत का मिथ्यात्व है, दूसरा कारण वेदादि शास्त्रों का प्रयोजन।[3] इस प्रकार अविद्या की स्वतः

---

[1] *अज्ञानं कि वेदसिद्धमुत लौकिक प्रत्यक्षादिसिद्धमुत परिदृश्यमानकार्यान्यथानुपपत्या कल्प्यम्? तत्र नाद्यः, पूर्वकाण्डस्य कर्ममात्रविषयत्वात तत्रैव फलसम्बन्धात् अज्ञानादौ तदभावात् तद्प्रतिपादकत्वात् । नापि द्वितीयः स्पष्ट प्रत्यक्षादिसिद्धत्वे विवादाभावप्रसङ्गात् ।*
वे०सि०मु० 390

[2] *अतएवं विधस्य प्रपंच रचना बिना अज्ञानं न सम्भवति इति अज्ञानं कल्प्यते इति भावः ।*
जीवानन्द की टीका पृ० 26

[3] *लौकिकी वैदिकी चापि नाज्ञाने दृश्यते प्रमा। कार्यदृष्ट्याऽथ कल्प्यं चेल्लाद्यवादेकमेव तत् ।*
वे०सि०मु० 8

सत्ता न होने के कारण कल्प्य है। अज्ञान ही इस जगत का कारण है ब्रह्म, कूटस्थ होने के कारण जगत का कारण नहीं हो सकता और ईश्वर साक्षी होने के कारण जगत का कारण नहीं हो सकता। जिस प्रकार अज्ञान के कारण भ्रमवश शूक्ति को रजत समझ लिया जाता है, उसी प्रकार अज्ञान ही इस आत्मस्वरूप को, प्रपंचात्मक जगत बना देता है। इस अज्ञान का आश्रय ब्रह्म और विषय जीव है।

मधुसूदन सरस्वती –

नब्य अद्वैत वेदान्तियों में मधुसूदन सरस्वती का नाम प्रमुख है। इनके ग्रंथ है, *संक्षेप शारीरिक टीका, गीता टीका, दशश्लोकी टीका*, (सिद्धान्त बिन्दु), *वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतरत्नारक्षण, गूढार्थदीपिका, प्रस्थान भेद*। इन्होंने अपने ग्रन्थों में आभास, प्रतिबिम्ब और अवच्छेद इन तीनों वादों के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

सिद्धान्त बिन्दु में आभासवाद के सन्दर्भ में आचार्य मधुसूदन सरस्वती का मत है कि शुद्ध चैतन्य आभास के रूप में बाधित हो जाता है। इस बंधन की निवृत्ति से मोक्ष होता है, इसमें कोई असमंजस नही है कि आभास से पृथक चैतन्य ही तत्वमसि पद का वाच्यार्थ है। त्वम् पद वाच्य के अज्ञान रूपी एक देश के परित्याग के कारण जहदजहल्लक्षा के द्वारा ही अखण्डार्थ का बोध होता है। अतः कोई दोष नही है। यही पक्ष आभासवाद के नाम से जाना जाता हैं।[1] विवरणकार के मत में अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य ईश्वर है तथा अन्तःकरण एवं अज्ञान के संस्कार

---

[1] *तेन शुद्ध चैतन्याभास एव बंधः। तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति न किन्चिदसमज्जसम्। .... आभासवाद इति गीयते।* *सि०वि० 1/1*

से प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव कहलाता है।[1] आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद के प्रमुख भेदों का कारण यह है कि प्रतिबिम्ब को बिम्बवत् सत्य मान लिया गया है, लेकिन इसका तात्पर्य "जीव ब्रह्म ही है दूसरा नहीं" यही है। जिस प्रकार से कि स्वच्छ दर्पण में लाल कपड़े के प्रतिबिम्ब से दर्पण ही लाल दिखायी पड़ने लगता है। आभास और प्रतिबिम्बवाद में बुद्धिभेद के कारण जीव के नानात्व को स्वीकार किया गया है। अवच्छेदवाद में अज्ञान के नानात्व के कारण जीव के नानात्व को माना गया है। अज्ञान के द्वारा विषयीकृत चैतन्य को ईश्वर तथा अज्ञान के आश्रयभूत चैतन्य को जीव कहते हैं। प्रपंच भेद प्रति जीव के अनुसार होता है। जीव ही अपने अज्ञान से उपहित होने के कारण, जगत का उपादान कारण है और ब्रह्म के सादृश्य अथवा अंश होने के कारण, चिन्तन मनन, के द्वारा पुनर्स्मरण से ब्रह्म में लीन हो जाता है। ईश्वर ही इस प्रपंच और जीव का अधिष्ठान है। इसे ही अवच्छेदवाद कहते हैं।[2]

अद्वैतवाद के प्रतिपादन के लिए जितनी आवश्यकता जगत का मिथ्यात्व सिद्ध करने की है, उतनी ही आवश्यकता उस मिथ्यात्व के मिथ्या प्रतिपादन की भी है। इसका कारण यह है कि यदि जगत का मिथ्यात्व प्रतिपादन करके छोड़ दिया जायेगा, तो प्रकारान्तर से जगत का सत्य सिद्ध होना संभव है, क्योकि किसी वस्तु की सत्ता होने पर भी उसका निषेध होता है। इसलिए मिथ्या जगत के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या सिद्ध करना भी अद्वैत सिद्धि के लिए अनिवार्य है।

---

[1] *अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः अन्तःकरणतत्संकारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिबिम्बितं बिम्बचैतन्यं जीव इति विवरणकाराः।* सिद्धान्त बिन्दु 1/1

[2] *अज्ञान विषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः। अज्ञानाश्रयीमूतं च जीव इति वाचस्पति मिश्रः अस्मिश्च पक्षे अज्ञान नानात्वात् जीवनानाात्वम्। प्रति जीवं प्रप चभेदः। जीवस्यैव स्वाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात्। ईश्वरस्य सप्रप च जीवाविधाधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेदवादः।* सि0वि0 1/1

मिथ्यात्व के इस दृष्टिकोण का पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के माध्यम से मधुसूदन सरस्वती ने अत्यन्त गूढ विवेचन किया है। पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रपंच रूप जगत के मिथ्यात्व प्रतिपादन को मिथ्या कहना प्रपंच के सत्यत्व को सिद्ध करेगा। अपने मत के समर्थन में पूर्वपक्षी का विचार है कि एक धर्मी में प्रसक्त दो विरोधी धर्मो में से एक की मिथ्यात्व सिद्धि दूसरे विरोधी धर्म की सत्यता को सिद्ध करती है। अतः प्रपंच रूप धर्मी में मिथ्यात्व प्रतिपादन से प्रपंच की सत्यता सिद्ध होती है। पूर्वपक्षी के इस मत का निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने बड़ी कुशलता से किया है। इनका कहना है कि पूर्वपक्षी का यह कथन कि एक धर्म में प्रसक्त दो धर्मो में से एक के मिथ्या सिद्ध होने पर ही दूसरे की सत्यता सिद्ध होती है, निराधार है। एक गोरूपी धर्मो में अश्वत्व एवं गोत्व रूप दो विरोधी धर्मो में से एक का मिथ्या सिद्ध होना दूसरे की सत्यता नही सिद्ध करता। अतः जगत के मिथ्यात्व का मिथ्यात्व प्रतिपादन *अद्वैत सिद्धि* में बाधक न होकर साधक ही है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त गोविन्दानन्द ने ब्रह्म सूत्र *शांकर भाष्य* पर *'रत्नप्रभाटीका'* की रचना की हैं। रामाद्वय ने वेदान्त सूत्र के चार अधिकरणों पर *'वेदान्त कौमुदी'* नामक ग्रन्थ लिखा। आनन्द गिरी ने शारीरिक भाष्य पर *'न्याय निर्णय'* टीका की रचना की है। इन्होंने सुरेश्वराचार्य के *'वृहदारण्यकोपनिषद भाष्यवार्तिक'* पर भी टीका लिखी। नारायणतीर्थ और ब्रह्मानन्द सरस्वती ने *'सिद्धान्त बिन्दु'* पर क्रमशः *'लघु व्याख्या'* और न्याय रत्नावली जैसी महत्वपूर्ण टीकाओं का प्रणयन करके अद्वैत वेदान्त साहित्य को समृद्ध किया।

तृतीय-अध्याय

(1) साक्षी के स्वरूप की सामान्य अवधारणा

साक्षी :- अद्वैत वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में साक्षी के स्वरूप और कार्य की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व "साक्षी" शब्द का मूल श्रोत एवं विभिन्न भारतीय दर्शनों में साक्षी की अवधारणा का सामान्य विवेचन अत्यन्त आवश्यक है।

व्युत्पत्ति के रूप में 'साक्षिन्' शब्द संज्ञावाचक है, जिसकी निष्पत्ति के लिए पाणिनी का महत्वपूर्ण सूत्र है- *"साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्"* (*पा० सू०* 5/2/91) इस सूत्र में *साक्षात्* शब्द से 'इनि' प्रत्यय करके साक्षी शब्द बना है। *साक्षात्* अर्थात अपरोक्ष रूप से जो द्रष्टा होता है वही साक्षी कहलाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षदर्शी पुरूष की संज्ञा "साक्षी" है। साक्षी का लक्षण है- *"द्रष्टत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्"*। इसका तात्पर्य है - जो बोद्धा होकर भी उदासीन हो, वही साक्षी है। संसार में उदासीनता का बोधक होने के कारण ही इसका साक्षित्व सिद्ध होता है।

साधारणतया लोक में यह देखा जाता है कि जब दो व्यक्तियों में किसी प्रकार का झगड़ा होता है, तो इस विवाद का साक्षी वही तीसरा व्यक्ति बनता है जो कि उनके विवाद का द्रष्टा हो, ज्ञाता हो और स्वयं उदासीन हो। केवल उदासीनता ही साक्षी का लक्षण नही हो सकता है क्योकि विवाद की स्थिति में उसके समीप में पेड़, पौधे, मकान आदि उदासीन रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः उनमें भी साक्षित्व का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यदि केवल द्रष्टृत्व को लक्षण के रूप में रखा जाय तो भी उचित नही है, क्योकिं तब विवाद कर्ता भी द्रष्टा होने के कारण

साक्षी की कोटि में आ जायेगा; परन्तु उसे भी साक्षी नहीं माना जा सकता है। अतः 'जो बोद्धा होकर भी उदासीन हो' यही लक्षण उचित है।

धर्मशास्त्र में यह स्वीकार किया जाता है कि न्यायालय में जो वादी प्रतिवादी की साक्षात् जानकारी देता है वही साक्षी है। इस प्रकार प्रत्यक्षदर्शी पुरूष की *'साक्षी'* संज्ञा है। यदि हम प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था का अवलोकन करते हैं, तो वहां पर साक्षी की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि साक्षी ही निर्णय का आधार एवं मेरूदण्ड है। धर्मशात्रों में मनुस्मृति सबसे प्राचीन है जहां पर साक्षी की परिभाषा दी गयी है–

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते।।
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुनार्थसंसदि।
अवाङ. नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते।।
यत्रानिबद्धोपीक्षेत श्रुणुयाद् वापि किंचन।
पुष्टस्तत्रापि तद् ब्रूयाद यथादृष्टं यथाश्रुतम्।।
एकोऽलुब्धश्च साक्षी स्माद् बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात् दोषैश्चान्योपि ये बृताः।।
सभ्रान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
प्राड्विवाकोनुयुन्वीत विधिना तेन सान्त्वयन्।।[1]

धर्मशास्त्र में न्यायालय व्यवस्था में द्विधा साक्ष्य उपलब्ध होता है। सत्य बोलने वाला धर्म तथा अर्थ से च्युत नहीं होता है। आर्यजनों के बीच यदि कोई साक्षी अदृष्ट या अश्रुत का व्यर्थ वर्णन करता है तो वह मर कर

नरक में जाता है और पूण्यों से अर्जित स्वर्ग से वंचित होता है। वादी या प्रतिवादी या दोनों के द्वारा प्रतिबद्ध (कृत साक्षी) न होने पर यदि कोई तथ्य देखा या सुना गया हो तो पूछने पर यथावत् कहना ही उचित होता है। एक ही लोभहीन साक्षी पर्याप्त है किन्तु बहुत संख्या में साध्वी स्त्रियां साक्ष्य में अस्वीकार्य है। लोभादि दोषों से ग्रस्त पुरूष भी साक्षी नही हो सकते हैं, जो निश्छल स्वभाव से साक्षी कहे वही व्यवहार में ग्राह्य है किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ कहा जाय वह धर्म एवं न्याय की दृष्टि से महत्वहीन है। साक्षी लोग सभा में वादी एवं प्रतिवादी के समक्ष जब जाये तब विधिसम्मत रीति से सान्त्वना देते हुए प्राडिववाक (वकील) को प्रश्न करना चाहिए। *न्यायकोशकार* ने साक्षी के सम्बन्ध में कहा है कि विवाद करते हुए दो व्यक्तियों के मध्य सन्दिग्धता को दूर करने के लिए साक्षी का प्रयोजन रहता है। न्याय का निमित्त साक्षी ही होता है। साक्षी *कृत* एवं *अकृत* भेद से दो प्रकार का माना जाता है–

(1) वादी तथा प्रतिवादी द्वारा प्रतिबद्ध पुरूष कृत साक्षी कहा गया है। कृत साक्षी पांच प्रकार के बताये गये हैं– लिखित, स्मारित, यादृच्छिक, अभिज्ञ और गूढ़ोत्तर।

(2) अप्रतिवद्ध या अनिरूपित पुरूष अकृतसाक्षी है। अकृतसाक्षी कई प्रकार के है जैसे – प्राडिववाक, ग्राम, राजा, कार्याधिकारी द्वारा प्रेषित व्यक्ति तथा वंश सम्बन्धी विवादों में वंशज पुरूष।

इस प्रकार प्राचीन काल से ही न्याय व्यवस्था में साक्षी की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है।

भारतीय दर्शन में साक्षी की अवधारणा

सांख्य योग-

साक्षी की अवधारणा को सांख्य-योग दर्शन में तत्वमीमांसीय ज्ञान प्रक्रिया के उत्स के रूप में स्वीकार किया गया है। साक्षी की सिद्धि के लिए सांख्य-दर्शन में त्रैगुण्य के विपर्यास को स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार *''तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरूषस्य कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टत्वमकर्तृभावश्च।।''*[1] संघात् रूप त्रिगुण के विपरीत निर्गुण होने से पुरूष का साक्षित्व, कैवल्य, औदासीन्य, द्रष्टृत्व, तथा अकर्तृत्व सिद्ध होता है। प्रकृति की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों ही पुरूष के आधीन हैं। अतः पुरूष इन दोनों का साक्षी है। त्रिगुण प्रधान प्रकृति की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों का अधिष्ठान पुरूष ही है। जिस प्रकार क्रिया के साक्षी के रूप में किसी के उपस्थित रहने पर उसकी इच्छा का अनुसरण करते हुए ही कर्ता कार्य को सम्पादित करता है, स्वतंत्र रूप से नहीं। उसी प्रकार प्रधान भी साक्षी के रूप में पुरूष की उपस्थिति में ही सृष्टि कार्य को सम्पादित करती है, स्वतंत्र रूप से नहीं।[2] पुरूष की सत्ता से बुद्धि चेतना युक्त होती है और चेतना ही द्रष्टा है। साक्षी वह है जो दर्शित विषय हो।[3] यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि साक्षी होने के लिए दर्शित विषय होना आवश्यक है तो पुरूष में यह कैसे संभव है?

इसका समाधान सांख्य की तत्वमीमांसा के आधार पर दिया जा सकता है। यहां दर्शित विषय का तात्पर्य है बुद्धि द्वारा अनात्म भूत विषयों का पुरूष के प्रति दर्शित होना। इसका कारण है कि पुरूष की सत्ता से

---

[1] सांख्य कारिका-*9वीं कारिका*

[2] *क्रिया साक्षिणी कस्मिंश्चिदवस्थिते कर्त्तातदिच्छानुविधायी कार्य निवर्तयति न स्वतंत्रः एवं प्रधानमपि। युक्तिदीपिका, 19 कारिका ।*

[3] *चेतनोहि द्रष्टा, भवति नाचेतनः। साक्षी च दर्शितोविषय भवति।।*
सॉख्य तत्व कौमुदी पृ0 324

बुद्धि चेतना युक्त होती है जिससे विषयों का प्रतिसम्वेदन होता है।[1] किन्तु पुनः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि दर्शित विषय होना साक्षी होना है, तो प्रकृति क्यों नही साक्षी हो सकती है? इसके समाधान में सांख्य आचार्य एक युक्ति देते हैं कि लोक में भी वाद-विवाद का साक्षी वही है जो उदासीन हो। अतः प्रकृति साक्षी नहीं हो सकती है। क्योकि प्रकृति उदासीन नहीं है। केवल उदासीनता को साक्षित्व का हेतु स्वीकार करने पर विभिन्न जड़ वस्तुएं भी साक्षी हो जायेगी। यह तर्क भी उचित नहीं हो सकता है क्योंकि साक्षी वही होगा जो दृष्टा भी हो। इसको स्पष्ट करते हुए नारायणतीर्थ ने माना है कि पुरूष की ज्ञान रूपता ही उसका साक्षित्व है।

युक्तिदीपिकाकार पुरूष में साक्षित्व की सिद्धि के लिए सुखादि विषयों में भी आत्मगुणत्व को असिद्ध कर आत्मा की निर्गुणता को साक्षित्व के हेतु के रूप में प्रतिस्थापित करते हैं।[2] निर्गुण होने से पुरूष का साक्षी होना सिद्ध है, किन्तु इसके लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि सुख और अंहकार में समानाधिकरण्य है और ऐसा होने से इन दोनों में अभिन्नाधिकरणत्व भी है। यदि समानाधिकरण्य के द्वारा अभिन्नाधिकरण की भी सिद्धि होती है तो पुरूष में साक्षित्व की सिद्धि कभी नहीं हो सकती है क्योंकि यह जो अंहकार का अधिकरण होगा, वही सुख का भी अधिकरण होगा। लोक में भी देखा जाता है कि मैं सुखी हूँ एवं मैं दुःखी हूँ - ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार सुखात्मक एवं दुखात्मक अनुभवों में अंहकारास्पद आत्मा ही सुख एवं दुःख का अधिकरण होगा। यदि इनका अधिकरण आत्मा है तो सुख और दुख आत्मा के ही गुण होंगे। इस

---

[1] *चिति शक्तिरपरिणामिनी अप्रतिसंक्रमा दर्शित विषया शुद्धाचानन्ता चेति।*
योग सूत्र व्यास भाष्य 1/2

[2] *नैर्गुण्यात् साक्षित्वम्। यस्मादयं सुषादिभ्योर्थान्तर भूतस्तस्मादयं तत्क्रियासाक्षी।*
युक्तिदीपिका पृ0 327

प्रकार की स्थिति में पुरूष में निर्गुण्य सिद्ध नहीं होगा। परिणामतः पुरूष का साक्षित्व भी सिद्ध नहीं होगा। किन्तु सांख्य सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह उपपादन भी कुछ युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है। जिस प्रकार गौरत्व एवं कृष्णत्व के साथ आत्मा का अभिन्नाधिकरणत्व है और ये सब आत्मा के धर्म नहीं है; उसी प्रकार सुख दुःखादि की प्रतीति के स्थल पर भी अहमर्थ अंहकार के साथ सुख दुःख का कोई समानाधिकरण्य नही है और सुख दुःख आत्मा का गुण नहीं हो सकता है।[1] यदि यह स्वीकार किया जाय कि सुखादि गुण आत्मा के धर्म हैं तो इनके लिए शब्दादि का उपादान नहीं हो सकेगा। अतः यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि सुखादि का आत्मा के साथ भिन्नाधिकरण है।

पुरूष बुद्धि की वृत्ति रूपी क्रिया का साक्षात्कर्ता साक्षी है क्योंकि गुण जन्य सुख दुःख एवं मोह की अपेक्षा वह अन्य है। त्रिगुण ही कर्ता है जबकि इसके विपरीत क्रिया का साक्षी पुरूष है, जो गुणों के क्रिया में प्रवृत्त-निवृत्त होने से प्रवृत्त-निवृत्त नही होता। यहाँ पर द्रष्टा एवं साक्षी का स्वरूपगत अन्तर एक साथ नहीं प्रतिपादित है। इतना ही स्पष्ट होता है कि गुण कर्ता होते हुए दृश्य संघात बनाते हैं जिसका द्रष्टा एवं साक्षी पुरूष असंहत है। पुरूष में बुद्धि का सक्रंमण ही दर्शन एवं साक्षात्कार है। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि द्रष्टा वह होता है, जो अचेतन न होकर चेतन हो और साक्षी उसे कहा गया है जिसके प्रति विषय का दर्शन कराया गया है। इस प्रकार जिसे विषय दिखाया जाता है वह साक्षी होता है। जिस प्रकार व्यवहार में वादी एवं प्रतिवादी विवाद विषय साक्षी को दिखाते है, उसी प्रकार प्रकृति अपने परिणामरूप विषय पुरूष को दिखाती है। अतएव पुरूष साक्षी है। कोई अचेतन जो दर्शन का विषय है वह

---

[1] *तद् यथागौरः कृष्णोऽहमिति शरीर धर्मरात्मनों भिन्नाधिकरणत्वमहङ्कारेण एवं सुख दुःखयोरपि स्यात न च आत्म गुणत्वं स्यादिति।*

युक्ति दीपिका 19वीं कारिका की टीका पृ0 328

अचेतन होते हुए विषय का दृष्टा नहीं हो सकता है। इस प्रकार चेतन एवं अविषय होने के कारण पुरूष ही साक्षी द्रष्टा होता है।[1] यहाँ अन्तर यही है कि स्वरूपतः चेतन होने से पुरूष द्रष्टा है, किन्तु वृत्ति सारूप्य प्राप्त कर जब प्रकृति द्वारा वह दृश्य विषय के प्रति द्रष्टा बनाया जाता है, तब वह साक्षी कहा जाता है।

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीन वृत्तियाँ होती है। इन तीनों वृत्तियों का साक्षी पुरूष है। इसलिए वह सभी प्रमाणादि वृत्तियों का साक्षात् द्रष्टा है। इन्द्रिय द्वारा बुद्धि का विषयाकार परिणाम जाग्रत अवस्था में होता है, संस्कारजन्य विषयाकार परिणाम को स्वप्न कहा गया है तथा इन दोनों से भिन्न प्रगाढ़ निद्रा सुषुप्ति है। इन तीनों से विलक्षण एवं तीनों अवस्थाओं से रहित पुरूष को साक्षी रूप से निश्चित किया गया है। अवस्थायें बुद्धि-कार्य है जो पुरूष में प्रतिबिम्बित होकर अपना विषयाकार निक्षिप्त करती है किन्तु वे अवस्थायें पुरूष की नहीं है। सुषुप्ति की अवस्था दो प्रकार से विभेदित की जाती है। जिसे अर्धलय एवं समग्रलय कहते है। अर्धलय में बुद्धिवृत्ति विषयाकार न होकर सुखदुःख मोहाकार होती है जिससे सोकर उठने पर स्मृति रहती है कि मैं सुख से सोया, आदि। किन्तु समग्रलय में सामान्यतः बुद्धिवृत्ति का अभाव हो जाता है, जो मरण एवं मूर्छा के समान है। यह समग्रलय अभाव रूपा है, अतः पुरूष उसका साक्षी नहीं होता है। पुरूष वृत्ति मात्र का साक्षी है, अन्यथा संस्कारादि रूप बुद्धिधर्मों के साक्षित्व की अनुपपत्ति हो जाती है। जिस प्रकार संस्कार आदि बुद्धि के धर्म होने के बाद भी साक्षी-भाष्य नही है, उसी प्रकार समग्र सुषुप्ति वृत्तिरूप न होने से साक्षिभाष्यता नही ले सकती है। पुरूष में प्रतिबिम्बित बुद्धिवृत्तियों का प्रकाशन ही सुषुप्ति के प्रति साक्षित्व है।

---

[1] *चेतनत्वेतनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते।*
चेतनो हि द्रष्टा भवति नाचेतनः।।
तर्क कौमुदी। पृ0 88

इस प्रकार सांख्य दर्शन में पुरूष के साक्षित्व की सिद्धि तर्को द्वारा हो जाती है, परन्तु ज्ञान-प्रक्रिया में इसके उपयोग के सम्बध में न तो कारिकाकार ने स्पष्ट किया है और न ही टीकाकार ने कोई प्रयास किया है। *सांख्य सूत्र* तथा *सांख्यप्रवचनभाष्य* इस दिशा मे कुछ संकेत अवश्य प्राप्त होता है। सांख्य सूत्र में पुरूष के साक्षित्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि *"साक्षात् सम्बंधात् साक्षित्वम्"*[1] अर्थात पुरूष का जो साक्षित्व बताया गया है वह साक्षात् सम्बंध मात्र से ही है न कि परिणाम रूप से है। इसकी व्याख्या करते हुए विज्ञान भिक्षु ने *सांख्य प्रवचन भाष्य* में स्पष्ट किया है- कि साक्षात् सम्बंध के आधार पर मात्र बुद्धि ही साक्षिता का अवगम करती है।[2] अतः पुरूष मात्र बुद्धि की वृत्ति के लिए ही साक्षी बनता है जबकि अन्य के लिए मात्र दृष्टा है क्योंकि साक्षी के लिए आवश्यक है कि द्रष्टा होने के साथ-साथ वह उदासीन भी हो। सांख्य दर्शन की दृष्टि में प्रत्यक्ष ज्ञान बाह्यक्रियाजनितअभिज्ञान का विकार है और इस अभिज्ञान के मूल हेतु के रूप में द्रष्टा है। पुरूष ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर द्रष्टा एवं जीव बनता है जबकि वह स्वतः केवल निर्गुण है और अविद्या एवं उसके कार्य से परे है। पुरूष में ज्ञान नियामक जो अर्थाकारता है वह स्थानीय प्रतिबिम्ब मात्र है न कि पुरूष का ज्ञान प्रक्रिया मे साक्षात् संयोग।[3] अतः यह स्पष्ट है कि पुरूष स्वयं प्रमाता नही है किन्तु ज्ञानवृत्ति का अधिष्ठान है। यह अधिष्ठान के कारण मध्यस्थ भी है। मध्यस्थ का तात्पर्य है कि जल में मत्स्य एवं पद्म-पत्र में जल जिस प्रकार निर्लिप्त रहते हैं उसी प्रकार पुरूष भी निर्विकार रहता है। किन्तु निर्विकारता के बाद भी वह सुःख दुःखादि द्वारा विकृत बुद्धि के प्रति संवेदी

---

[1] *सांख्य सूत्र 1/16*

[2] *सांख्य सूत्र 1/161 का सांख्य प्रवचन भाष्य*

[3] *ज्ञाननियामकस्वार्थाकारता स्थानीयः प्रतिबिम्ब रूप एव।*
सांख्य प्रवचन भाष्य। --वही--

भी रहता है। यह प्रतिसंवेद्यता बिना साक्षित्व को स्वीकार किये हुए नहीं हो सकती है।

सांख्य दर्शन में साक्षी का स्वरूप अद्वैत वेदान्त के साक्षी के समान सभी अनुभवों को संभव बनाने वाला है तथा निष्पक्ष द्रष्टा है। इसको सत्-असत्, ज्ञात और अज्ञात सभी कुछ भासित होता है। यह द्रष्टृत्व तीन प्रकार का बताया गया है। यह केवल द्रष्टा है अर्थात ज्ञाता है। प्रवृत्ति का द्रष्टा होने से भोक्ता है और संस्कार का द्रष्टा होने से अधिष्ठाता है। यहां यह प्रश्न अवश्य खड़ा हो सकता है कि यदि पुरूष में भोक्तृत्व है तो वह विकारी होगा, तथा विकार के कारण उसमें मध्यस्थता तथा साक्षित्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी किन्तु सांख्य सिद्धान्त में भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व विशेष मात्र है और यह ज्ञातृत्व त्रैगुणिक न होकर अपरिणामी है।

सांख्य मत में भी अद्वैत वेदान्त की तरह प्रमाता एवं साक्षी दोनों में अंतर है। इसको युक्तिदीपिकाकार इस रूप में स्पष्ट करते है, बुद्धि से प्रतिबिम्बित होकर भासमान पुरूष मणि के समान विषय का बोद्धा होता है। अतः जैसे मनोवृत्ति विषयाकार बनती है वैसे पुरूष भी विषयाकारवत् हो जाता है और पराश्रित सा होकर चैतन्य बुद्धि रूप बन जाता है। इस चित्ताकार चेतना या प्रमातृ चैतन्य का विश्लेषण करने पर चित्त के दो भाग प्राप्त होते है, एक निष्कल चित्त है, तो दूसरा त्रिगुण जड़ है। यही युति जीव है, किन्तु इस जीव को स्वयं अपना बोध पुरूष के साक्षित्व से ही होता है क्योंकि चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ ही साथ प्रमाता चेतना का स्वरूप भी परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् यह घट ज्ञान के समय घटाकार तथा पट ज्ञान के समय पटाकार हो जाता है। अतः आवश्यकता है पुरूष को साक्षी द्रष्टा तथा मध्यस्थ एतं ज्ञानाधिष्ठान के रूप मे स्वीकार किया जाय।

योग-सूत्र -

योग सूत्र एवं भाष्य में मूलतः *"साक्षी"* शब्द पर विचार नहीं हुआ है, परन्तु पुरुष को बुद्धि का प्रतिसंवेदी कहा गया है, यह प्रतिसम्वेदन या विषयाकार वृत्ति का पुरुष में प्रतिबिम्बन ही वृत्तिसारूप्य या साक्षित्व कहा जा सकता है। *तत्ववैशारदी* मे वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि विषयबोध पुरूष में जन्म नही लेता है कि विषयाकार वुद्धि के प्रतिफलन से वृत्ति समानाकारता की प्राप्ति ही पुरूष का प्रतिसंवेदित्व कहा गया है। चित्तवृत्ति ही विषयाकारता प्राप्त करने से संवेदिनी है, जिसका प्रतिसंवेदी पुरूष है। यहां विज्ञानभिक्षु ने *"साक्षी"* का प्रयोग करते हुए कहा है- *"यद्यपि विषयाकारतैव विषयग्रहणं चिन्तस्थले दृष्टम्, पुरुषस्तु कुटस्थो न विषयाकारतां भजते। अतएव कथं पुरुषश्चित्ववृत्तिसाक्षी स्यात् कथं वा अतिविशिष्टः पौरुषेयोबोधइत्यादिशङ्.काजाग्रर्ति तथापि संवेदिन्याबुद्धेः प्रतिसंवेदी तत्समानाकारः पुरूष इति चितेः स्वयमाकाराभावेपि प्रतिबिम्बवशात् वृत्याकारापत्या वृत्तिबोध इति पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी कथ्यते।"*[1]

अर्थात यद्यपि चित्त की विषयकारता ही विषयग्रहण है, कूटस्थ पुरूष जब विषयाकारता नहीं ग्रहण करता, तब वह चित्तवृत्ति का साक्षी नहीं हो सकता और न ही पुरूषीय बोध की व्यवस्था हो सकती है तथापि संवेदिनी बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष बुद्धिसमानाकार हो जाता है। यही पुरूष की प्रतिसंवेदिता या साक्षिता है। यद्यपि चित्त का कोई आकार नही होता तथापि प्रतिबिम्बवश वृत्ति का आकार बन जाता है। यही पुरुष का वृत्तिबोध साक्षित्व का प्रयोजक है। तात्पर्य यह है कि पुरूष चित्त स्वरूप होने से साक्षी नहीं हो सकता, परन्तु चित्त में प्रतिबिम्बित बुद्धि वृत्ति का आभास देने से वह साक्षी बनता है। साक्षित्व दो प्रकार से होता है।

---

[1] *योग वार्तिक 1/7*

1. साक्षी वह है जो करणों की अपेक्षा के बिना साक्षात् भासक हो। अतएव विषयों का भास विषयाकार वृत्ति द्वारा होता है और वृत्ति के भास के लिए अन्य वृत्ति की अपेक्षा नहीं होती है। इसी दृष्टि से वृत्ति को साक्षी भाष्य कहा गया है। पुरूष के चैतन्य से वृत्ति चेतनवत् भासित होती है।

2. निर्विकार द्रष्टा को भी साक्षी कहा जाता है। अतः पुरूष साक्षी है। दोनों में विशेष अतंर स्पष्ट नहीं है क्योकि उभयतः पुरूष ही साक्षी ठहरता है। योगसूत्र के उल्लेख के साथ नागेश ने स्पष्ट किया है कि चित्त की विषयाकार परिणामरूप वृत्ति पुरूष में प्रतिबिम्बित होती है जो पुरूष की विद्यमान वृत्तिग्राहकता हैं । यह प्रतिबिम्ब दर्पणवत् न होकर बुद्धि का परिणाम विशेष है। वृत्ति के सम्बध से पुरूष भी वृत्तिगत विषयाकार का भागी बनता है और वृत्तिपुरूष के सम्बध से चित्तस्वरूप की भागिनी बन जाती है। यह विनिमय स्वाभाविक है, जिस पर शंका नही की जा सकती है। वृत्ति मे प्रतिफलित पुरूष भी पुरूषाकार वृत्ति का अपने में प्रतिबिम्ब भागी होता है। इस प्रकार *"अहम्"* की प्रतीति होती है *"मै अपने को जानता हूं"* तथा *"मै 'मै' का ज्ञाता हूं"* इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं। ये सभी प्रतीति मे साक्षिभाष्य हैं।

योग दर्शन के इस प्रतिपादन मे प्रतिसंवेदी पुरूष का साक्षित्व अनेक रूपों में बनता है। (1) वह वृत्ति को स्वप्रतिबिम्ब से चेतन बनाकर उसका प्रतिबिम्ब अपने में ग्रहण कर अहन्ता एवं ममता की प्रतीति करता है। (2) वृत्ति को भासित कर विषयाकारता के योग्य बनाता है जिससे वृत्ति की साक्षीभास्यता बनती है। (3) विषयाकार वृत्ति का प्रतिबिम्ब लेकर विषय का साक्षात् ज्ञातृत्व प्राप्त कर साक्षी बनता है। वृत्ति के प्रलीन हो जाने पर वह कैवल्य का भागी होता है जो उसकी चितिस्वरूप की अवस्थिति का नाम है

और उस दशा में स्वतः साक्षात् (अपरोक्ष) रूप में प्रतिष्ठा पाकर साक्षित्व से मुक्त हो जाता है।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त –

जो दर्शन पुरूष को चैतन्य का गुण मानते हैं, उनके अनुसार आत्मा का साक्षित्व शाश्वत है। जैसा कि विशिष्टाद्वैत वेदान्त में माना गया है। उदभट् वैष्णववेदान्ती यामुनाचार्य 'अहं' के रूप में साक्षी का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं कि –

'अहं जानामिति ज्ञातृतया सिध्यतः प्रत्यगात्मनो व्यतिरेकेण साक्षिणो नाम प्रकाशमात्रस्यात्मनोनुपलब्धेः। देहेन्द्रियप्राणविज्ञानेभ्यो ज्ञानाश्रयतया विविच्यमाने प्रतीपमन्वतीव निर्भासतानोऽहंभाव एव हि प्रत्यक्त्वं नाम। साक्षित्वमपि तस्य साक्षाज्ज्ञातृत्वम्, न ह्यजानतमसाक्षीत्यपदिश्यते।'[1]

अर्थात "मै जानता हूँ" इस अनुव्यवसाय से प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का ज्ञातृत्व सिद्ध है, किन्तु उससे भिन्न प्रकाश मात्र अर्थात चैतन्यस्वरूप साक्षी आत्मा अनुपलब्ध है। अहं भाव ही प्रत्यगात्मा है, जो देह, इन्द्रिय, प्राण तथा विज्ञान से विपरीत प्रत्यक् है। उसका विपरीत गमन देह, इन्द्रिय, प्राण विज्ञान के प्रतिकूल ज्ञानाश्रयता के कारण है। अतः देहादि से पृथक भासमान 'अहं' ही आत्मा, प्रत्यक्चेतन एवं साक्षी है। साक्षात् ज्ञाता होने से वह साक्षी कहा गया है। ज्ञान की आश्रयता के वर्तमान न होने पर 'साक्षी' संज्ञा नही हो सकती है। यामुनाचार्य का मन्तब्य है कि प्रति शरीर भिन्न जीवात्मा वर्तमान ज्ञानाधिकरण होने पर साक्षी कहा जाता है। एक ही चैतन्य को उपाधि भेद से साक्षी मानना उचित नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ होने से सर्वसाक्षी है।

---

[1] *सिद्धत्रय पृ0 34*

अद्वैत वेदान्ती सुषुप्ति की अवस्था में साक्षी की विद्यमानता स्वीकार करते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैत वेदान्त सुषुप्ति की अवस्था अभावात्मकता की अवस्था है उसमें साक्षी नहीं रहता है। *श्री भाष्य* में रामानुजाचार्य कहते हैं कि अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार सुषुप्ति में आत्मा अज्ञान का साक्षी रहता है, यह मत उचित नहीं है क्योंकि साक्षी के लिए साक्षात ज्ञाता होना आवश्यक है। जो जान नहीं रहा है (जैसा कि सुषुप्ति अवस्था मे होता है) उसका साक्षित्व अनुपपन्न है क्योंकि लोक व्यवहार एवं वेद मत से यही प्रमाणित है कि ज्ञान मात्र साक्षी न होकर ज्ञाता ही साक्षी है। 'मैं जान रहा हूं' इस प्रतीति का वर्तमान आश्रय ही साक्षी है, जो कि "अस्मद" सर्वनाम का अर्थ होता है। यह कैसे संभव है कि साक्षित्व के साथ "अहं" की प्रतीति न हो? इसका तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति में अहं की प्रतीति न होने से आत्मा के रहते हुए भी साक्षी नहीं रहता हैं।[1]

द्वैताद्वैत वेदान्त :-

द्वैताद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक मध्वाचार्य हैं। इस दर्शन में प्रमाता को स्वरूपतः साक्षी मानते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण की व्यवस्था की गई है –

"प्रत्यक्षं सप्तविधं साक्षीः इन्द्रिय भेदेन"।[2]

मध्वाचार्य मानते है कि साक्षी तथा छः इन्द्रियों के भेद से प्रत्यक्ष सात प्रकार का बनता है – साक्षी प्रत्यक्ष तथा चाक्षुष, श्रावण, स्पार्शन, रासन, ध्राणज एवं मानस प्रत्यक्ष। साक्षी सप्तम इन्द्रिय है। इस प्रकार साक्षी के पृथक प्रमाण होने के कारण इन्द्रियों का द्वैविध्य व्यवस्थित है–

---

1 *सुषुप्तावात्मा अज्ञानसाक्षित्वेनास्त इति हि भवदीया प्रक्रिया। साक्षित्वं च साक्षाज्ज्ञातृत्वमेव। न ह्यजानतः साक्षित्वम्। ज्ञातैव हि लोकवेदवोः साक्षीति व्यपदिश्यते, न ज्ञानमानत्रम्। स्मरति च भगवान पाणिनिः साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायामिति साक्षाज्ज्ञातर्येनसाक्षिशब्दम्। स चायं साक्षी जानामीति प्रतीयमानोस्मदर्थ एतेति कुतस्तदानीयहमर्थो न प्रतीयेत।* *श्री भाष्य* 1/1/1

2 *जयतीर्थ द0प्र0 1*

प्रमाता का स्वरूप साक्षी इन्द्रिय है और उससे भिन्न छह इन्द्रियां है। स्वरूप इन्द्रिय ही ज्ञान रूप साक्षी है। साक्षी का आन्तरिक विषय आत्म स्वरूपत्व ही है तथा सुखादि उसके धर्म हैं। उसके बाह्य विषयों में आकाश एवम् कालादि आते हैं। सुखादि को किसी अन्य इन्द्रिय का विषय नहीं माना जा सकता है क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों में कभी प्रत्यक्ष का भ्रम हो सकता है, परन्तु सुखादि के ज्ञान में कभी भी भ्रम नहीं पाया जाता है। कालादि पदार्थ भी साक्षी के ही विषय हैं क्योंकि उनमें रूपादि गुणों के न होने से अन्य इन्द्रिय की विषयता सम्भव नहीं है। मन के इन्द्रिय होते हुए भी बाह्य विषयो से स्वतंत्र न होकर उसमें बाह्येन्द्रियसापेक्षता रहती है। अनुमान से भी कालादि का ज्ञान मान्य नहीं है क्योंकि व्याप्ति ज्ञान से रहित लोगों को भी दिक्कालादि का ज्ञान होता है। उन्हें शब्द प्रमाण का विषय नहीं कहा जा सकता है क्योकि जो जन्म से बहरे हैं वे शाब्द ज्ञान के बिना भी कालादि का प्रत्यक्ष करते हैं।

मध्वाचार्य का मत है कि यदि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की परीक्षा करते चला जाय तो किसी ज्ञान से प्रामाण्य सिद्ध करने में उस पर भी संशय उठ सकता है जिससे प्रामाण्य परीक्षा की अनवस्था फलित होगी परन्तु जब प्रामाण्य को साक्षी से सिद्ध माना जाता है, तब संशय की संभावना नहीं रहती है।[1] अतः एक मात्र निर्दोष साक्षी का स्वीकार अपरिहार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रामाण्य का निश्चय साक्षी से भासित होता है साक्षी आत्मा का स्वरूपेन्द्रिय है और साक्षी असंदिग्ध इन्द्रिय है। इसलिए माध्व वेदान्त में प्रामाण्य स्वतः माना जाता है। साक्षी के सम्बन्ध में जयतीर्थ का मत है कि *'स्वरूपेन्द्रिय साक्षीत्युच्यते। तस्य*

---

[1] *न परीक्षानवस्थास्यात् साक्षिसिद्धेत्वसशयात। वही, उद्धरणे पृ0 124*

विषया आत्मस्वरूपतद् धर्मज्ञानसुखादयो भावरूपाविद्या मनस्तपश्च कालो व्याकृताकाशश्चेव्याद्याः। स च स्वरूप ज्ञानादिकम् व्यनक्ति।[1]

अर्थात् स्वरूपेन्द्रिय, जो आत्मा का ज्ञानमय स्वरूप है, वही साक्षी है। आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप के अन्तर्गत उसके सुखादि गुण जैसे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म एवं संस्कार आते हैं। पुनः साक्षी के विषय के अन्तर्गत मन, तम, काल, व्याकृत (नाम रूप विशिष्ट) आकाश एवं दिक् आते हैं। साक्षी उक्त स्वरूप एवं ज्ञानादि को भासित करता है। अतः ये सब साक्षी भाष्य पदार्थ हैं।

माध्व का मत है कि मन, इन्द्रिय आदि के माध्यम से अन्तःकरण के परिणाम स्वरूप वृत्ति ज्ञान होता है। किन्तु वह वृत्ति ज्ञान अचेतन होने के कारण अपने आस्तित्व को प्रकट नहीं कर पाता है। इसीलिए साक्षी द्वारा प्रकाशित एवं प्रमाणित होता है। वृत्ति ज्ञान का फल प्रमा साक्षीनिष्ठ हैं। अतः वृत्ति ज्ञान एवं साक्षी ज्ञान दो प्रकार के ज्ञान माध्व वेदान्त में मान्य हैं।

इस प्रकार द्वैत वेदान्त में साक्षी आत्मा न होकर उसका ज्ञानमय स्वरूप है, जो इन्द्रिय विशेष है। छह इन्द्रियों से भिन्न उसकी सर्वोपरि प्रतिष्ठा है। स्वतः प्रामाण्य इसी से निर्धारित होता है अतः इस दर्शन में प्रामाण्यवाद की व्यवस्था सभी सिद्धान्तों से भिन्न है। ज्ञान साक्षिभाष्य होकर ही स्वतः प्रमाण बनता है साक्षी के स्वयं प्रकाश होने के कारण प्रमाणान्तर की कोई अपेक्षा नहीं होती है। अतः ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है।

---

[1] *जयतीर्थ द० प्र० भाग पृ० 124*

उपनिषद :–

वेदों में प्रस्फुटित भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति उपनिषदों में हुई है। उपनिषदों के द्रष्टा ऋषि ईश्वरीय चिन्तन मे ही निमग्न थे। उनकी रूचि ज्ञान के सैद्धान्तिक निरूपण मे अधिक नहीं थी, फिर भी बाद में जितने भी सैद्धान्तिक विवेचन हुए हैं उन सबका मूलश्रोत किसी न किसी रूप मे उपनिषदों में उपलब्ध है। 'साक्षी' की अवधारणा भी बाद में विकसित हुई है। उपनिषदों में साक्षी पद का प्रयोग यौगिक पदों के रूप में ही हुआ है। मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्त बिन्दु में उपनिषदों के कुछ अवतरणों के लिए 'साक्षी' पद निर्दिष्ट होना स्वीकार किया है, परन्तु इनमे से किसी भी अवतरण में साक्षी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः ये प्रमाण ब्रह्म के लिए भी हो सकते हैं। उपनिषदों में पाये जाने वाले दूसरे पद जिनका अर्थ स्पष्ट रूप मे साक्षी पद से अभिप्रायित है– प्रज्ञा[1], द्रष्टा या विज्ञाता[2], अर्न्तयामी[3], ईश्वर[4], आत्मज्योति[5] एवं स्वयंज्योति[6]।

साक्षी के स्वरूप के सम्बन्ध में सर्वप्रथम *श्वेताश्वर उपनिषद* तथा *श्वेताश्वर भाष्य* में वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि समस्त प्राणियों में छिपा हुआ, एक, सर्वसाधारण तथा अद्वितीय प्रकाश स्वरूप, सर्वव्यापी, सभी जीवों का अन्तरात्मा, समस्त प्राणियों द्वारा किये जाने वाले विभिन्न कर्मो का अध्यक्ष, अधिष्ठाता अर्थात् कोई कार्य होते समय उसमें संलग्न हुए बिना पृथक् रहकर भी उसको देखने वाला, सभी भूतों सहित

---

1 *मा0का0 1/3/5*
2 *ब्रह्मसूत्र शा0भा0 1/4/7 एवं 3/4/2*
3 *वही 3/7/1*
4 *वही 3/7/23*
5 *वही 4/3/6*
6 *वही 4/3/9*

या उनके समाधिकरण होकर रहने वाला आत्मस्वरूप साक्षी है।[1] इस साक्षी शब्द के साथ ही श्रुति में चेताः, केवलः तथा निर्गुणः ये ब्रह्मबोधक शब्द कहे गये हैं। इससे साक्षी का ब्रह्म से अभेद सूचित होता है।

श्वेताश्वर उपनिषद भाष्य में साक्षी को आत्मस्वरूप सर्वदा सब कुछ का साक्षात् द्रष्टा कहा गया है।[2] *मैत्री उपनिषद* में आदित्य मण्डल में देदीव्यमान् सर्वरूप एवं सर्वप्रभु को साक्षी कहा गया है।[3] *नृसिंहतापिनी* में ब्रह्म को साक्षी कहा गया है– "चक्षुषः साक्षी श्रोतस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी ------ब्रह्मैव।"[4] अर्थात् चक्षु श्रोत, वाक, मन, बुद्धि, प्राण, तप तथा समस्त का साक्षी ब्रह्मम ही है। यहां पर अन्वय तथा व्यतिरेक के माध्यम से बताया गया है कि साक्षी का साक्ष्य सर्वत्र व्याप्त है। जहां चक्षुरादि की सत्ता है, वहां साक्षात्कर्ता साक्षी है क्योंकि उसके बिना चक्षुरादि नहीं हो सकता है।

साक्षी अपरिणामी एवं निर्विकार आत्मा है जो सघांत रूप बुद्धि आदि तत्वों से भिन्न रहते हुए उन सबका द्रष्टा है। इस प्रकार –

'ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भाव तिरोभाव रहितः स्वयं ज्योतिः साक्षी त्युच्यते।[5]

अर्थात ज्ञाता (जीव) ज्ञान तथा ज्ञेय पदार्थो के अविभीव एवं तिरोभाव से रहित तथा स्वयंप्रकाश विशुद्ध आत्मा ही साक्षी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवात्मा ज्ञाता होते हुए भी मुख्य अर्थ मे साक्षी नहीं है क्योंकि अविद्या के कारण जीव का आर्विभाव एवं तिरोभाव होता रहता

---

[1] *एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।*
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलोनिर्गुणश्च ।। श्वे0 उप0 *6/11*

[2] *सवेषां भूतानां साक्षी सर्वद्रष्टा।* श्वे0भा0 *6/11*

[3] *सर्वः कश्चित् प्रभुः साक्षी योमुष्मिन् भाँति मण्डले।* मै0उ0 *6/13*

[4] *नृसिंहतापिनी 2/2/3*

[5] *सर्वोपनिषद् 9*

है। उसका पचंकोशीय तिरोभाव ही जीवत्व का कारण हैं। अपने शुद्ध पुरूष रूप में वह साक्षी है।

वृहदारण्यक उपनिषद का मूल सार *"यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म"*[1] अर्थात जो साक्षात अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्म है, 'वही तुम्हारा आत्मा है' – ही साक्षी अवधारणा का महत्वपूर्ण सूत्र है। ब्रह्म समस्त पदार्थो में व्याप्त मूक तत्व माना गया है । सभी प्राणियों की आत्मा को ही ब्रह्म कहा गया है। साक्षी ब्रह्म स्वरूप है। *साक्षी ही* ब्रह्म है और ब्रह्म ही साक्षी है।[2] देह इन्द्रिय मन बुद्धि और वेदना इत्यादि से परे साक्षी है। परन्तु देह इन्द्रिय आदि में अन्यतम जो आत्मा है, उससे अतिरिक्त कोई साक्षी नही हैं। प्रमाता प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है, अतः देह के समान वह अनात्मा है। उसके अतिरिक्त साक्षी सर्वत्र एक ही है, अतएव वही आत्मा है।[3] वृहदारण्यक उपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि – जिस अधिष्ठान में जो प्रतीत होता है, वह अधिष्ठान के रहने के बावजूद बाद मे प्रतीत न हो, तो व्यभिचारी कहलाता है। जैसे कुण्डलित्वादि। जिस पुरूष में कुण्डल धारण के समय कुण्डलित्व धर्म रहता है, उस पुरूष में कुण्डल निकाल देने की दशा मे कुण्डलित्व धर्म नहीं रहता है। अतः व्यभिचारी होने से कुण्डलित्व पुरूष का स्वरूप नहीं हो सकता है। देह आदि भी प्रत्येक पुरूष में भिन्न भिन्न होने के कारण व्यभिचारी है। अतः वे साक्षी नहीं हो सकते। साक्षी तो अव्यभिचारी है। प्रमाता आदि का भेद होने पर भी साक्षी

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद 4/4/1*

[2] *साक्षी ब्रह्मरूपत्वं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते। वृहदारण्यक उपनिषद 4/3/219*

[3] *आत्मेति च प्रमात्रादेः स्वरूपभिधीयते।*
प्रमात्राद्यागमापायसाक्षित्वात् तत्स्वरूपता।। वृ०उ० *3/4/*

भिन्न भिन्न नहीं हो सकता है। सकल शरीरों में एक ही साक्षी है, वही प्रत्यगात्मा है। सर्वान्तर होने से साक्षी को सर्वात्मा कहा जाता है।[1] सर्वात्मा पद यहां पर साक्षी को स्पष्टतः संकेतित करता है, साथ ही साथ एक ऐसे पद को भी व्यक्त करता है जिसका प्रयोग साक्षी और ब्रह्म दोनो के लिए किया जा सकता है।

मुक्तिकोपनिषद साक्षी की निर्विकारी की संज्ञा देता है।[2] *पैङ्गलोपनिषद* में कहता है कि गुणों की साम्यावस्था एवं अनिर्वचनीय माया मूल प्रकृति है,[3] जिसमें प्रतिबिम्बत चैतन्य साक्षी चैतन्य है साक्षी और साक्षी चैतन्य में भिन्नता यह है कि साक्षी प्रतिबिम्बित स्वरूप नहीं है, बल्कि शुद्ध आत्मा है। परन्तु वही शुद्ध आत्मा जब माया या अविद्या में प्रतिबिम्बित होता है तो वही प्रतिबिम्बित औपाधिक स्वरूप साक्षी चैतन्य है।

शांकर–वेदान्त मे साक्षी का स्वरूप –

अद्वैत वेदान्त में आत्मा के एकत्व निर्विशेषत्व, एवं ज्ञानस्वरूपत्व के साथ–साथ साक्षित्व का भी प्रतिपादन किया गया है। साक्षी चैतन्य स्वयं आत्मा ही है। इसी को आचार्य शंकर ब्रह्म पद से अलंकृत करते है। इसका कारण यह है कि अद्वैत वेदान्त में सभी वेदान्त वाक्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण, निर्विशेष, अखंड ब्रह्म से समन्वय स्थापित करते हैं।

साक्षी से तात्पर्य जीव के अर्न्तयामी उस अधिष्ठान स्वरूप तत्व से है, जो न केवल जीव की सत्ता का आधार है बल्कि जिसके प्रकाश के कारण ही जीव के समस्त कार्य व्यवहार सम्पादित होते हैं। जीव का

---

[1] *बृहदारण्यक उपनिषद 3/4/22*
[2] *साक्षी नाम निर्विकारी नाम। मुक्तिकोपनिषद 1/3*
[3] *गुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बित यत् तत् साक्षी चैतन्यमासीत्। पेड.गलोपनिषद 1/3*

अधिष्ठानभूत तत्व होने के बावजूद जीव से साक्षी विलक्षण है। जीव कर्त्ता, भोक्ता एवं प्रमाता है, जबकि साक्षी न कर्ता, न ही भोक्ता और न ही प्रमाता है। वह शुद्ध द्रष्टा मात्र है। वह चेतना, अंसग, निष्क्रिय एवं निर्गुण है। *उपदेश साहस्री* मे शंकराचार्य कहते है कि 'निष्क्रियता साक्षी आत्मा को ईश्वर से पृथक् करती है। जिस प्रकार चुम्बक अपनी समीपता मात्र से ही लौह खण्ड को अपनी तरफ आकर्षित करके चलायमान कर देता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को भ्रमित कर चलायमान करता हुआ साक्षी आत्मा, केवल साक्षी होने के कारण निष्क्रिय, अकर्त्ता एवं अद्वितीय है।'[1] इस प्रकार जीव इस नाना प्रपंचात्मक जगत में सांसारिक विषय भोगो में संलिप्त रहता है। उसे संसार के प्रपंचों से अत्यधिक लगाव होता है किन्तु साक्षी सर्वथा निर्लिप्त और निस्संग होता है।

साक्षी जीव के विपरीत जगत मे रहकर भी समस्त जागतिक प्रपंचों से सर्वथा असंपृक्त रहता है। वह प्रतिक्षण जीव के ही साथ रहकर, इस जगत को, जगत के समस्त व्यापारों को तथा जीव के समस्त कृत्यों को निरन्तर देखता रहता है। यह साक्षी जीव से भिन्न नही है बल्कि यह उसका प्रत्यग्भूत अन्तरात्मा है। इसी के प्रकाश से उसके समस्त व्यापार संचालित होते है। यह प्रमाता प्रमेय एवं प्रमाण तीनों का प्रकाशक है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में बिना साक्षी के प्रमाणों की कोई व्यवस्था संभव नहीं है और न ही किसी प्रमेय की संभावना बनती है।

आचार्य शंकर ने *शारीरक भाष्य* के आरम्भ में प्रत्यगात्मा को अन्तःकरण की समस्त वृत्तियो का साक्षी तथा सर्वसाक्षी कहा है।[2] इसका तात्पर्य गोबिन्दानन्द ने *रत्नप्रभा* में बताया है कि जिसका प्रत्यकत्व नहीं

---

[1] *राजवत्साक्षिमात्रत्वात्सांनिध्याद्भ्रामको यथा।*
भ्रामयञ्जगदात्माहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः।।
उपदेश साहस्त्री 1/17/80

[2] *ब्र0सू0 शा0भा0 सत्यानन्दी दीपिका प्र0 17*

हुआ है, ऐसी आत्मा साक्षी है।[1] *आचार्य गौडपाद* ने *माण्डूक्य कारिका* में साक्षी शब्द का प्रयोग तो नहीं किया है किन्तु उनकी कारिका का अभिप्राय यही है कि 'सभी कुछ को सर्वदा जानने वाला ईश्वर साक्षी है।'[2]

इस प्रकार शांकर वेदांत में साक्षी की व्यापक विवेचना दृष्टिगत होती है। पारमार्थिक दृष्टि से तत्व एक ही है जो सजातीय, विजातीय, स्वगत भेदों से रहित है, सत्य है, चैतन्य है, आनंद है, निष्क्रिय है, असंगत है, अपनी ही महिमा में स्वयं स्थित है। साक्षी उस परम तत्व का एक रूप है। वह चैतन्य है, ज्ञान है, ज्योति है, इसी रूप को साक्षी कहा जाता है। अद्वैत वेदांत में साक्षी की आवश्यकता होती है क्योंकि साक्षी के द्वारा ज्ञात, अज्ञात, यथार्थ, मिथ्या आदि सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। यही नहीं साक्षी को अज्ञात भी ज्ञात रहता है। अर्थात् प्रमाता को जो अज्ञात है वह भी साक्षी को ज्ञात रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमकों ऐसा लगता है कि वस्तु यहां थी किन्तु उसका ज्ञान हमकों नहीं था, अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति ज्ञान के साथ नहीं होती है, नहीं तो ज्ञान और कल्पना में भेद नहीं रह जायेगा। ज्ञान वस्तुविषयक होता है और कल्पना से वस्तु की सृष्टि होती है। अतः शांकर वेदांत में माना गया है कि जो प्रमाता को अज्ञात है वह भी साक्षी को ज्ञात रहता है। इसी तरह से प्रमाता द्वारा मिथ्या रूप से तिरस्कृत वस्तु भी साक्षी को आभासित होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साक्षी सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ को प्रकाशित करने वाला है। सर्वज्ञ होते हुए भी साक्षी निर्णायक या प्रमाता नहीं है बल्कि निष्पक्ष है और निष्पक्षत्व के कारण ही साक्षी को सत् और मिथ्या, ज्ञात और अज्ञात सभी भासित होते हैं।

---

[1] *रत्न प्रभा पृ0 54*
[2] *माण्डूक्य कारिका 2/12*

रज्जु सर्प दृष्टांत में जैसे साक्षी रज्जु को देखता है, वैसे सर्प को भी देखता है। वह उसके अन्तर को नहीं जानता, लेकिन प्रमाता के साथ ऐसा नहीं है, प्रमाता की एक विशेष दृष्टि होती है, प्रमाता रस्सी सर्प में भेद देखता है, पर साक्षी का कार्य केवल साक्ष्य देखना है। सत्य हो या मिथ्या उसका कार्य केवल देखना है। अज्ञान तथा अज्ञान विनिर्मित सभी वस्तुओं का सामान्य ग्राहक साक्षी है। यह केवल चैतन्य स्वरूप है जो स्वयं प्रकाश है। अज्ञानादि को ग्रहण करने में उसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है। यह साक्षी अपने ग्राह्य प्रमाता आदि से भिन्न है। प्रमाता अहं बोध है जो विभिन्न वृत्तियों में व्याप्त है। चेतना की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं, इन भिन्न-भिन्न वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त करने वाला प्रमाता है। बुद्धि की वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। वृत्तियों के अनुसार प्रमाता का स्वरूप भी बदलता रहता है परन्तु साक्षी इससे भिन्न है। साक्षी इस प्रमाता का भी ज्ञाता है।

शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में साक्षी की अवधारणा –

शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में साक्षी के स्वरूप पर विस्तृत विवेचना *भामती* एवं *विवरण प्रस्थान* के आचार्यों ने की है। *सुरेश्वराचार्य* ने *बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक* में विभिन्न प्रसंगों में साक्षी का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनका मत है कि साक्षी सर्वान्तर्यामी है, जो स्वयं अदृष्ट होता हुआ भी सबका दृष्टा है, अश्रुत होता हुआ भी सब कुछ सुनने वाला है। यद्यपि साक्षी स्वयं अमत है फिर भी वह सबका मंता है। वह घट की भाँति विज्ञात न होता हुआ भी सबका ज्ञाता है।[1]

---

[1] *एष ते आत्मा सर्वान्तरः, सर्वान्तर्यामी अमृतोअदृष्टो दृष्टा,*
अश्रुतः श्रोता, अमतो- मंता, अविज्ञातो-विज्ञाता,
नान्यो अतोऽस्ति दृष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता।

वृहदारण्यक उपनिषद भाष्य वार्तिक

वार्तिककार के विचारों को *सर्वज्ञात्ममुनि* ने *संक्षेप शारीरक* में व्यक्त किया है कि "कूटस्थ, अद्वितीय, दृश्य से भिन्न, अविकारी परमपुरूष (साक्षी) इन्द्रियादि कारणों के बिना ही, इस सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत को साक्षी होने के रूप में देखता है।"[1] पुनः वे कहते हैं कि 'परम् पुरूष (ब्रह्म) या शुद्ध चैतन्य स्वाश्रितामाया से उपहित अपने में ही कल्पित सम्पूर्ण प्रपंच को, प्रपंचाकारा अविद्यावृत्ति में स्थित अपने आभास द्वारा प्रकाशित होता हुआ साक्षी कहलाता है।'[2] यहाँ पर प्रपंच के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि प्रमाता एवं प्रमाण आदि का ग्रहण कौन करता है? जहाँ तक जड़ वस्तुओं का सम्बन्ध है, उनका प्रकाशन तो अवश्य किसी दूसरे के द्वारा होगा। चैतन्य प्रधान वस्तुएं यदि स्वयं अपना ग्रहण करे तो ग्राह्य-ग्राहक एक ही होगा। यदि उनका ग्राहक अन्य को मानें तो उसका भी ग्राहक अन्य को मानना पड़ेगा, इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए साक्षी को स्वीकार कर लेने से सभी समस्याएं समाप्त हो जाती है। अज्ञान और अज्ञान कार्य सभी वस्तुओं का सर्वमान्य ग्राहक साक्षी है। *विद्यारण्य* ने स्वयं स्वीकार किया है कि "संसार में जितनी भी वस्तुएं है, वे सभी ज्ञात भाव से अथवा अज्ञात भाव से केवल साक्षी चैतन्य के विषय है।"[3] इसका तात्पर्य यह है कि साक्षी से भिन्न वस्तुओं की सत्ता ही नहीं है।

भामती[4] में कहा गया है कि उपाधि विशिष्ट चेतन जीव और उपाधि रहित शुद्ध तत्व साक्षी है। साक्षी अन्य प्रमाणों का अविषय केवल उपनिषद् वाक्यों के द्वारा ही प्रतिपादित होता है। साक्षी तत्व को विधि का अंग नही बनाया जा सकता है क्योंकि *"आत्मत्वादेव"* अर्थात् समस्त भोग्य वर्ग

---

[1] *संक्षेप शारीरक 2/29*

[2] *संक्षेप शारीरिक 2/30*

[3] *'सर्ववस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवं'।*
विवरण प्रमेय संग्रह (विजयानगरम् संस्करण) पृ0 17

[4] *तस्योपहितं रूपं जीवः शुद्धं तु रूपं तस्यसाक्षितच्चमानान्तरानाधिगतमुपानिषद्गोचर ।*
भामती 1/1/1

आत्मा के लिए है, आत्मा अन्य किसी के लिए नहीं होता। समस्त प्रपंच आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण वह (साक्षी) किसी के द्वारा न हेय हो सकता है और न उपादेय।

पंचदशी[1] में पुराणों में किए गए साक्षी (कूटस्थ) के विवेचन को दिखाते हुए कहा गया है – 'शिव ही वृत्ति का और उदय से पूर्व उस वृत्ति के प्राग्भाव का साक्षी होकर तथा स्वरूप को जानने की इच्छा होने पर उसका साक्षी और उस जिज्ञासा से पूर्व "मैं अज्ञानी हूँ" इस रूप में अनुभूयमान अज्ञान का साक्षी होकर स्थित है, और यह शिव असत्य जगत् के आलम्बन अर्थात् अधिष्ठान रूप में तो "सत्य", सब पदार्थों का साधक (अवभासक) होने से "चिद्रूप", सदा प्रेम का विषय होने से "आनंद रूप" और सब पदार्थों की अवभासकता के कारण तथा सब का संबंधी होने से "सम्पूर्ण" कहलाता है। इस प्रकार सूतसंहितादि शैव पुराणों में जीव ईश्वर आदि की कल्पना से रहित केवल, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश, चैतन्य रूप शिव नामक कूटस्थ (साक्षी) तत्व का विवेचन किया है।

साक्षी को द्रष्टा कहा गया है। साक्षी के कर्तृत्व से अर्थात् देखने की क्रिया करने के कारण अवश्य ही साक्षी को विकारी होना चाहिए, किन्तु साक्षी को निर्विकार कहा गया है – यह कैसे सम्भव है? यहां कहा जा सकता है कि साक्षी में कर्तापन आरोपित मात्र है, वास्तविक नहीं। जिस प्रकार प्रकाशस्वरूप सूर्य कर्तृत्व की भावना से मुक्त होता है, किन्तु "सूर्य प्रकाशित हो रहा है" या "प्रकाशित कर रहा है" ऐसा कर्तृत्व का आरोपन सूर्य पर किया जाता है, वैसे ही दृश्य स्वरूप साक्षी में दृष्टत्व दर्शन

वृत्तेः साक्षितया वृत्ति प्रागभावस्य च स्थितः। बुभुत्सायांतथाज्ञोस्मीत्याभासज्ञान वस्तुनः।। असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजड़स्य तु।साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः।। आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना। सर्वसंबन्धवत्तवेन संपूर्णः शिव संज्ञितः।। इति शैव पुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः। जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः।। पंचदशी – *8/56-59*

कर्तृत्व आरोपित किया जाता है। वस्तुतः साक्षी कर्तृत्व, भोक्तृत्व से परे उदासीन शुद्ध जाता है। इसलिए साक्षी को कूटस्थ भी कहा जाता है। *न्यायरत्नावली*[1] में कहा है जो कूट, निर्विकार हो वह कूटस्थ ही साक्षी है। साक्षी के कूटस्थ होने से तात्पर्य उसके अपरिणामी होने से है। जैसा कि ब्रह्मानंद सरस्वती ने कहा है– *"स्वसमसत्ताकरूपान्तभापद्यते यः तदन्ययेत्यर्थः"*[2] अर्थात् साक्षी प्रमाता आदि के समान सुखादि रूप परिणाम को प्राप्त नहीं होता इसलिए साक्षी को कूटस्थ कहा जाता है। कूटस्थ होने के साथ सदा एकरस बने रहने के कारण तथा सर्वाधिष्ठान होने के कारण साक्षी सर्वदृश्यभासक भी है।

विद्यारण्य ने *पंचदशी* में साक्षी के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से निर्दिष्ट किया है। कूटस्थ दीप प्रकरण में उन्होंने "देहद्वयाधिष्ठान भूत स्वावच्छेदक स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों के साक्षात् दृष्टा तथा कर्तृत्वादिविकार शून्य कूटस्थ चैतन्य को साक्षी कहा है।"[3] यह कूटस्थ चैतन्य देह, इन्द्रिय, मन आदि से युक्त अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों से युक्त जीवभास – चिदाभास रूप भ्रम का अधिष्ठान है।[4] अतः यह न जीव कोटि में प्रविष्ट है, न ब्रह्म कोटि में वरन् जीव तथा ईश्वर के विभाग का आश्रय न करता हुआ (कूटस्थ ही) चैतन्य मात्र साक्षी है। कूटस्थ दीप में चिदाभास जीव का साक्षित्व न मानकर कूटस्थ को साक्षी माना गया है। कहा है – "सब वृत्तियों की सन्धियों (जब एक वृत्ति नष्ट होकर दूसरी उत्पन्न होने को होती है) तथा अभाव जिस निर्विकार चैतन्य से प्रकाशित (ज्ञात) होते हैं उसको कूटस्थ कहते हैं अर्थात् कूटस्थ का ज्ञान वृत्यभाव के साक्षी के

---

[1] *कूटे कपटे साक्षित्वे यस्तिष्ठति सः कूटस्थः।* न्यायरत्नावली *पृ0 144*

[2] न्यायरत्नावली *पृ0 142*

[3] *देहद्वयाधिष्ठानभूतं कूटस्थ चैतन्यं स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षादीक्षणान्निर्विकात्वाच्च साक्षीत्युच्यते।* सिद्धान्तलेश संग्रह, *प्रथम परिच्छेद पृ0 180*

[4] *देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभास भ्रमस्य या। अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थाऽत्र विवक्षिता।।* पंचदशी *8/48*

साक्षी रूप में ही संभव है।"[1] कूटस्थ को साक्षी मानना कपोल कल्पित नहीं क्योंकि – *"अन्तःकरण तद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा। कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चिता।।"*[2] इत्यादि श्लोकों में पूर्वाचार्यो ने सर्वत्र अनेक प्रकार से कूटस्थ को साक्षी विनिश्चत किया है। कूटस्थ दीप में "स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य को ही साक्षी माना है।"[3]

विद्यारण्य ने पंचदशी[4] में साक्षी के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है– अहंकार रूपकर्ता को, "अहं – इदं" इन दो वृत्ति रूपी क्रिया को (आंतरिक, बाह्य सभी क्रिया), दृक् (अनुभाविता वर्ग) से भिन्न एवं परस्पर विलक्षण समस्त विषयों या दृश्य वर्ग को, नित्य चैतन्य का जो रूप एक साथ प्रकाशित करता है उसी को साक्षी कहा है। यहाँ शंका होती है कि साक्षी कैसे एक साथ सबको प्रकाशित करता है? इसका समाधान *पंचदशी*[5] में किया है कि 'मैं' रूप को देखता हूँ, शब्द को सुनता हूँ, गंध को सूँघता हूँ, रस चखता हूँ, वस्तु को छूता हूँ – इस प्रकार 'मै' दृष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों को एक साथ ऐसे प्रकाशित करता हूँ जैसे नृत्यशाला में रखा दीपक सबको एक साथ प्रकाशित करता है। नृत्यशाला में रखा दीपक नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यों (दर्शक) तथा नर्तकी को भी बिना भेदभाव के प्रकाशित करता है और उनके उपस्थित न रहने पर स्वयं भी प्रकाशित होता रहता है। उसी प्रकार साक्षी अहंकार, बुद्धि तथा सभी

---

[1] *संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः। निर्विकारेण येना सौ कूटस्थ इति चोच्यते।। पंचदशी–8/21*

[2] *------वही------- 8/25*

[3] *कः साक्षी ---------- प्रतिपादितः । सिद्धांत लेश संग्रह पृ0 92, 179*

[4] *कर्तारं च क्रियां तद्वव्यावृत्तविषयानपि। स्फोरयेदेकयत्नेनसोऽसौसाक्ष्यत्र चिद्वपुः।। पंचदशी 10/9*

[5] *ईक्षे श्रृणोमिजिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम्। ....दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते।। अहंकार धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्। अहंकारयभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत्।।* पंचदशी *10/10, 11,12*

विषयों को प्रकाशित करता है, साथ ही वह सुषुप्ति आदि के समय तथा अहंकार आदि के न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है। इस प्रकार साक्षी अहंकार आदि को भी प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित रहता है।

यहाँ शंका होती है कि जब प्रकाश रूपा बुद्धि ही अहंकार आदि को प्रकाशित कर सकती है, तब उससे भिन्न साक्षी की कल्पना क्यों की जाती है? इसका समाधान *पंचदशी*[1] में किया गया है – 'जब कूटस्थ अर्थात् निर्विकार साक्षी ज्ञप्ति अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्य रूप से सदैव भासमान रहता है, तब यह बुद्धि उस साक्षी के स्वरूप चैतन्य से प्रकाशित होकर ही घट – पट आदि अनेक रूपों में विकृत हुआ करती है।' तात्पर्य यह है कि विकारी होने के कारण बुद्धि जड़ है, वह स्वयं स्फूर्ति रहित है अतएव उससे भिन्न जो सर्वावभासक साक्षी है, उसे मानना ही अधिक युक्ति संगत है। *पंचदशी*[1] में कहा है जैसे दीपक अपने स्थान पर रखा हुआ गमन आदि विकार रहित हुआ, अपने समीपस्थ चारों ओर के पदार्थों को प्रकाशित करता है, ऐसे ही स्थिर स्थायी अर्थात् गमनागमन से रहित तीनों कालों में अचल साक्षी भी अपने बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाशित करता है।

श्रुति में बताया गया है कि साक्षी के बाहर एवं भीतर विभाग नहीं होते, तब यह कैसे संभव है कि साक्षी बाहर भीतर सर्वत्र प्रकाशित करता है? देशस्थ विषयों को बाह्य कहा जाता है और जो देह के अंदर है उसे अन्तरिक कहा जाता है। "ये बाह्य और भीतरी विभाग देह की दृष्टि से है साक्षी के नहीं है। इस प्रकार शरीर की दृष्टि से ही विभागों का कथन हुआ है। विषय शरीर के बाहर रहते हैं और अहंकार शरीर के भीतर होता है। "मैं घट को देखता हूँ"- इस वाक्य में प्रथम तो "मैं" भीतरी

---

[1] *निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः। तद्भासा भास्य मानेयं बुद्धिर्न्तत्यत्यनेकधा।*
----वही----10/13

अहंकार के साक्षी रूप में भासित हुआ फिर "घट को देखता हूँ" – इस प्रकार घटाकर वृत्ति के स्फुरण रूप में बाहर जाता प्रतीत होता है। अतः प्रश्न उठता है अविकारी साक्षी बाहर भीतर कैसे प्रकाश कर सकता है? वस्तुतः देह के भीतर स्थित बुद्धि "यह घट है" इत्यादि आकार से रूप आदि ग्रहण (विषय करने के) के लिए चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा बार-बार आती है और उस बुद्धि में जो चंचलता होती है, वह उस बुद्धि के अवभासक साक्षी में वृथा ही आरोपित कर ली जाती है। साक्षी वस्तुतः चंचल अथवा बाहर-भीतर, आने जाने वाला नहीं है। अपने स्थान अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित साक्षी है, उसमें बाह्यागमन या अन्तरागमन संभव नहीं, परन्तु बुद्धि की चंचलता से वह बाहर अन्तरगमन करता प्रतीत होता है। साक्षी न बाह्य होता है और न अन्तर, क्योंकि ये दोनों देश तो बुद्धि के हैं। यह भेद बुद्धि से प्रतीत होता है। बुद्धि और इन्द्रियादि सभी की प्रतीति का शमन हो जाने पर वह साक्षी जहाँ अपने (स्व) स्वरूप से भासित होता है वहीं विद्यमान रहता है।[2] वस्तुतः साक्षी शाश्वत शुद्ध निरपेक्ष चैतन्य है।

वाचस्पति मिश्र ने *भामती* में कहा है कि "अहं प्रत्यय के विषय से अतिरिक्त सभी भूतों में कूटस्थ नित्य पुरुष का जो ज्ञान होता है, वह आत्मा है, वही साक्षी है। अन्य स्थल में भी साक्षी का उल्लेख किया गया है। परमात्मा का शुद्ध रूप साक्षी है अथवा स्थूल और सूक्ष्म शरीर के

---

[1] *-------वही-------10/15*

[2] *बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणी। विषया बाह्यदेशस्यान्तरहंकृतिः।।*
अन्तःस्थायीसहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः। भास्यबुद्धिस्थचांचल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा।।
निज स्थान स्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ। अकुर्वन् बुद्धिचांचाल्यात्करोतीव तथा।।
न बाह्योनान्तरः साक्षीबुद्धैर्देशौहितावुभौ। बुद्धयाधशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः।।
पंचदशी – 10/16–20

अधिष्ठान भूत कूटस्थ चैतन्य को साक्षी कहते हैं।"[1] *अप्पय दीक्षित* ने *सिद्धान्त लेश संग्रह*[2] में साक्षी विषयक अनेक मतों का संग्रह करते हुए कहा है कि– अविद्या से उपहित चैतन्य रूप जीव (समष्टि जीव या एक जीव) ही साक्षात् दृष्टा होने से साक्षी है। उससे अतिरिक्त कोई साक्षी पदार्थ नहीं है। "एकोदेवः" इत्यादि श्रुति में ब्रह्म में जीव भाव की अपेक्षा से ही साक्षित्व कहा गया है और यह जीवभाव अन्तःकरण प्रतिबिम्बित रूप से नहीं वरन् अविद्या में प्रतिबिम्बत रूप से है। *"अनश्नन्न्योऽभिचाषकीति"* अंश, उक्त जीव (अविद्या में प्रतिबिम्बत) रूप साक्षी को ही कहता है।

विवरण प्रमेय संग्रह में सभी वस्तुओं के विषय रूप से साक्षी चैतन्य की कल्पना की है। सभी पदार्थ ज्ञात अथवा अज्ञात होकर साक्षी चैतन्य का विषय बनता है।[3] तात्पर्य यह है कि ज्ञातत्व रूप से विषय प्रमाण व्यवधान की अपेक्षा रखकर साक्षी से सम्बद्ध रहता है। इसी तरह शांकर वेदांत में समस्त पदार्थों के अधिष्ठान रूप से साक्षी चैतन्य की कल्पना की गई है। श्रुतियाँ साक्षी को केवल, निर्गुण, चैतन्य के रूप में व्याख्यायित करती हैं।[4]

साक्षी निर्विकारी एवं प्रकाश स्वरूप माना गया है। "दृष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपिप्रत्ययानुश्यः" – इस योग सूत्र से तथा "सत्यंज्ञानमनन्तम्" इत्यादि श्रुति से साक्षी स्वयंप्रकाशानुभूति स्वरूप माना जाता है। योग सूत्र में मात्र शब्द का प्रयोग ज्ञानत्व आदि धर्मों का निराश करने के लिए आया है।

---

[1] *अहं प्रत्ययविषयों यः कर्ताकार्यकारण। संघातोपहितोजीवात्मातत्साक्षित्वेन परमात्मना।। तस्योपहितरूपं जीवः शुद्धं तुरूपं तस्य साक्षी। तच्चमानान्तरानधिगतमुपनिषद्गोचरः।। ---भामती 1/1/1, 1/1/4*

[2] *केचित्तु – अविद्योपाधिको जीव एव साक्षाद्दृष्ट्त्वात् साक्षी। लोकेऽपि ह्यकर्तृत्वे सति दृष्ट्टत्वं साक्षित्वं प्रसिद्धिम। तच्चासंगोदासीन प्रकाशरूपे जीव एवं साक्षात् सम्भवति, जीवस्यान्तःकरण तादात्म्यापत्त्या कर्तृत्वाधारोप भाक्त्वेऽपि स्वयमुदासीनत्वात्। "एकोदेवः" इति मन्त्रस्तु ब्रह्मणो जीवभावाभिप्रायेण साक्षित्वं प्रतिपादक। --- सिद्धांत लेश संग्रह पृ0 187, 89*

[3] *सर्व वस्तु ज्ञाततया अज्ञातया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव। --- विवरण प्रमेय संग्रह, अध्यास प्रकरण*

[4] *साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च। --- श्वेताश्वेतर उपनिषद् 6/11*

सकल धर्मों से रहित प्रकाश, आनन्द और एकरस स्वरूप साक्षी ही विषयादि का साधक है। यहाँ शंका होती है कि यदि साक्षी को साधक माने तो प्रदीप आदि के समान साक्षी भी विकारी हो जायेगा। यह शंका उचित नहीं है क्योंकि क्रिया का विषय ही विकारी होता है और साक्षी क्रिया का विषय नहीं है[1] एवं उपाधि सन्निधान दशा में तत् तत् उपाधि से विशिष्ट साक्षी उपाधि को देखता है और निरूपाधि होने पर स्वयं भासित होता है। व्यवहार दशा में कल्पित साक्ष्य विषयों के संबंध से साक्षी में साक्षित्व कल्पित ही है, परमार्थ दशा में जब विषय ही नहीं है तो साक्षित्व भी कैसे हो सकता है? अतः कल्पित साक्षित्वादि से वास्तविक कूटस्थत्व (साक्षी) की हानि नहीं हो सकती अर्थात् प्रमाता आदि उपाधि की जब निवृत्ति हो जाती है तब आत्मा चिदेकरस स्वमहिमा से ही सिद्ध होता है। साक्षी ही समस्त चैतन्य और सकल अनात्म पदार्थो का साधक है।

पंचदशी में भी कहा है कि स्वप्नावस्था में साक्षी स्वयंप्रकाश होता है। भान के पीछे सारा प्रपंच भासित होता है और उस साक्षी के प्रकाश से सारा जगत भासता है। "जिस साक्षी चैतन्य रूप आत्मा से समस्त प्राणी, सम्पूर्ण दृश्यमान जगत को जान रहे हैं, उस साक्षी को किस दूसरे साक्ष्य से जाना जा सकता है? दृश्यमात्र के जानने वाले को किस दृश्य साधन से जान सकते हैं? अर्थात् किसी से नहीं। ज्ञान का साधन जो मन है वह ज्ञान के विषय को तो जान सकता है परन्तु ज्ञाता साक्षी को नहीं जान सकता । *श्रुति* में कहा है *"नैव वाचा न मनसा"* न वह (साक्षी) वाणी से और न ही मन से ही जाना जाता है। यदि साक्षी को अपना ही ज्ञेय मानें ते वह स्वयं ही विषय और स्वयं ही ज्ञाता रूप कर्ता होगा। इससे परस्पर विरोध उत्पन होता है। अतएव साक्षी अनुभव का विषय नहीं वह स्वयं

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/3/99*

प्रकाश है।"[1] स्पष्ट है कि साक्षी इन्द्रियजन्य ज्ञान का अविषय होता हुआ भी अपरोक्ष है इसलिए स्वयं प्रकाश रूप है।

वृहदाण्यक उपनिषद् में माना गया है कि जो अज्ञानोपहित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों से रहित है। उसे हम साक्षी कहते हैं। वस्तुतः साक्षी देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि और वेदना से अतिरिक्त है। यहाँ शंका होती है कि प्रमाता को देह आदि से अतिरिक्त कहते हैं, या उससे अन्य को? प्रथम पक्ष के सम्बन्ध में कर्मकाण्ड से यह निश्चय हुआ कि शरीर, इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त आत्मा है और जो स्थूल देह आदि से अतिरिक्त परलोकोक्त आत्मा है, वही साक्षी कहलाता है। यदि उससे अतिरिक्त अन्य (बुद्धि, देह आदि) को प्रमाता कहते हैं तो यहाँ पुनः शंका होती है कि यदि अप्रसिद्ध बुद्धि विषय ही नहीं है फिर उसका प्रतिपादन कैसे हो सकता है? यहाँ कहा जा सकता है कि प्रमाता के भाव अभाव साधकत्व रूप से सामान्यतः प्रसिद्ध साक्षी का विशेषाकार से प्रतिपादन हो सकता है।[2] निरूपाधिस्वरूप आत्मा जो कि क्रिया कारक से रहित स्वभाव वाला है उसके ज्ञान से जीव सप्रयोजक बंध से मुक्त होता है, वही साक्षी है। जो सबके भीतर है अर्थात् अपरिच्छिन्न है एवं "यतः" और "यः" इन दोनों शब्दों से प्रसिद्ध आत्मा है, वही ब्रह्म है, वही साक्षी है।[3] यह सर्वान्तर है एवं जो साक्षात अपरोक्ष, अगौण वृहत्तम और सर्वव्यापक है। स्वयं प्रकाश होने से साक्षात अपरोक्ष है। अतः किसी के द्वारा साक्षी का प्रत्यक्ष नहीं होता।

साक्षी स्वरूप दृष्टि जन्म और नाश की साक्षिणी है इसलिए स्वयं जन्म और नाश से शून्य हैं। जब साक्षी जन्म से पूर्व में रहेगा तब वह जन्म का साक्षी हो सकता है, अन्यथा नहीं । यदि साक्षी अपने जन्म से

---

[1] *येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम्।*
विज्ञातारं केन विद्याच्छ्क्तं वेद्ये तु साधनम्।। पंचदशी 3/17

[2] *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/1*

[3] *------वही------3/4/3*

पूर्व मे रहेगा तो साक्षी का जन्म कहना व्याहत है और यदि बाद में (उत्तरकाल) साक्षी कहा जाय तो भी वह जन्म का साक्षी नही कहा जा सकता। वह स्वनाश का भी साक्षी नहीं हो सकता क्योंकि जब नाश के बाद साक्षी ही नही तो स्वनाश का साक्षी कैसे हो सकता है? फिर असाक्षिक जन्म और नाश में प्रमाण नही हैं। जन्म और नाश से रहित साक्षी स्वतः सिद्ध है और साक्षी रूपादृष्टि नित्य है।[1]

साक्षी के सम्बन्ध में श्रुति भी में कहा है- "न दृर्ष्टेदृष्टारम्" इससे स्पष्ट होता है कि जो इस चक्षु को देखता है, चक्षु से जिसको कोई नही देख सकता वही साक्षी है। "नश्रुतेःश्रोतारश्रृणुया न" श्रुति से स्पष्ट है कि श्रुति के श्रोता को कोई नही सुन सकता, मति के मन्ता को कोई नही जान सकता, विज्ञाता को कोई नही जान सकता, वही तुम्हारा (आत्मा) साक्षी है। जो सब विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है परन्तु स्वयं ज्ञान का विषय नही होता है फिर भी परोक्ष में वरन् स्वप्रकाश होने से अति अपरोक्ष है वही सर्वान्तर साक्षी है।[2] यद्यपि साक्षी को सर्वान्तर होने से सर्वात्मा कहा जाता है तथापि शंका होती है कि यदि साक्षी सर्वान्तर है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह सर्वान्वयी है। यदि संपूर्ण पदार्थो की सत्ता न मानी जाय तो साक्षी को सर्वान्तर नहीं कह सकेंगे और ऐसा मानने पर संपूर्ण पदार्थों की सत्ता सिद्ध होने पर द्वैत की आपत्ति उत्पन्न हो जायेगी । यहां पर सब का अन्वय साक्षी में है अथवा साक्षी का अन्वय सब में, इस प्रकार दो अर्थ नहीं माने जाते हैं। अतः साक्षी सर्वान्तर अर्थात सबका अधिष्ठान माना गया है और यही अर्थ विवक्षित है।

---

1 *जन्मनाशादिसाक्षित्वाज्जन्मनाशादिवर्जिता।*
साक्षिदृष्टिरियं नित्या मोहजन्या तथेतरा।।
वृहदारण्यक उपनिषद्--3/4/75

2 *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/82,83,88*

ऐसा मानने पर द्वैत की आपत्ति नहीं सिद्ध हो सकती। अतः सबका अधिष्ठान होने से साक्षी को सर्वान्तर कहा गया हैं।

साक्षी प्रमाण का अविषय है। घटादि वस्तुऐं प्रमाणों का विषय है इसलिए उनका प्रत्यक्ष विषयत्वरूप से निर्देश किया जाता है किंतु साक्षी अविषय स्वभाव है इसलिए उसका विषयत्वरूप से निर्देश करना सर्वथा अशक्य है। दृष्टा, दर्शन और दृश्य इन सबका साक्षी स्वयं प्रकाश है, जो प्रमाणान्तर का अविषय है और यही साक्षी का स्वभाव है जो कभी नही बदलता। साक्षी प्रत्यग दृष्टि उत्पत्ति और विनाश शून्य है।

साक्षी अविनाशी हैं। इस कथन में साक्षी का सोपाधिक जीव से भिन्न कूटस्थ रूप दिखाया गया है। *"मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति"* अर्थात मात्रा देहादि विषय का संसर्ग कभी नहीं हो पाता, इस श्रुति से साक्षी की असंगता का वर्णन किया गया है। साक्षी की असंगता ही उसके अविनाशी होने का हेतु है। साक्षी बाधरहित भी है। "बाधरहित ही सत्यता है"। सत्य वही है जिसका कभी बाध न हो । जो इस जगत के बाध का एकमात्र साक्षी है उसके बाध का साक्षी कौन हो सकता है? अर्थात् कोई नही। अभिप्राय है कि सुषुप्ति, मूर्छा और समाधि अवस्था में जड़, स्थूल, सूक्ष्म देहादि रूप यह जगत नहीं रहता तब उसके अभाव को जानने वाला साक्षी ही है । इस साक्षी के न रहने का कौन साक्षी है? अर्थात कोई भी नहीं। अतः साक्षी अबाध है क्योंकि साक्षीरहित बाध तो नहीं माना जा सकता। जैसे घर आदि में रखे आकारवान पदार्थो को घर से निकाल देने पर भी निकालने के अयोग्य अमूर्त आकाश ही शेष रह जाता है, इसी प्रकार साक्षी से भिन्न सब बाध्य योग्य,मूर्तामूर्त, देह-इन्द्रिय आदि का *"यह भी नहीं है"* (नेति-नेति) इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अंत मे सब अनात्म पदार्थो के बाध का साक्षी जो बोध मात्र रह जाता है वही बाधरहित साक्षी चैतन्य है। साक्षी चैतन्य अबाध है इसलिए *"यह*

आत्मा यह नहीं है" यह श्रुति अनात्म पदार्थो का निराकरण करते करते बाधयोग्य सब अनात्म पदार्थों का निषेधकर निराकरण के अयोग्य इस प्रत्यक् स्वरूप साक्षी को शेष रख लेती है।"[1]

शंकराचार्य *तैत्तिरीयउपनिषद्भाष्य* में कहते हैं- "जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, अनुभूति का विषय बनता है, यदि वह उस रूप को कभी न त्यागे, उसका वह रूप कभी अन्यथा न हो, व्यभिचरित न हो तो वह पदार्थ सत्य कहलाता है।"[2] और साक्षी का स्वरूप ऐसा ही है। "जो भी अभिव्यक्त व प्रकाशित होता है वह अपने कारण की सत्ता के बल से ही प्रकाशित होता है। जो नहीं है उसका ज्ञान नहीं होता, जैसे बन्ध्यापुत्र कभी नहीं जाना जाता। प्रकट होने के लिए सत्ता अवश्य अपेक्षित है अतः साक्षी की सत्ता अवश्य है, जो स्वयं है प्रकाशवान है।"[3]

साक्षी ही अपने उपाधि स्वरूप से निखिल व्यवहार का साक्षी होने से द्रष्टा है। स्वतः वह निर्विकार तथा सम्पूर्ण ससांर धर्मों से रहित चैतन्य मात्र तथा अद्वितीय परमानंद स्वरूप है। उदाहरणार्थ "जैसे आकाश में स्थित सूर्य सर्वसाधारण है पर प्रत्येक पुरूष यह समझता है कि सूर्य ठीक मेरे ही सामने है दूसरे के नहीं । यह ज्ञान वास्तविक नहीं है, पर अत्यन्त दूर स्थित दो व्यक्तियो का यह समझना कि मेरे सम्मुख सूर्य है, अनुचित नहीं है क्योंकि सूर्य मण्डल महान होने से उन दोनों के सम्मुख अवश्य है किन्तु यह मानना कि सूर्य केवल मेरे सम्मुख स्थित है दूसरे के नहीं,

---

[1] *सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः। बाधः किं साक्षिकोब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते।।*
उपनीतेषु मूर्तेषु ह्यामूर्त शिष्यते वियत्। शक्येषु बाधितेषवन्ते शिष्यते यत्त्देवतत्।।
अतएव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वाशेषयत्यदः। स एष नेतिनेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरुपतः।।
---पंचदशी 3/29,30,32

[2] *यद्रूरूपेण यन्निश्चितंतद्रूपं न व्यभिचरिततत्सत्यम्।*
यद्रूपेणनिश्चितंयत्तद्रूपंव्यभिचरदनृतमित्युच्यते अतो विकारोऽनृतम्। अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्मं विकारान्निवर्तयति।। --तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य, पृ0 103-4

[3] *सत्वपूर्वमिदं कार्य तमोऽन्तस्थ घटादिवत। तस्याभिव्यक्तिधर्मत्वादन्यथा स्यान्नृश्रृंगवत्।।*
---वृहदारण्यक उपनिषद् 1/2/74

भ्रम ही है। इसका कारण सूर्य मण्डल के अल्प परिमाण का प्रत्यक्ष होना है। यदि यह स्थिति स्पष्ट हो जाय कि सूर्य मण्डल का वास्तविक परिमाण पृथ्वी के परिमाण से अधिक है तो उक्त समस्या का समाधान हो जायेगा साथ ही भी प्रमाणिक रूप से निश्चित हो जायेगा कि सूर्य केवल मेरे नही वरन् सबके सम्मुख रहता है। वैसे ही एक अन्तर्यामी साक्षी स्व अविद्या से उत्पन्न बुद्धि आदि उपाधि के द्वारा अनेक प्रकार का और भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। इस भ्रांति की निवृत्ति के लिए श्रुतियां, वेदांतशास्त्र है जो इस सिद्धान्त का हृदयंगम करते हैं उनका भ्रम सदा के लिये हट जाता है और एक चैतन्य रूप साक्षी का दर्शन होता है।[1]

यदि साक्षी को द्रष्टा माना जाय, तो दृश्य विषय का ज्ञानवान ही द्रष्टा कहा जाता है और ज्ञानवान मानने से साक्षी भी विकारवान हो जायेगा, यह गलत है। साक्षी को द्रष्टा इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह दृष्टि, श्रुति आदि का भी द्रष्टा है। द्रष्टा का जो रूप आदि का ज्ञान होता है उसका अन्तर्यामी साक्षी ही है। वही वृत्ति आदि के उत्पाद और विनाश का भी साक्षी है। यह ज्ञान उत्पन्न हुआ, यह ज्ञान नष्ट हुआ इत्यादि का जो आत्मा में भान होता है उसका ज्ञाता साक्षी है। वही सबका अर्न्तयामी है, नित्यात्म दृष्टि स्वरूप हैं। अतः उससे विकार नहीं हो सकता। अविकारी होने से वह न किसी का कार्य हो सकता है और न किसी का कारण हो सकता है। वह कार्य कारण से परे विशुद्ध चैतन्य मात्र है।

साक्षी ही सबका प्रकाशक है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनों का प्रकाशक चैतन्य ही है, वह चैतन्य साक्षी कहलाता है, इसमें क्या प्रमाण है? यहाँ पर छन्दोग्य श्रुति ही प्रमाण है। *'अहं गंधम् जिघ्राणि'* (मै गंध को सूंघता हूँ) ऐसा जो जानता है, विषय (गंध), उसका ग्रहण और अहं से

---

[1] *साधारणो यथा सूर्यो मां प्रत्येवैति पामरैः । असाधारणरूपेण भाव्यते जीवता तथा।।*
---वही---3/4/31

प्राप्त उसका कर्ता पुरूष इन तीनों को जो जानता है, *छान्दोग्य उपनिषद* में उसे साक्षी कहते है। साक्षी कूटस्थ एवं नित्य शुद्ध होने से अहं क्रिया का जब कर्ता ही नहीं है तब उससे भासकत्व से प्रमाण कैसे माने? उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है कि दीप्ति का कर्ता सूर्य नहीं है किन्तु दीप्तियात्मक स्वभाव वाला है। कर्ता स्वभाव का धर्मी होता है क्योकि कर्तृत्व आने से पहले वह उक्त स्वभाव से रहित हो जाता है। अतः सूर्य दीप्ति कर्ता न होने पर भी जगत का भासक है। ऐसा ही अविकारी साक्षी दृष्टा, दृश्य और दर्शन तीनों का भासक है, इसमें कोई बाधा नहीं है।[1]

इसी प्रकार साक्षी कूटस्थ होने से दर्शन क्रिया का कर्ता नहीं है फिर भी अकर्ता साक्षी में कर्तृत्व का आरोप कर उसे कर्ता कहा जाता है। "जैसे "आकाशोऽस्ति" यहाँ "अस्ति" क्रिया का कर्ता आकाश नहीं है फिर भी उसमें कतृत्व के आरोप से "आकाशोऽस्ति" यह प्रयोग होता है। जैसे अग्नि में दाह शक्ति है, वैसे ही चैतन्य साक्षी में कतृत्व शक्ति है। अग्नि में दाह शक्ति यावदग्नि भावी है अर्थात् जब तक अग्नि रहती है तब तक दाहक शक्ति रहती है। अग्नि रहने पर दाहक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार साक्षी में दृक शक्ति यावदात्मभावी है, अर्थात् जब तक साक्षी रहेगा, तब तक उसकी दृष्ट शक्ति रहेगी। स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति आदि में साक्षी है अतः दृष्ट्त्व शक्ति भी है। साक्षी में दृष्टि का लोप नहीं होता। जैसा कि श्रुति कहती है- *'न हि द्रष्टुर्दृष्टे-र्विपरिलोपोविद्यते।'*[2]

---

[1] *जिघ्राणीममह गन्धमिति योवेत्ति तत्रयम्। स आत्मेति त्रयस्याऽस्यछन्दोगा साक्षिणं जगुः।। अक्रियाकर्त्तुरप्यस्ति भासकत्वं चिदात्मनः। अदीप्तिकर्त्ताऽप्यादित्यो जगद्दीपयते यथा।। ---वृहदारण्यक उपनिषद 4/3/308,311*

[2] *चिल्लोपाभावातः साक्षी पश्यन्नेवेत्युदीर्यते। अकर्तर्यपि कर्तृत्वारोपेणैतदुदीरणम्।। भर्तृप्रपंचस्त्वाहाऽस्ति वस्तुतः कर्तृताऽऽत्मनि। दाहशक्तिर्यथा वह्नेः कर्तृशक्तिस्तथा चिति।। --वही--4/3/331,332*

सुरेश्वरचार्य ने बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक में साक्षी के स्वरूप के अनेक पक्षों का निरूपण किया है। कूटस्थ असंग आत्मा अज्ञानोपहित रूप से साक्षी पद वाच्य होता है। केवल अज्ञान से उपहित आत्मा ही साक्षी है अर्थात् विशुद्ध आत्मा में साक्षित्व अज्ञानकृत ही होता है। इसी का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वार्तिककार का मत है कि यद्यपि कूटस्थ परब्रह्मम में साक्षित्व असंगत है क्योकिं इसे द्वितीय संगति की नियत अपेक्षा है और संसारी आत्मा (जीव) भी साक्षी नहीं हो सकता ,क्योंकि वह परिणामी है। वह कर्ता तथा भोक्ता है। उसकी अपेक्षा ब्रह्म में ही कूटस्थ होने के नाते, उत्पत्ति विनाशशील जड़ वर्ग में व्याप्त चेतन वर्ग के प्रति साक्षित्व का भान होता है। किन्तु वह (साक्षित्व) अविद्या ही है।[1] अविद्या में कुछ भी अनुपपन्न नही है। परमतत्व अपने अज्ञान में स्थित अपने आभास द्वारा ही द्रष्टा, दर्शन, दृश्य का साक्षी है क्योंकि स्वतः उसका साक्ष्य अर्थो से कोई सम्बंध नहीं है साक्ष्य स्वतः उसका साक्ष्य पदार्थो से सम्बंध नहीं है और साक्ष्य पदार्थो की उपस्थिति भी अज्ञानकृत ही है उसके बिना सक्षित्व का कोई अर्थ नहीं है।[2]

साक्षी जीव से विलक्षण है क्योंकि साक्षी आत्मा है। जीव पदार्थ में जड़ मिश्रित चैतन्यता रहती है, इसी कारण वह ज्ञाता, कर्ता एवं भोक्ता होता है। कर्ता होने से विकार उत्पन्न हो जाता है, इसीलिए साक्षी तटस्थ है। साक्षी चिन्मात्र स्वरूप है, कूटस्थ है, जीव साक्षी के प्रति साक्ष्य ही है। ज्ञानादि के कर्ता से युक्त प्रमाता को जो सक्रिय हुआ जानता है, वही इस प्रमातृत्व के होने का साक्षी है। वह 'पर-आत्मा' ही है। यह श्रुति सिद्ध है।[3] इस 'पर-आत्मा' शब्द का अर्थ ब्रह्म भी हो सकता है क्योंकि

---

[1] *अज्ञानमात्रोपाधित्वाद् --- साक्षित्वभागमापायिनं प्रति। वृ0भा0वा0 9/4/*

[2] *कूटस्थदृष्टेः साक्षित्वं जडस्येव न युज्यते। कार्यकारण सम्बन्धे चिदाभासस्य सड्.गते।*

[3] *जिघ्राणीममहं गन्धमिति यो वेल्यविक्रियः। तद्भावाभावसाक्ष्यात्मा ह्येतच्च श्रुतिमस्तके।। वृ0भा0वा0 1/4/616*

साक्षी को कूटस्थ, विशुद्ध, चिन्मात्र कहा गया है। दूसरे अर्थ में ईश्वर भी हो सकता है, क्योंकि यह भी कहा गया कि द्रष्टा-श्रोता आदि के रूप क्षेत्रज्ञ बुद्धि उपाधि वाला है और उसका साक्षी ईश्वर है, जो बुद्धि कारण (अज्ञान) रूप से उपाधि वाला है।[1]

वार्तिककार का मत है कि चैतन्य का आभास ही देह, मन, इन्द्रिय आदि आगमापायी वर्ग के साक्षी रूप में तथा प्रत्यक् रूप से क्षणभड.गुरो में कूटस्थ, अनेक जड़ो में एक, चेतन संहतो में असंहत, आत्मा रूप से आभासित होता है।[2]

साक्षी पदार्थ के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि सभी कुछ भाव, अभाव प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता, नाम रूप आदि से अभिव्यक्त होने वाला, यह सम्पूर्ण जगत साक्षी का साक्ष्य होते हुए ही सिद्ध है, क्योंकि समस्त साक्ष्य स्वतः स्फूर्तिहीन है। सदैव समान रूप से स्फुरित होते रहने वाला सत्य अध्यक्ष ही इन सबके पृथक-पृथक स्फुरण का आधार है।[3] वह चिदात्मा है, उसे फिर अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य साक्षी की अपेक्षा नहीं है, उसका साक्षित्व स्वतः सिद्ध है। आविद्यक सभी कुछ जो अपने से भिन्न किसी प्रकाश द्वारा प्रकाशक है, वैसे द्रष्टा भी है।[4] सामान्य रूप से पंच ज्ञानेन्द्रियों आदि के द्वारा हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह लौकिक ज्ञान जो प्रमेय व प्रमाता आदि को विषय बनाता है, वह साक्षी को विषय नहीं

---

[1] *दृष्टश्रोतादि रूपश्च यश्च द्रष्टादिसाक्ष्यापि। बुद्धितत्कारणोपाधि क्षेत्रज्ञेश्वर संज्ञको।।*
बृ0भा0वा0 1/4/614

[2] *प्रत्यकतया यदाभाति ह्यागमापायिसाक्षितः। देहेन्द्रियेमनोधीष चैतन्याभास स्पकम।।*
जडेस्वेकमनेकेषु कूटस्थं क्षणभडि.गषु अनात्मसु तथा चात्मा सह

[3] *यतोऽसिद्धानि सिद्ध्यन्ति भावाभावो यदाश्रयो।*
योऽनन्यार्थो यदर्थ च सर्व योऽनन्थदृक् सदा।।
प्रमेयादियं यस्मात् परस्पर विलक्षणम्। आत्मानं लभते सत्य
सोऽध्यक्षोऽत्राभ्युपेयताम्।।

[4] *नामरूपाद्यभिव्यक्तं प्राख्यक्तापह्नवेडव्यभूत्।*
अव्यक्ताध्यक्ष एकाकी व्यक्तमत्साक्षिकं जगत्।।
बृ0भा0वा09/4/520

बना सकता है, क्योंकि साक्षी सभी पदार्थो से विलक्षण है। साक्षी जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। जागरण की अवस्था में साक्षी का अनुभव अधिक स्पष्ट होता है, किन्तु स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था में साक्षी की उपस्थिति इस बात से सिद्ध हो जाती है कि बाद में स्वप्न एवं सुषुप्ति का ज्ञान स्मृति के द्वारा होता है। स्वप्न की दशा में अनुभव प्राप्त होता है क्योंकि वहाँ पर विषयों का अभाव रहता है। जाग्रत अवस्था में प्रमाता प्रमाण आदि के अवभासक रूप में ही वह अनुभवगम्य है। सुषुप्ति में प्रमाता प्रमेय एवं प्रमाण त्रिक् का अभाव रहता है। किन्तु बाद में यह स्मृति रहती है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया'। अतः साक्षी कार्य प्रत्यक्षादि करवाना नही है, किन्तु साक्षी की स्थिति अवश्य बनी रहती है। *'दृष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता है'* यह श्रुति वाक्य स्पष्ट करता है कि जहाँ द्रष्टा–दृष्टि आदि की अवस्थिति है, वहाँ तक प्रत्यागात्मा में उसका साक्षित्व रहता है।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि ने *संक्षेप शारीरक* में कहा है कि अज्ञान विनिर्मित इस समस्त प्रपंच को कूटस्थ, अद्वितीय, दृश्य से भिन्न, अविकारी परमपुरूष (ब्रह्म) इन्द्रियादि कारणों के बिना ही, सबका साक्षी होकर सबको देखता है।[2] इस प्रकार इस जगत में प्रमाता एवं प्रमाण आदि को ग्रहण करने वाला कौन है? विभिन्न जड़ पदार्थो के सम्बन्ध में यह निश्चित है कि वे किसी अन्य द्वारा प्रकाशित होते है क्योंकि जड़ पदार्थो में स्वतः प्रकाशन की क्षमता नही होती है। चैतन्य प्रधान तत्वों के सम्बन्ध में यदि यह माना जाय कि उनका ग्रहण, उन्हीं के द्वारा यह स्वंय हो जाता है तो ग्राह्य–ग्राहक की एकाकारता हो जायेगी और यदि उनका ग्राहक किसी अन्य को मान लें तो अन्य का ग्राहक भी किसी अन्य तृतीय को मानना होगा

---

[1] *वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 1085–86*

[2] *तमसा विनिर्मितमिदं सकलं चतुरः स पश्यति परः पुरुषः।*
अविकारिबोधवपुरद्वयक कारणैर्विना सकलसाक्षितया।। संक्षेप शारीरक 2/29

इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। अतः इस जगत में सभी वस्तुओं का सामान्य ग्राहक साक्षी ही है, वह केवल चैतन्यस्वरूप है, स्वयंप्रकाश है तथा अज्ञानादि को ग्रहण करने में उसे किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं है। यह साक्षी प्रमाता आदि से भिन्न है। *सर्वज्ञात्मा* ने कहा है कि परपुरूष अर्थात् ब्रह्म या शुद्ध चैतन्य स्वाश्रिता माया से उपहित होकर अपने में ही कल्पित निखिल प्रंपच को, प्रपंचकारा अविद्यावृत्ति में स्थित अपने आभास द्वारा प्रकाशित करता हुआ साक्षी कहलाता हैं।[1]

चित्सुखाचार्य ने *तत्वप्रदीपिका* में साक्षी की सिद्धि व स्वरूप निरूपण तार्किक रीति से किया है। इस जगत में विद्यमान समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपंचात्मक पदार्थो का द्रष्टा साक्षी है। साथ ही साथ चित्सुखाचार्य ने सूक्ष्म अनुभव वाले विषयों जैसे सुख, दुःख, इच्छा तथा स्थूल अनुभव वाले विषयों के ग्रहण करने वाले ग्राहक के रूप में तथा प्रत्येक जीव के साथ रहने वाले सर्वदा जागरूक द्रष्टा के रूप में साक्षी का निरूपण किया है।

यह साक्षी अविद्याविशिष्ट[2] नही है। यदि यह अविद्याविशिष्ट होता तो अविद्या इसे कर्म,कर्त्ता, भोक्ता की कोटि में पहुचा देती । चिद्रूप आत्मा ही साक्ष्य पदार्थो के सम्बंध में साक्षी कहलाता है। सुषुप्ति की दशा में ''यदि वह कुछ नही देखता है तो वह देखता हुआ भी नहीं देखता है क्योकि वहां पर इसे अपने आप से अतिरिक्त कुछ भी देखने योग्य नहीं है, जिसको वह देखे" इत्यादि श्रुति वाक्य भी साक्षी के इसी स्वरूप को बताते हैं।

---

[1] *निजमायया परिगत पुरुष परतन्त्रया तु निजया अभया।*
परिकल्पितं सकलमाकलयन स हि साक्षितामपगतो भवति।। स0शा02/30

[2] *न चाविद्याविशिष्टः साक्षी, येन कर्तृकोटिनिविष्टया अविद्यायाः कर्तृत्वं स्यात्, चिद्रूपस्यैवात्मनः साक्ष्यसंबन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात् 'यद्वैतन्न पश्चति पश्यन् वै तन्न पश्यति' इत्यादि श्रुतेः।*

चित्सुखाचार्य के मतानुसार सबका प्रत्यग्भूत विशुद्ध ब्रह्म ही जीवतादात्म्यापन्न रूप से साक्षी पदार्थ है, परन्तु जीव भेद का तादात्म्य उसमें नहीं है। पृथक-पृथक आधारों में एक ही समय में लौकिक सुख दुःखादि साक्ष्य पदार्थ जैसे हर्ष, शोक, इच्छा द्वेष तथा उनके पृथक् पृथक् अनुभव साक्षी के भेद के साधक नहीं है क्योंकि ये साक्षी के धर्म नहीं है। प्रमा व उसके करण के सन्निधान के बिना ही सुषुप्ति में अज्ञानानुभाव का साधक होने से साक्षी प्रमाता के अर्न्तगत भी नहीं है। अतः साक्षात् चिन्मात्र आत्मा होने के बावजूद भी साक्षीभाव जीवभाव के अन्तर्गत है। शुद्ध ब्रह्म ही सभी जीवों के प्रति एक समान रूप से तादात्म्यापन्न रूप से साक्षी पद का अर्थ स्पष्ट करता है। इसी कारण से साक्षी लौकिक व्यवहार का अंग बन जाता है।[1]

धर्मराजाध्वरिन्द्र ने प्रत्यक्ष परिच्छेद में जीव साक्षी एवं ईश्वर साक्षी को प्रत्यक्ष के भेद के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि न्याय दर्शन में भी जीव एवं ईश्वर को होने वाले प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के अलग-अलग लक्षण किये गये है। गौतम सूत्र में जीव को होने वाले प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का लक्षण है- *''इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं अव्यपदेश्यं अव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्''* एवं ईश्वर को होने वाले प्रत्यक्ष का लक्षण है-''ज्ञानाकरणकं प्रत्यक्षम्।'' ईश्वर के सम्बन्ध में यदि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष कहा जाय तो इन्द्रियों के अभाव में ईश्वर को होने वाला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नही हो सकता इसलिए 'ज्ञानाकरणकं प्रत्यक्षं' की आवश्यकता पड़ी । वेदान्त परिभाषा में प्रत्यक्ष के दो भेद है-

1. जीव साक्षी   2. ईश्वर साक्षी

अन्तःकरण जब चैतन्य का विशेषण रहता है, तब चैतन्य जीव कहलाता है और अन्तःकरण चैतन्य की उपाधि रहता है, तब जीव का

---

[1] *तस्मात् सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्ममात्रं जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यते।* त0प्र0 *589*

साक्षित्व प्राप्त होता है। अर्थात अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है और अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीव का साक्षी है।[1] इसी प्रकार माया को विशेषण रूप से स्वीकार करने पर वह चैतन्य ईश्वर होता है एवं माया को उपाधि स्वीकार करने पर मायोपाधिक ईश्वर साक्षी होता है । यहां एक प्रश्न उठता है कि जीव साक्षी एवं ईश्वर साक्षी के विषय में प्रमाण क्या है? क्योंकि जीव साक्षी का जब तक कोई प्रमाता या प्रमाण न हो तब तक केवल लक्षण मात्र से सिद्धि नहीं होगी । यद्यपि साक्षी को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि उसे प्रत्यक्ष सिद्ध माना जाये तो उसके विषय में वादी एवं प्रतिपादी का विवाद नहीं उपस्थित होगा। यदि यह कहा जाय कि विषय का अवभासक कोई नहीं है, तो जगदान्ध प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतएव साक्षी को स्वीकार करना ही उपयुक्त है। परन्तु प्रमाण चैतन्य विषया व भासक होता है, चक्षु आदि इन्द्रियाँ इसके करण हैं, प्रमाता अर्थात अन्तःकरणवच्छिन्न चैतन्य उसका आश्रय है। अतः इसके अतिरिक्त किसी विषयावभासक के न होने से साक्षी की सिद्धि नहीं होती है। किन्तु यह कहना भी उचित नहीं लगता है क्योंकि यदि जीव साक्षी को स्वीकार न करे तो विषयानुसंधान नहीं हो सकेगा। यह अनुभव में देखा जाता है कि चक्षुरादि इन्द्रियकरण तथा तज्जन्य ज्ञानो के नाना होने से अनुगततया सभी विषयो का अनुसंधान नही बन सकेगा। यदि यहां यह कहा जाय कि प्रमाता तो सभी ज्ञानो में है ही उसी से सभी विषयों का अनुगतत्व मान लिया जायेगा। यह भी उचित नहीं है क्योंकि प्रमाता के अनुगत होने पर भी अपने अनुसंधान के लिए उसे दूसरे की अपेक्षा करनी होगी । साक्षी तो ब्रह्म से अभिन्न होता है। अतः स्वप्रकाश होने के कारण निरपेक्ष होकर ही स्व एवं पर विषयों का अनुसंधान कर सकता है।

---

[1] *तत्र जीवो नामान्तः करणावच्छिन्नं चैतन्यम्। तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितं चैतन्यम्।*

इस विवेचना के अन्त में यही कहा जा सकता है कि अनुसंधानानुपत्ति ही साक्षी में प्रमाण हैं। साक्षी की सिद्धि करने के लिए *"साक्षी चेता केवलो ही निर्गुणश्च"* कहते हैं । परन्तु इस श्रुति को हम ईश्वर विषयक नही कह सकते है क्योंकि माया विशिष्ट ईश्वर में निर्गुण की उपपत्ति नही की जा सकती है। अतः अतिरिक्त जीव साक्षी की सिद्धि होती है। मायोपहित चैतन्य ईश्वर साक्षी है तथा माया के एक होने से वह भी एक ही है । यद्यपि यहां यह कहा जा सकता है कि यदि अनुमान के द्वारा नित्य ज्ञान के आश्रय के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है तो ईश्वर साक्षी स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यदि ईश्वर का प्रकाशक अन्य किसी को स्वीकार नहीं किया जाता है, तो उसकी असिद्धि हो जायेगी। अतः ईश्वर प्रकाशक के रूप मे ईश्वर साक्षी की आवश्यकता है।

वेदान्त परिभाषा में विशेषण एवं उपाधि का अन्तर स्पष्ट किया गया है। विशेषण एवं उपाधि दोनों का कार्य अपने विशेष्य का व्यावर्तन करना हैं। अन्तर यही है कि विशेषण कार्यान्वयी होकर व्यावर्तक होता है तथा उपाधि कार्यान्वयी नहीं है फिर भी व्यावर्तक है। जैसे 'रूप विशिष्ट घट अनित्य है।' इस वाक्य में रूप विशेषण है क्योंकि घट रूप से युक्त है अनित्य रूप कार्य (विधेय) में घट एवं रूप दोनों का अन्वय होता है। *"कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोतम्"* इस वाक्य में कर्णशष्कुलि उपाधि है क्योंकि वह श्रौत रूप विधेय मे अन्वित नहीं है। वह तो केवल उस आकाश का परिचायक है जिसे श्रौत कहते है। जीव साक्षी में अन्तःकरण को उपाधि इसलिए स्वीकार करते हैं कि साक्षी का कार्य विषयावभासन है और जड़ अन्तःकरण में यह सामर्थ्य नहीं है। यही बात ईश्वर साक्षी में भी है। वहाँ पर भी माया के जड़ होने के कारण विषयावभासन वह नहीं कर सकती है। अतः ईश्वर साक्षी के द्वारा विषयावभासन संभव है।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों ही अवस्थाओं में अव्यभिचरित रूप से विद्यमान रहने वाले जीव का जो अधिष्ठान भूत चेतना तत्व है, वही साक्षी है। इस साक्षी चैतन्य के द्वारा ही अध्यस्त होने के कारण ही जीव अपनी प्रमाण वृत्तियों के माध्यम से जगत का ज्ञान प्राप्त करता है। साक्षी प्रमाता का भी प्रमाता और दृष्टि का भी द्रष्टा है। साक्षी रूप द्रष्टा की द्रष्टि का कभी बिपरिलोप नहीं होता । वह नित्य द्रष्टा है। अतः समस्त ज्ञान व्यापार जिसके द्वारा संचालित है, स्वयं ज्ञाता को भी साक्षात् जो देखता है, वही साक्षी है। जीव भी साक्षी के प्रति साक्ष्य ही है। जीव के अतिरिक्त इस जगत का समस्त व्यापार जैसे भाव या अभाव रूप में कोई भी वस्तु, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा नामरूप में अभिव्यक्त होने वाले समस्त पदार्थ वास्तव में इस साक्षी के साक्ष्य होने के कारण ही है। यदि सम्पूर्ण जगत का अवभासक यह साक्षी रूप चैतन्य न हो तो इस संसार में कुछ भी प्रकाशित नही हो पायेगा। यह साक्षी रूप आत्मा जीव का अन्तरंगभूत है, उसकी प्रत्यागात्मा है और इस कारण यह नितान्त अपरोक्ष है। व्यक्ति अपने साक्षी स्वरूप आत्मा का निषेध नही कर सकता है, सारे निषेधों और सन्देहों से परे यह स्वतः सिद्ध और स्वयं प्रकाश है।

इस प्रकार साक्षी तत्व के विषय विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर यह स्पष्ट है कि साक्षी तत्व एक ही है, यद्यपि वह ब्रह्म ईश्वर, कूटस्थ, किसी भी रूप में हो सकता है। इस पर कुछ दार्शनिकों को आपत्ति हुई कि यदि साक्षित्व अविद्योपहित रूप से या अन्य किसी प्रकार से सभी व्यक्तियों मे एक समान है, तो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान सुख,दुःख,इच्छा आदि भावो का प्रत्यक्षीकरण हो जायेगा क्योंकि साक्षी नित्य अपरोक्ष स्वभाव वाला है। परन्तु ऐसा संभव नहीं है क्योंकि साक्षित्व का प्रयोजक उपाधियुक्त अन्तःकरण है। प्रत्येक जीव का अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होता है इसलिए प्रत्येक जीव के साथ-साथ साक्षी भी पृथक

पृथक होगा । अतः एक व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान सुःख-दुःख, इच्छा आदि भावों का दूसरे व्यक्ति में प्रत्यक्षीकरण का कोई आधार नहीं रहेगा। अन्तःकरण का आस्तित्व मोक्ष की अवस्था के पूर्व तक बना रहता है इसलिए सुषुप्ति की दशा में भी प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी अज्ञानता का भान हुआ करता है, जो जागने पर स्मृति के रूप मे प्रकट होता है, अतः यहाँ अन्तःकरण उपाधि रूप से साक्षित्व का तथा विशेषण रूप से प्रमातृत्व (जीव धर्मो) का प्रयोजक है।

साक्षी निरन्तर अनावृत रहता है। अनावृत स्वरूप के कारण साक्षी के साथ अज्ञानजन्य अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है। साक्षी तो स्वयं प्रकाशस्वरूप है इसलिए साक्षी को अपने स्वरूप के विषय मे अज्ञान नहीं होता । प्रश्न है कि अज्ञान से साक्षी चैतन्य आवृत है तो फिर आवृत साक्षी कैसे अविद्या का प्रकाश करता है?[1] इसके उत्तर में कहा जाता है कि अविद्या, अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्म सुखादि का प्रकाशक साक्षी को छोडकर, अन्य चैतन्य को ही अज्ञान आवृत्त करता है साक्षी स्वयं अज्ञान तथा अविद्या से आवृत्त नहीं है। साक्षी चैतन्य से अतिक्ति चैतन्य का ही अज्ञान आवरण करता है।[2] अतः साक्षी जान सकता है, देख सकता है इसलिए वह स्वयं कभी आवृत्त नहीं हो सकता। आवरणविहीन होने के कारण उसका ज्ञान वृत्तियों के प्रकाश पर निर्भर नहीं करता। साक्षी अहंकारादि को भी सीधे देखता है, जानता हैं।[3] अतः साक्षी किसी अंश से आवृत्त् नहीं होता एवं वह अंहकार आदि का प्रकाश करता है। इस प्रकार, साक्षी शुद्ध चैतन्य एवं प्रकाश स्वरूप है।

---

[1] *सिद्धांत लेश संग्रह, प्रथम परिच्छेद पृ0 193*

[2] *वस्तुतोऽपि विद्याऽन्तः करणतद्धर्भाविभासक साक्षि चैतन्यं विहायैवाऽज्ञानं चैतन्यमावृणोतीत्पनुभवानुसारेण कल्पनान्त कश्चिद्दोषः अतएव सर्वदा तेषामनावृत प्रकाश संसर्गात् अज्ञान विपरीतज्ञान संशया गोचरत्वम्।। ---वही--- पृ0 194*

[3] *-----वही-----पृ0 205*

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि साक्षी ब्रह्म का ही रूप है जो कि विशुद्ध द्रष्टा है, निर्विकारी एवं स्वयं प्रकाश है । वह संपूर्ण जगत, जीव की तीनों अवस्थाओं स्वप्न, सुषुप्ति, जाग्रत का प्रकाशक है विशुद्ध ज्ञाता अर्थात ज्ञात, अज्ञात सभी को जानने वाला है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि साक्षी का कोई कारण नहीं है अर्थात् उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उत्पत्ति भी स्वयं साक्षी से सिद्ध होती है। साक्षी स्वयं जन्म एवं विनाश का ज्ञाता है। साक्षी का कोई विजातीय नहीं है अर्थात् जड़ नाम की कोई वस्तु साक्षी में नहीं है। साक्षी में कोई भेद नहीं है। साक्षी अविकारी है। साक्षी पूरे देश का, काल का एवं जो कुछ प्रतीत होता है, सबका साक्षी है। अतः देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण साक्षी नित्य, परिपूर्ण, अनन्त और अद्वितीय है। वह मन, इन्द्रिय और प्रमाणों का विषय नहीं है। वह अप्रमेय है। सबका अधिष्ठान होने से सर्वान्तर है। साक्षी विशुद्ध ज्ञान स्वरूप चैतन्य मात्र है पारमार्थिक रूप में जिसका विलय ब्रह्म में हो जाता है।

चतुर्थ-अध्याय

ब्रह्म-साक्षी

ब्रह्म की अद्वितीयता –

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप के कथन के विषय में उपनिषद को सर्वोच्च प्रमाण माना गया है। उपनिषद उनके श्रुति प्रस्थान हैं जिनके अनुसार वे अपरिभाषेय ब्रह्म को परिभाषित करते हैं। श्रुति में ब्रह्म के दो लक्षण हैं – स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण 'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्'[1] है तथा *ब्रह्म सूत्र* का द्वितीय सूत्र *"जन्माद्यस्य यतः"*[2] तटस्थ लक्षण है। ये दोनों ही लक्षण इतर व्यावृत्ति रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, इदंतया नहीं। 'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्' यह लक्षण असत्य जड़ एवं परिच्छिन्न से व्यावृत करते हुए ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इसलिए यह माना जाता है कि ये तीनों ब्रह्म के गुण नहीं हैं और न ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं, अपितु तीनों एक ही हैं। इस प्रकार स्वरूप लक्षण भी इदम् इत्थम् रूप से ब्रह्म का ज्ञान नहीं कराता है।

'जन्माद्यस्य यतः' यह तटस्थ लक्षण भी ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार का कारण मानता है और उसका जगत का निमित्तोपादान कारण सिद्ध करता है। यह लक्षण भी इदमित्थम् रूप से ब्रह्म का निरूपण नहीं करता है। इसलिए सिद्ध होता है कि ब्रह्म शास्त्र के द्वारा ही जाना जाता है। हाँ यह अवश्य है कि शास्त्र उसका इदंतया निरूपण नहीं करता है। अतः अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म न तो माध्यमिकों का शून्य है जो कि न जड़ है, न चेतन है और न न्याय का ईश्वर है जो कि केवल अनुमान से सिद्ध हो जाता है। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म शब्द वेद्य है

---

[1] *सत्यं ज्ञानं अनन्तम् ब्रह्म ।* तै0 उप0 *2/1/1*

[2] ब्रह्मसूत्र 1/1/2

और वह भी श्रुति रूप है। अतः वह शास्त्र के द्वारा जाना जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शब्द के द्वारा परोक्ष ज्ञान ही होता है या अपरोक्ष ज्ञान भी। शंकराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त में इसके विषय में दो मत मिलते हैं। एक *विवरण* का मत है और दूसरा *भामती* का।

विवरण का मत है कि ज्ञान का परोक्षत्व या अपरोक्षत्व अन्तःकरण एवं इन्द्रियों पर निर्भर नहीं है अपितु वह विषय की सन्निहितता एवं असन्निहितता पर निर्भर है। यदि विषय अन्तःकरण की वृत्ति के समीप है तो वृत्ति चैतन्य एवं विषय चैतन्य का ऐक्य हो जायेगा। जैसे – *'तत्त्वमसि'*। इस वाक्य के द्वारा उत्पन्न शब्द ज्ञान का विषय ब्रह्म है। वह ब्रह्म प्रमातृ चैतन्य से अभिन्न है। इसलिए वह अत्यन्त सन्निहित है। अतः इसका अपरोक्ष ज्ञान हो जायेगा। *'दशमत्वमसि'* इत्यादि वाक्यों के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। इसलिए विवरण पक्ष यह मानता है कि शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान भी होता है।

भामती पक्ष का यह कथन है कि ज्ञान का प्रत्यक्षत्व या अप्रत्यक्षत्व इन्द्रियों पर ही अवलम्बित है, विषय विशेष पर नहीं। इन्द्रियों में यदि सूक्ष्म वस्तुओं को ग्रहण करने की योग्यता है तो उसके द्वारा सूक्ष्म वस्तु का प्रत्यक्ष होगा, अन्यथा नहीं। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है, शब्द के माध्यम से नहीं। सुसंस्कृत मन के द्वारा ही ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होता है और असंस्कृत मन के द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं होता। इस बात का निषेध भी किया गया है। इसलिए ब्रह्म का ज्ञान शब्द प्रमाण या श्रुति प्रमाण के द्वारा ही होता है। शब्द प्रमाण का अर्थ श्रुति प्रमाण ही है और श्रुति का विषय व्यावहारिक नहीं अपितु पारमार्थिक है। श्रुति दृष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती है। वह अदृष्य एवं अतीन्द्रिय पदार्थों का ही प्रतिपादन करती है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि के द्वारा

जिसका ज्ञान नहीं होता है, उसका ज्ञान श्रुति के द्वारा होता है। श्रुति में ब्रह्म के दो लक्षण बताये गये है - स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण।

स्वरूप लक्षण -

श्रुतियों में एक अद्वितीय ब्रह्म को ही सत् बतलाया गया है।[1] उसे सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य माना गया है। क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु सत् नहीं है, अतः ब्रह्म ही सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से शून्य है। स्वरूप लक्षण में प्रयुक्त सत्य, ज्ञान और अनन्त पद ब्रह्म के गुणों के प्रतिपादक नहीं हैं, क्योंकि समानाधिकरण्य से इन पदों के द्वारा एकार्थता एवं अखण्डार्थकता का ही बोध होता है। इस प्रकार यदि शंका उठती है कि अनेक गुणों से विशिष्ट वस्तु का जब अभिधान किया जाता है तो वहाँ पर एकार्थकता संभव है। परन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि विशेषण के भेद से अर्थ का भेद अनिवार्य है और अर्थ का भेद हो जाने पर एकार्थकता संभव नहीं है।[2] पुनः शंका होती है कि सत्य, ज्ञान आदि पदों से यदि गुण का ग्रहण न माने तो इन पदों को पर्यायवाचक मानना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि अगर ये पद किसी विशेष अर्थ के बोधक नहीं हैं, तो ये पद निरर्थक हैं और इनका प्रयोग उपयुक्त नहीं है। ये पद एकार्थकता और अखण्डार्थकता का बोध कराने में पर्याप्त नहीं सिद्ध होंगे।

इसका समाधान *विवरण प्रमेय संग्रह* में यह है कि 'सत्यादि पदों के द्वारा किन्हीं विशेष गुणों या धर्मो का प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है, बल्कि इसके द्वारा अपने विरोधी असत्य आदि धर्मो का निवारण ही अभीष्ट है।[3]

---

1 *एकमेवाद्वितीयम् छान्दोग्य उप० 6/2/1*

2 *ननु सत्यज्ञानादिशब्दानां भिन्नार्थत्वे कथमखण्डैकरसे वृत्तिः ?*
एकार्थत्वे पुनरूक्तिप्रसंगः। वि०प्र०सं० पृ० 749

3 *तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्यैकत्वेऽपि व्यावतर्यानामसत्यजडा दीनामनिर्वचनीयानामनेकत्वात्।*
वि०प्र०स० पृ० 749

सत्य पद असत्य का, ज्ञान पद अज्ञान का तथा अनन्त पद सान्त का निवारक है। ब्रह्म के असत्य, अज्ञान तथा सान्त से रहित होने का प्रतिपादन ही "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस ब्रह्म के स्वरूप का अवबोध कराने वाली श्रुति का तात्पर्य है। यहाँ सत्य पद ब्रह्म को असत्य से और विकार स्वरूप नानारूपात्मक प्रंपच से व्यावृत करता है। ज्ञान पद स्वयं प्रकाश ब्रह्म को अन्याधीनप्रकाश जड़वस्तु से व्यावृत्त करता है तथा अनन्त पद देशकालावच्छिन्न वस्तु से ब्रह्म का व्यावर्तक है। यह व्यावृत्ति ब्रह्म का भाव रूप या अभाव रूप धर्म नहीं है, अपितु यह ब्रह्म रूप ही है।

अप्पय दीक्षित चन्द्रमा का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि 'जिस प्रकार, "प्रकृष्ट प्रकाश वाला चन्द्रमा" इस चन्द्रमा के लक्षण वाक्य में प्रयुक्त प्रकृष्ट, प्रकाश तथा चन्द्रमा – इन तीनों शब्दों से एक ही अर्थ सिद्ध होता है, उसी प्रकार सत्य ज्ञान और अनन्त इन पदों से एक ही अर्थ की सिद्धि होती है।[1] यहाँ चन्द्रमा के लक्षण वाक्य में प्रयुक्त प्रकाश पद प्रकाशत्व सामान्य को कहता हुआ लक्षणा के द्वारा व्यक्ति विशेष का बोधक हो जाता है तथा प्रकृष्ट शब्द प्रकर्ष गुण का बोध कराता है। इनमें गुण तथा सामान्य ये दोनों चन्द्र पद के अभिधेय अर्थ नहीं हैं, इसलिए इन दोनों का त्याग कर दिया जाता है और उसमें रहने वाले प्रकाश विशेष को ही चन्द्र पद ही अभिधेय अर्थ में ग्रहण किया जाता है। इसीलिए प्रकृष्ट, प्रकाश तथा चन्द्र इन तीनों पदों की एकार्थकता सिद्ध होती है।[2] ये सभी एकार्थकता का बोध कराते हैं। इनके लिए यदि शंका की जाती है कि ये पद निरर्थक हैं, तो यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि प्रकाश से

---

[1] *कश्चन्द्र इति प्रश्नोत्तरे "प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र" इति वाक्ये प्रकृष्ट प्रकाशशब्दो प्रकर्षप्रकाशत्वरुपस्वार्थवोधनद्वारा तदाश्रयं बुभुत्सितं वस्तुश्चन्द्ररूपं व्यक्तिविशेषं लक्षयत इति।* वे०क०प० पृ० 93

[2] *प्रकाशशब्दः सामान्याभिधानमुखेन लक्षणया व्यक्तिविशेषे वर्तते। प्रकृष्ट शब्दस्य लक्षणया प्रकर्षगुणाभिधानमुखेन प्रकाश विशेषे वर्तते। तत्र गुण सामान्ययोः...... वृत्तिता सिद्धा।* पं०पा०वि० 719

रहित शून्य मेघ आदि की व्यावृत्ति के लिए प्रकाश पद की तथा स्वल्प प्रकाश वाले नक्षत्र आदि की व्यावृत्ति के लिए प्रकृष्ट पद की उपयोगिता है। इसी प्रकार सत्य् ज्ञान आदि पदों के एकार्थक होते हुए भी इनकी सार्थकता असत्य आदि की व्यावृत्ति के लिए स्वीकार की जाती है, विशेष धर्मों के प्रतिपादन के लिए नहीं। इस प्रकार सत्य, ज्ञान आदि पदों का एक ही अखण्ड अर्थ "ब्रह्म" के तात्पर्य बोध के लिए उपयोग किया जाता है।

यहाँ पर पुनः शंका की जाती है कि *"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"* इस श्रुति में प्रयुक्त सत्यज्ञानादि पदों को स्वार्थावबोधक न मानकर यदि स्वार्थ विरोधी वस्तु से व्यावृत्तिपरक माना जाये तो सभी पदों में लक्षणा माननी होगी। किन्तु सभी पदों की लक्षणा कहीं नहीं देखी जाती है। इसलिए सत्यज्ञानादि पदों को स्वार्थबोधक मानना ही उचित है, इतर व्यावृत्ति परक नहीं।

इस शंका का समाधान *'वेदान्त परिभाषा'* में मिलता है कि जहाँ पर मुख्यार्थ का बोध होता है अर्थात जहाँ मुख्यार्थ को मानने से वाक्य की संगति नहीं बैठती है, वहाँ पर संगति एवं तात्पर्यबोध के लिए मुख्यार्थ को त्यागकर लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है और इसके लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है। यद्यपि वाक्य के अर्थ संगति होने तथा तात्पर्य का बोध हो जाने पर एक पद में भी लक्षणा नहीं होती है, किन्तु वाक्य के तात्पर्य का बोध हो जाने पर उस वाक्यार्थ में अविरोध का स्थापन करने के लिए एक, दो या सभी पदों की लक्षणा मानने में कोई दोष नहीं है। "गंगायां घोषः" यहाँ पर गंगा पद तथा घोष पद के वाक्यार्थ में विरोध होने के कारण विरोध समाप्ति के निमित्त गंगा पद में लक्षणा मानी जाती

है।[1] *"गंगायां मत्स्याः प्रतिवसन्ति"*[2] इस वाक्य में विरोध नहीं है, इसलिए लक्षणा नहीं स्वीकार की जाती है किन्तु *"विषं भुङ्क्ष्व"*[3] यहाँ दोनों पदों में लक्षणा माननी पड़ती है। यहाँ पर विष शब्द का अर्थ विष बोधक न होकर लक्षणा के द्वारा "शत्रु का अन्न" अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार भुङ्क्ष्व में भुज् धातु अपनी शक्ति वृत्ति से भोजन रूप अर्थ में न होकर इसके विपरीत लक्षणा वृत्ति सम्बन्ध से 'भोजन निवृत्ति' का बोधक है। इसलिए असत् आदि की व्यावृत्ति के लिए सत्य ज्ञान आदि सभी पदों में लक्षणा मानने से कोई दोष नहीं है। इस कारण सत्य ज्ञानादि धर्मो के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म में स्वगत भेद की शंका उपयुक्त नहीं है। ब्रह्म के अलावा नानारूपात्मक प्रपंच ब्रह्म पर ही अध्यस्त होने के कारण मिथ्या एवं अनिर्वचनीय है, जीव भी पारमार्थिक रूप से ब्रह्म रूप ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः सजातीय, विजातीय स्वगत भेद से शून्य ब्रह्म ही परमार्थतः सत् है।

विद्यारण्य स्वामी ब्रह्म के सत् स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं कि यह प्रतीयमान जगत सृष्टि से पूर्व एक ही अद्वितीय सत् ब्रह्मरूप ही हुआ, उसका नाम रूप कुछ नहीं था। पुनः नाम रूप भी उस सत् वस्तु के अवयव नहीं हो सकते क्योंकि सृष्टि के पूर्व सत् वस्तु में नाम रूप का अभाव था और अब भी प्रतीति मात्र होने से नाम रूप का अभाव ही है। नाम रूप के होने को ही सृष्टि कहते हैं। इसलिए सृष्टि के पहले नाम रूप नहीं हो सकते। इससे यह सिद्ध हुआ कि आकाश के समान निरवयव

---

1 *गड्.गायां घोषः इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्।*
वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद पृ0 327

2 *गंगा में मछलियाँ रहती है।*

3 *यथा 'विषं भुङ्क्ष्वेति'। अत्र स्वार्थ विहाय शत्रुगृहे भोजन निवृत्तिर्लक्ष्यते।*
वेदान्त परिभाषा आगम परिच्छेद 226

ही सत् ब्रह्म है।[1] सभी प्रकार की शंकाये आक्षेप एवं परिहार शंका समाधान व्यवहार की दशा में ही संभव है। अद्वैत भाषा में परमार्थ में अद्वैत ही यथार्थ वस्तु है।[2] *आचार्य मधुसूदन सरस्वती* ने नेति नेति पद्धति का अनुसरण करते हुए *अद्वैत सिद्धि* में कहा है कि 'अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि के लिए द्वैत प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करना होगा क्योंकि द्वैत प्रपंच की मिथ्यात्व सिद्धि होने पर उसके निषेध से सत् ब्रह्म की सिद्धि हो जायेगी।[3]

इसी प्रकार उपनिषदों में कहीं-कहीं ब्रह्म के लिए 'सत्' शब्द के स्थान पर 'सत्य' शब्द का प्रयोग भी किया गया है जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। सत्य शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि जो जिस रूप में निश्चित है, यदि उसका रूप किसी भी काल में व्यभिचरित नहीं होता अर्थात् विकारयुक्त नहीं होता, वह सत्य है।[4] ब्रह्म अविकारी है, इसलिए सत्य है। जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है या बुद्धि का विषय बनता है, यदि वह उस रूप को कभी न त्यागे और उसका वह रूप कभी अन्यथा न हो या कभी व्यभिचरित न हो तो वह पदार्थ सत् कहलाता है। जिसका व्यभिचार होता हो वह सत् नहीं हो सकता, वह मिथ्या है।[5] तीनों कालों में बाधित न होना अर्थात् अपने अधिष्ठान में सदैव विद्यमान रहना ही सत्यता है। *पंचदशी* में *विद्यारण्य* ने सत्य होने का अर्थ बाँध रहित होना कहा है।[6] बाध का शाब्दिक अर्थ है निषेध। जिसका कभी भी निषेध न हो सके, ऐसी वस्तु ब्रह्म ही है, क्योंकि संसार की सभी

---

1 *इदं सर्व पुरा सृष्टेरेकमेवा द्वितीयकम्।*
नाम रूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ।। पंचदशी 2/19-22

2 *चौद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।*
अद्वैत भाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम्।। पंचदशी 2/39

3 *अद्वैतसिद्धेर्द्वैतामिथ्यात्व सिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्।*
अद्वैत सिद्धि पृ0 8

4 *यद्रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं व्यभिचरदन्ततभित्युच्यते तत्सत्यम्।*
तै0उप0शा0भा0 2/9/9

5 *वही*

6 *सत्यत्व बाधराहित्यम्। पंचदशी 3/29*

वस्तुओं का किसी न किसी दशा में, कभी न कभी निषेध होता ही है। सभी बाध योग्य वस्तुओं के बाध के पश्चात् जो शेष रहता है, वही ब्रह्म है। इसीलिए श्रुति में *"स एष नेति नेति"* कहते हुए समस्त बाध्य के परे निर्वाध ब्रह्म को शेष रखा है।[1] ब्रह्म ही सर्वदा है, सर्वरूप है, सर्वव्यापी है – त्रिधा अनन्त है।[2] इसीलिए *अद्वैतसिद्धि* में कहा गया है कि "सत्यंज्ञानम्अनन्तं तीनों पदों का लक्ष्य एक निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि करना है। इनका पृथक पृथक प्रयोग निवर्तनीय अंश का बोध कराता है।"[3]

तटस्थ लक्षण –

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत् के जन्मादि का कारण मानकर तटस्थ लक्षण द्वारा उसका प्रतिपादन किया गया है । तटस्थ लक्षण की परिभाषा *धर्मराजाध्वरिन्द्र* ने *वेदान्त परिभाषा* में दी है। आचार्य का मत है कि तटस्थ लक्षण उसे कहा जाता है "जो लक्षण लक्ष्य यावत्कालपर्यन्त (जब तक लक्ष्य रहे तब तक) स्थिर न रहकर लक्ष्य का व्यावर्तक (अन्य पदार्थ से भेदक) हो।"[4] इसका तात्पर्य है कि तटस्थ लक्षण वस्तु की वास्तविक प्रकृति नहीं बताते हैं, बल्कि उसकी ओर अभिमुख करने का संकेत करते हैं। तटस्थ लक्षणों का सम्बन्ध वस्तु की विशेषता या धर्म से नहीं होता, किन्तु वे अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता बताते हैं। जैसे गंध को पृथ्वी का तटस्थ लक्षण कहा जाता है क्योंकि महाप्रलय के समय इसके अणुओं में गंध का अस्तित्व नहीं होता है, किन्तु घटादि निर्मित होने पर गंध पृथ्वी के अणुओं को दूसरी वस्तुओं से भिन्न करने में सहायक होती है।

---

[1] *पंचदशी 3/30-32*
[2] *पंचदशी 3/35*
[3] *अद्वैत सिद्धि, पृ0 676*
[4] *तटस्थं लक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यद्व्यावर्तकं तदेव यथा गन्धवत्तं पृथ्वी लक्षणं। वेदान्त परिभाषा-विषय परिच्छेदः पृ0 328*

'तद् भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वम्' अर्थात् वस्तु के स्वरूप से भिन्न होने पर भी वस्तु का बोध कराने वाले लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं। तटस्थ लक्षण कभी धर्मी में रहता है कभी नहीं रहता है। जैसे देवदत्त के गृह को खोजता हुआ कोई व्यक्ति आता है, और पूछे जाने पर अन्य व्यक्ति बतलाता है कि 'वह देवदत्त का घर है, जिसके सामने गौ खड़ी है।' देवदत्त के गृह के लिए गौ की पहचान अनिवार्य नहीं है। गौ घर के सामने सदैव खड़ी रहेगी, यह निश्चित नहीं है, फिर गौ के पहचान से वह व्यक्ति देवदत्त के घर को पहचान लेता है। इस प्रकार गौ के साथ देवदत्त के गृह का अनिवार्य संसर्ग न होते हुए भी गौ उस मुहल्ले के अन्य घरों का व्यावर्तक है तथा गौ देवदत्त के घर का भी बोध कराती है। यही तटस्थ लक्षण है।

शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य में तटस्थ लक्षण के सम्बन्ध में कहा है कि "जो नाम रूप में अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता और भोक्ताओं से संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश, काल और निमित्त से क्रिया और फल का आश्रय है एवं मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय, जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से है वह ब्रह्म है। अन्य भाव विकारों का भी इन तीनोंमेंही अर्न्तभाव हो जाता है इसलिए उत्पत्ति स्थिति और नाश का यहाँ अर्थ ग्रहण किया गया है।"[1] बादरायण ने *'जन्माद्यस्ययतः'*[2] सूत्र द्वारा ब्रह्म का तटस्थ लक्षण प्रस्तुत किया है। भाष्यकारों के अनुसार 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वेदान्त वाक्यों का अनुसरण करते हुए ही ब्रह्मकायह लक्षण वादरायण ने प्रस्तुत किया है। विद्यारण्य मुनि ने अपने ग्रंथ विवरण प्रमेय संग्रह में ब्रह्म का यह तटस्थ लक्षण संभव है। *'काकाधिकरणत्वदुपपत्तेः'* इस उदाहरण के द्वारा उनका मन्तव्य है कि जिस प्रकार मकान पर बैठा हुआ कौआ उस

---

1 *ब्र0सू0भा0 1/1/9 शंकर-सिद्धान्त - संग्रह पृ0 37*
2 *ब्र0सू0 1/1/2*

मकान का संकेत करने में सहायक हो सकता है, उसी प्रकार जन्मादि लक्षण से ब्रह्म का संकेत हो जाता है। *'काकअधिकरणत्व'* लक्षण में *'काकाधिकरणत्व'* गृह के अर्न्तभूत नहीं होता। यदि वह गृह के अन्दर मान लिया जाये, तो काक के उड़ जाने पर अर्थात् काकाधिकरणतया का नाश हो जाने पर घर का एक भाग ही नष्ट हो गया है, ऐसी बुद्धि का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। इससे निष्कर्ष निकलता है कि काक अधिकरणत्व गृह के लिए औपाधिक धर्म है। काक लक्ष्य का अंग नहीं, बल्कि मात्र उपलक्षण है। उसी प्रकार जगत् कारणत्व भी ब्रह्म का उपलक्षण है।[1] अतः जन्मादि धर्म ब्रह्म के औपाधिक धर्म है। ये धर्म लक्षण के अन्तर्गत है न कि लक्ष्य के अन्तर्गत। जन्मादि धर्मों से ब्रह्म का सम्पर्क नहीं है, इसलिए ब्रह्म में जन्मादिकारणत्व का अर्न्तभाव नहीं होता है। साथ ही जगत् प्रपंच की कारणता ब्रह्म की है, इसकी सिद्धि होती है।

अप्पय दीक्षित ने तटस्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि 'लक्षण को सकल इतर का व्यावर्तक होना चाहिए, साथ में लक्ष्य बोधन में समर्थ भी होना चाहिए। जगत् जन्मादिकारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण है, वह *'शाखाग्रेचन्द्रः'* के समान तटस्थ लक्षण है। *'शाखाग्रेचन्द्रः'* वाक्य चन्द्र को अन्य तारों से व्यावृत्त करता है। इसमें इतर व्यावर्तकत्व है। साथ में चन्द्र का बोध भी हो जाता है।'[2] इसलिए यह तटस्थ लक्षण का उदाहरण है। तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत समस्त अध्यारोपित कारणता *'जगतकर्तृत्व'* जीवेश्वर विभागादि आते हैं। ये सब जितने भी विभाजन हैं, ब्रह्म में तटस्थतया ही है। अतः ब्रह्म में जगत की कारणता तटस्थ लक्षण से ही सिद्ध क्यों न हो, किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त जगत का कोई अन्य कारण

---

1 *काकाधिकरणत्वं हि न....... अतो गृहस्याऽधिकरणत्वं नामौपाधिकौधर्म इत्यादि।*
विवरण प्रमेय संग्रह, वर्णक 4 पृ0 645-646

2 *सकलेतरव्यावृत्य लक्ष्य बोधन समर्थ इह लक्षणं-शाखाग्रेचन्द्रः इतिवत् तटस्थ लक्षणम्।*
वेदान्त कल्पतरू परिमल पृ0 84

नहीं हो सकता है। यदि ब्रह्म में आरोपित जगत् प्रपंच किसी अर्थ में है तो ब्रह्म में ही स्थित है।

यहाँ पर पूर्वपक्षी आक्षेप करते हैं कि ब्रह्म जगत का कारण किस अर्थ में है? घट की उत्पत्ति के लिए उपादान एवं निमित्त दोनों की आवश्यकता होती है। मिट्टी घट का उपादान है, कुम्हार निमित्त कारण है। किन्तु जगत् प्रपंच कार्य के लिए ब्रह्म उपादान कारण है, या निमित्त कारण है या दोनों हैं। यदि दोनों में एक कारण ब्रह्म को माना जाये, तो ब्रह्म की व्यापकता नष्ट हो जायेगी और दोनों कारण मानने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।[1]

इस आक्षेप का प्रत्याख्यान करते हुए *विद्यारण्य मुनि* कहते हैं कि ब्रह्म उपादान एवं निमित्त दोनों ही कारण हैं। *'जन्माद्यस्ययतः'* सूत्र में यतः शब्द से यही अभिप्रेत है।[2] ब्रह्म निमित्त कारण है, इसके लिए *"यतोवा इमानि......"* आदि श्रुति प्रमाण है। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, इसका प्रमाण *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इदं सर्व यदयमात्मा',*[3] *'आत्मैवेदं सर्वम्'*[4] इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु स्वीकृत नहीं है, इसलिए अन्तिम कारणता ब्रह्म पर जाती है। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार एक मात्र पर ब्रह्म ही जगत योनि है शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। चूँकि कूटस्थ ब्रह्म स्वरूपतः जगत् का कारण नहीं बन सकता है, इसलिए माया को अद्वैत वेदान्तियों ने द्वार कारण माना है। माया के बिना ब्रह्म में जीव और जगत का विवर्तन संभव नहीं है। अप्पय दीक्षित ने *सिद्धान्त लेश संग्रह* में

---

[1] *विवरण प्रमेय संग्रह पृ0 647*

[2] *सूत्रगतया 'यतः' इति पंचम्या द्विविध कारणतवस्य विवक्षितत्वात्।*
विवरण प्रमेय संग्रह 648

[3] *छान्दोग्य उपनिषद 6/8/7*

[4] *वृहदारण्यक उपनिषद 2/4/6*

सर्वज्ञात्ममुनि के मत का उद्धरण देते हुए कहा है कि *"केचित् आहुः शुद्धमतेवोपादानम्"।*[1]

विवरण मत में भी शुद्ध ब्रह्म जगत का परिणामी उपादान कारण नहीं हो सकता है। ब्रह्म को विवर्त कारण अर्थात् विवर्त कार्य का अधिष्ठान कहा जा सकता है। परिणाम को दृष्टि में रखते हुए माया को ही कारण कहना होगा। इसलिए सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट माया रूप उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान है।[2] परन्तु परिणामी उपादान के लिए माया को ही ब्रह्माश्रित रूप से कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि जगत् परिणाम का आरोप ब्रह्म में सीधा नहीं माना जा सकता है। माया को माध्यम रखना अनिवार्य है। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने माया को सहकारी कारण कहा है। *भामती* के मंगल श्लोक में वाचस्पति मिश्र का कथन है कि –

अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्यप्रभवतः, विवर्तायस्यैतेवियदनिल तेजोऽबवनयः।[3]

आचार्य शंकर के अनुसार माया जगत का उपादान है। उस उपादान का आश्रय ब्रह्म है, इसीलिए उपादान कारण ब्रह्म है। *सुरेश्वराचार्य* ने आचार्य शंकर का अनुसरण करते हुए *वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक* में अज्ञान को उपादान कारण तथा उस अज्ञान को आश्रित करके ब्रह्म को जगत् कारण कहा है।[4] माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इसलिए शुद्ध ब्रह्म में आश्रित होने पर भी वह शुद्ध ब्रह्म को स्पर्श नहीं करती है। इससे ब्रह्म को ही निमित्त और उपादान दोनों ही कहा जा सकता है।[5] कुछ आचार्य शुद्ध ब्रह्म को उपादान नहीं मानते हैं किन्तु वे भी अधिष्ठान रूप में शुद्ध ब्रह्म को ही मानते हैं, केवल उपादानत्व में ब्रह्म का स्पर्श नहीं स्वीकार करते

---

1 *सिद्धान्त लेश संग्रह पृ0 62*

2 *'सर्वज्ञत्वादि विशिष्टं माया शवलमीश्वर रूपमेव उपादानम्।'* सिद्धान्तलेश संग्रह *63*

3 *भामती 1*

4 *वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक 1/4/371*

5 *ब्र0 सूत्र शांकर भाष्य 1/4/23*

हैं। इस दृष्टि से ब्रह्म की निमित्त एवं उपादान कारणता का निषेध किया जा सकता है, साथ में माया को माध्यम मानकर दोनों कारणताओं को उसमें आरोपित भी किया जा सकता है। इसीलिए *पदार्थतत्वनिर्णयकार* ने ब्रह्म और माया दोनों को ही जगत् का उपादान कहा है।[1] ब्रह्म को शुद्ध बतलाने के लिए प्रकाशानन्द सरस्वती ने माया शक्ति को ही उपादान कारण कहा है ब्रह्म को नहीं।

इस प्रकार जन्मादि कारण रूप ब्रह्म के सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त के सामने यही एक समस्या है कि ब्रह्म को कार्य कारण भाव से परे रखा जाये तथा अन्य किसी अपर की स्वीकृति के बिना ही जगत् प्रपंच की व्याख्या प्रस्तुत कर दी जाये। इसी समस्या के समाधान के लिए अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने विभिन्न प्रकार की युक्तियों के माध्यम से कारणता की व्याख्या की है। माया के स्वरूप के द्वारा कारणता का विवेचन करके ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध किया गया है। उत्पत्ति स्थिति और विन्यास यह संसार के लक्षण हैं। अतः इनका सम्बन्ध उस ब्रह्म से नहीं है, जो शाश्वत और निर्विकारी है। अतः जन्मादि लक्षण ब्रह्म की वास्तविक प्रकृति के वाचक नहीं हो सकते हैं और न यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म का उनसे कुछ सम्बन्ध है। ब्रह्म को कारण की कोटि में भी नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह बौद्धिक अनुभूति के परे है। परन्तु यदि ब्रह्म को *'सत्यम्ज्ञानमनन्तम्'* कहा जाये, तो यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है, क्योंकि इसके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का संकेत मिलता है। ये तीनों शब्द एक अखण्ड ब्रह्म के वाचक हैं जो ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बताते हैं। *वादरायण* ने *ब्रह्मसूत्र* में प्रथम सूत्र ब्रह्मजिज्ञासा के निर्देश के वाद ब्रह्म का स्वरूप लक्षण न कहकर तटस्थ लक्षण बताने का एक विशेष उद्देश्य प्रतीत होता है। यद्यपि ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्विकल्प और अज्ञेय है, इसलिए ब्रह्म

---

[1] *सिद्धान्तमुक्तावलीकृतस्तु–मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमवाह्यम्'* न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते इत्यादि श्रुतेः। *सिद्धान्तलेश संग्रह* पृ0 80

की जिज्ञासा करने वाले व्यक्ति को ऐसे तथ्य से अवगत कराना आवश्यक है, जिससे उसका मन ब्रह्म की ओर उन्मुख हो सके। ब्रह्म का तटस्थ लक्षण इसी उद्देश्य को सिद्ध करने में सफल है।

(ब) ब्रह्म और साक्षी

साक्षी के अस्तित्व सिद्धि के पश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि साक्षी को भी निरपेक्ष सत्य माना जाये तो ब्रह्म और साक्षी दो निरपेक्ष सत्तायें हो जाती हैं और ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, यह बात गलत सिद्ध हो जाती है। यदि ब्रह्म और साक्षी एक ही नाम की दो सत्तायें मानी जायें तो ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है एवं निरपेक्ष है यह बात तो सत्य हो जाती है किन्तु साक्षी का साक्षित्व, निर्गुणत्व, निर्विकार, निर्विशेष, आदृश्य, आग्राह्य, अगोचर, अरूप और विभु परब्रह्म के स्वरूप लक्षण को खण्डित कर देता है और शंकर की बह्म विषयक अवधारणा आत्मव्याघाती सी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि साक्षी ईश्वर एवं जीव की तरह विशुद्ध चैतन्य का एक रूप है जो पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी व्यवहारिक रूप से इस समस्त जागतिक प्रपंच का निर्विकार दृष्टा है।

साक्षी और ब्रह्म में जो भेद है वह कहने मात्र का है जो कि अज्ञान के कारण प्रतीत होता है। अज्ञान का नाश होते ही दोनों में अभेद हो जाता है। जैसा कि *पंचदशी*[1] में उल्लिखित है कि कूटस्थ (साक्षी) और ब्रह्म का भेद तो नाम मात्र के सिवा कुछ भी नहीं है। उनका भेद कहने मात्र का ही है। जैसे घटाकाश और मठाकाश दोनों एक दूसरे से कभी भी पृथक नहीं होते हैं उनमें जैसे नाममात्र का भेद है वैसे ही साक्षी और ब्रह्म का भेद भी कहने मात्र का ही है वस्तुतः वह दोनों एक ही हैं।

---

[1] *कूटस्थ ब्रह्मणोर्भेदो नाममात्राहते नहि।*
घटाकाश महाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित्।। पंचदशी, 6/237

साक्षी अक्षर है, स्वयं दृष्टि का विषय नहीं है पर वह द्रष्टा है, श्रवण का विषय नहीं किन्तु श्रोता है, मन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है। इस *प्रकार 'नान्योऽतोस्ति द्रष्टा नान्योऽतोस्ति –'* यह श्रुति ब्रह्म से भिन्न वस्तु का प्रतिषेध करती है। श्रुति में अक्षर शब्द का वाच्य परब्रह्म ही है। साक्षी का भी इस परब्रह्म में अन्तर्भाव हो जाता है।[1] शंकराचार्य ने कहा है कि जो जीव देह, इन्द्रिय समूह में आत्मबुद्धि का त्यागकर आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर ज्योति स्वरूप को प्राप्त होता है और अपने स्वरूप में अभिव्यक्त होता है वह साक्षी है।[2] घट आदि पदार्थ सूर्य आदि प्रकाश से प्रकाशित होते हैं अतः सूर्य प्रकाश घटादि का प्रकाशक होता है। घटादि स्वयं अप्रकाशित होने से अपनी उपलब्धि में दूसरे प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं किन्तु बह्म तो स्वयं ज्योति स्वरूप है। वह अपनी सिद्धि में किसी बाह्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। *"अत्रायंपुरूषः स्वयं ज्योतिः"* यह श्रुति भी ब्रह्म को स्वयं ज्योति रूप से प्रतिपादित करती है। तेजोमय सूर्य आदि पदार्थों की अभिव्यक्ति भी ब्रह्म से ही होती है। स्वप्नावस्था में सूर्य आदि के प्रकाश होने पर भी उस आत्म ज्योति से सबकी प्रतीति होती है अतः ब्रह्म को स्वयं ज्योति स्वरूप माना गया है। साक्षी भी स्वप्न, जाग्रत एवं सुषप्ति अवस्था में प्रकाशमान रहता है। ब्रह्म के इस स्वयं ज्योति स्वरूप से साक्षी की ओर ही संकेत किया गया है।[3]

ब्रह्म का ज्ञान होने पर इस सम्पूर्ण प्रपंच का ज्ञान हो जाता है। साक्षी ब्रह्म से अन्य हो तो ब्रह्म का ज्ञान होने पर साक्षी का ज्ञान नहीं होगा और इस प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने पर सबका ज्ञान होता है यह प्रतिज्ञा बाधित हो जायेगी। प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए भी साक्षी एवं ब्रह्म

---

1 *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 1/3/12*
2 *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1/3/18*
3 *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1/3/22*

में अध्यास को लेकर उपक्रम है। *'असुप्तःसुप्तानचक्रशीति'* (स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है) *'अत्रायः'* (स्वप्नावस्था में यह स्वरूप स्वयं ज्योति स्वरूप होता है) *'नाहिविज्ञातु'* (विज्ञाता की विज्ञान शक्ति का सर्वथा लोप नहीं होता) इस प्रकार की श्रुतियाँ ब्रह्म के जिस स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं उसका अन्तर्भाव साक्षी में हो जाता है।

वृहदारण्यक उपनिषद्[1] में उल्लिखित है कि साक्षी ब्रह्म स्वरूप है, यही *"ब्रह्मैव"* इत्यादि से बोधन किया गया है। *"साक्षी ब्रह्मैव"* यह दो पदों के समानाधिकरण से साक्षी में सद्वितीयत्व और ब्रह्म में परोक्षत्व का प्रतिषेध किया गया है। अपरोक्ष साक्षी ही ब्रह्म है ऐसा कहने पर ब्रह्म अपरोक्ष है और साक्षी अज्ञानोपहित होने से अद्वितीय समझा जाता है किन्तु साक्षी ब्रह्म ही है उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा बोधन करने पर साक्षी अद्वितीय है – यह स्पष्ट बोधित होता है। इसी बोधन के तात्पर्य से श्रुति में *"साक्षी ब्रह्मैव"* यह समानाधिकरण का निर्देश है। यहाँ शंका होती है कि कृष्णः सर्प समानाधिकरण वाक्य से जैसे कृष्ण और सर्प संबंध का बोध होता है वैसे ही साक्षी ब्रह्म इस समानाधिकरण से इन दोनों के सम्बन्ध का बोध होने से अखण्ड ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता । इस शंका निवृति के लिए वेदांती एवकार का प्रयोग करते हैं। अर्थात् साक्षी ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही साक्षी है यही अखण्ड अर्थता यहाँ विवक्षित है।

चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के निखिल प्रपंच का आधार साक्षी है अतः इसमें ब्रह्मत्व मानना उचित ही है। जैसा कि श्रुति स्पष्ट करती है – पाँच पंच जन तथा आकाश इनका आश्रय साक्षी माना जा सकता है।

---

[1] *साक्षिणो ब्रह्मरूपत्वं ब्रह्ममैवेत्यभिधीयते। संसर्गशंकानुत्यर्थमेवकारः प्रयुज्यते।। संयोगः समवायो वा नैव ब्रह्मात्मनोरिह। अखण्डैकरसत्वं तु भवतीति विक्षितम्।।* ----
वृहदारण्यक उपनिषद्, 4/4/219,220

श्रुति अनुसार इसी साक्षी का ब्रह्म में समावेश हो जाता है। गन्धर्व, पितर, देव रक्षागण तथा असुर ये पाँच पंच जन एवं आकाश ये छः पदार्थ जिसमें प्रतिष्ठित हैं वह चैतन्य साक्षी ब्रह्म है। *"प्राणादयो वाक्यशेषातः"* इस वेदांत सूत्र से प्राणादि पाँच पंचजन कहे गये हैं इससे वास्तव में प्रकट अर्थ में विरोध होता है। यहाँ पंचजन शब्द जगत मात्र का उपलक्षण है क्योंकि सबका आश्रय चैतन्य ब्रह्म ही है अतः विरोध नहीं होता। साक्षी जड़, अजड़ भेद से भिन्न निखिल जगत का आधार है क्योंकि साक्षी में ही सबकी कल्पना है। यदि साक्षी को जगत का अधिष्ठान न माना जाये तो जगत शून्य ही हो जायेगा और चूँकि अधिष्ठान शून्य ब्रह्म नहीं होता। अतः सर्वाधार साक्षी ब्रह्म माना जा सकता है।[1]

साक्षी का अर्थ है *अव्यावृत्त।* जैसे घटपट आदि परस्पर व्यावृत होते हैं वैसे साक्षी किसी से व्यावृत्त नहीं होता। *"इदं सर्व यदय्यात्माः"* इत्यादि श्रुति से कार्यकारण भेद न्यास से तथा एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की श्रोत प्रतिज्ञा से यह स्पष्ट होता है कि साक्षी किसी से व्यावृत नहीं होता। अननुगति से साक्षी में महत्व भी सिद्ध होता है। अमहान् घटादि स्वकारण में अनुगत रहते हैं, साक्षी महान् होने से किसी में अनुगत नहीं हो सकता वरन् आत्मव्यतिरिक्त निखिल पदार्थ साक्षी में ही अनुगत है। नाश विकारादि से रहित होने के कारण साक्षी कूटस्थ है अतएव ध्रुव है। ब्रह्म भी ध्रुव है। ध्रुवत्व में निर्विकारत्व विवक्षित है, इसलिए साक्षी ब्रह्म के समान है और दोनों में परस्पर भेद नहीं हो सकता।

वृहदारण्यक उपनिषद्[2] में साक्षी ब्रह्म स्वरूप है उससे अतिरिक्त नहीं, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अज्ञान के कारण ही साक्षी ब्रह्म भिन्न तथा विभिन्न धर्मों से युक्त प्रतीत होता है। यथार्थ बोध होने पर

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद् 4/4/292*

[2] *विद्वद्दृष्टया स एवाऽऽत्मा जरामरणवर्जितः। आनन्दो भयहीनश्च ब्रह्मैवाऽतो न चेतरः।। --- वृहदारण्यक उपनिषद्, 4/5/489*

वह ब्रह्म स्वरूप और निर्विकार द्रष्टा अनुभूत होता है। *"अहम् ब्रह्म"* इत्यादि वाक्य से अज्ञान का ध्वंस हो जाने पर साक्षी का जो रूप बचता है उसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है – जैसे अज्ञान के बिना रज्जू सर्प नहीं होता वैसे ही साक्षी अविद्या के बिना विकार रूप नहीं होता, जैसे देह आदि कालावच्छिन्न होने से जरादि धर्मों से युक्त है वैसे साक्षी का अस्तित्व तब तक है जब तक अविद्या या अज्ञान है। अविद्या का नाश होते ही ब्रह्म की एक मात्र सत्ता शेष रह जाती है और साक्षी का लोप या अन्तर्भाव ब्रह्म में हो जाता है।

विद्यारण्य ने भी *पंचदशी*[1] में साक्षी की स्वयंप्रकाशता को सिद्ध करने के बाद वह साक्षी ब्रह्म ही है, यह बताया है। श्रुति में ब्रह्म का जो सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप लक्षण बताया है, वह लक्षण साक्षी में विद्यमान है। इसलिए स्वयं प्रकाश साक्षी को ब्रह्म मानना चाहिए। वह बाध रहित है। बाध रहितता ही सत्यता है। सत्य उसी को कहते हैं जिसका बाध कभी नहीं होता। जो बाधयोग्य है, वह असत्य है। साक्षी इस जगत के बाध को निर्बाध रूप से जानता है। सुषुप्ति, मूर्छा और समाधि अवस्था में जब स्थूल, सूक्ष्म देहादि रूप यह जगत नहीं रहता तब उसके अभाव को साक्षी देखता है। उसके न रहने पर कोई भी साक्षी नहीं है। अतः साक्षी अबाध है क्योंकि साक्षी रहित बाध नहीं माना जा सकता। जैसे घर आदि में रखे आकारवान पदार्थों को घर से निकाल देने पर भी अमूर्त (निराकार) आकाश ही शेष रह जाता है उसी प्रकार साक्षी से भिन्न सब बोध योग्य, मूर्तामूर्त देह इन्द्रिय आदि का "यह भी नहीं है" इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा निराकरण कर दिये जाने पर अन्त में सब अनात्म पदार्थों के बाध का साक्षी जो बोधमात्र शेष रह जाता है वही बाधरहित साक्षी है। इस प्रकार दृश्य होने से अनुभूयमान जो भी देह आदि हैं सबका सब त्यागा जा

---

[1] *पंचदशी, 3/28-34*

सकता है और जो प्रत्यक् रूप होने के कारण "यह" से जानने के योग्य नहीं है वह साक्षी त्यागा नहीं जा सकता। इस प्रकार अबाध्य होने से ब्रह्म में जो सत्यत्व कहा जाता है वही साक्षी में भी सिद्ध होता है। अतः साक्षी ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। न ही ब्रह्म से अलग उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता है।

विद्यारण्य का मत है कि श्रुति में ब्रह्म का प्रज्ञान से ऐक्य बताया गया है एवं प्रज्ञान से साक्षी स्वरूप ही अभिव्यक्त होता है। यह पुरुष चक्षु द्वारा बाहर निकली अन्तःकरण की वृत्ति से युक्त जिस चैतन्य से दर्शन योग्य रूप आदि को देखता है, श्रोत द्वारा निकली अन्तःकरण वृत्ति से जिस चैतन्य से शब्दों को सुनता है, नासिका द्वारा अन्तःकरण की उपाधि सहित जिस चैतन्य से गंधों को सूंघता है, वागिन्द्रिय से युक्त जिस चैतन्य से शब्दों का उच्चारण करता है, रसना इन्द्रिय द्वारा निकली अन्तःकरण वृत्ति रूप उपाधि वाले जिस चैतन्य से स्वादु – अस्वादु दोनों प्रकार के रसों करे चखता है अर्थात् सभी इन्द्रियों और अन्तःकरण की वृत्तियों से उपलक्षित जो चैतन्य है वही यहाँ "प्रज्ञान" शब्द से अभिधेय है। *"येन वा पश्यति" "सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि"* – इन वाक्यों द्वारा सब इन्द्रियों और उनकी वृत्तियों से भिन्न स्वप्रकाश स्वरूप साक्षी के स्वरूप को स्पष्ट किया है। पुनः यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है इसे कहते हैं – *"अतः मयि अपि प्रज्ञानं ब्रह्म"* – अर्थात् सर्वत्र अवस्थित रहने वाला "प्रज्ञान" ही ब्रह्म है, इसलिए मुझमें जो प्रज्ञान है वह भी ब्रह्म है।[1]

स्वभावतः देश काल और वस्तु से अवच्छिन्न, परिपूर्ण, परमतत्व ब्रह्म इस मायाकल्पित जगत में शमादि साधनों से सम्पन्न होने से ब्रह्मविद्या को पाने की योग्यता वाले, श्रवण, मनन वाले मनुष्य देह में सूक्ष्म शरीर

---

[1] *येनेक्षते श्रृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।*
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीश्चितम्।। --- पंचदशी, *5/1*

का साक्षी अर्थात् अविकारी अवभासक रूप में स्थित होकर प्रकाशित होता है। *"अयमात्मा ब्रह्म"* इस महावाक्य की व्याख्या करते हुए "अयम" और "आत्मा" पदों के अर्थ क्रमशः स्पष्ट करते हुए पंचदशी[1] में कहा है – "अयं" इस पद से ब्रह्मस्वरूप साक्षी आत्मा की स्वप्रकाश होने से अपरोक्षता कही गई है। जो चेतन तत्व अहंकार से लेकर देह पर्यन्त संघात से पृथक् अर्थात् उक्त संघात का अधिष्ठान एवं साक्षी है उसको इस महावाक्य से "आत्मा" कहा गया है। इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। "अयं" पद से जो साक्षी आत्मा का अपरोक्षत्व कहा गया है वह दो प्रकार का है। प्रथम तो यह कि वह चिद्रूप आत्मा अर्थात् साक्षी स्वयंप्रकाश है एवं अपनी प्रतीति के लिए किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रखता है। द्वितीय बुद्धि से भी उसका यह रूप स्वप्रकाशत्व देख लिया गया है। *ऐतरेय उपनिषद्* में "आत्मा वा इदं" इत्यादि वाक्यों में पहले परोक्ष ब्रह्म का कथन किया फिर अध्यारोप और अपवाद के द्वारा प्रज्ञान अर्थात् साक्षी रूप ब्रह्म को दिखाया गया है। ऐतरेय उपनिषद में *"आत्मा वा इदम्ग्र आसीत"* – इस वाक्य से ब्रह्म का लक्षण वर्णन किया है। तत्पश्चात् *"स ऐक्षत लोकान्नुसृजै"* से लेकर *"तस्यपयआवसथास्त्रयः स्वप्नाः अयभावसयोऽयभावसथः"* इस वाक्य पर्यन्त वाक्यों से परमात्मा में जगत के अध्यारोप के प्रकार को बताकर *"स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत् किमिह्वान्यंवावदिषत"* – इस वाक्य से उस आरोप का निषेध कहकर *"स एकमैवपुरुषब्रह्मततमपश्यतइदमदर्शम"* प्रत्यगात्मा साक्षी को ब्रह्म कहा है। फिर *"कोऽममात्मेति वयनुपास्महे"* इत्यादि वाक्य से विचार के द्वारा "ततत्वं" पदार्थो का शोधन करते हुए *"प्रज्ञान ब्रह्मं"* इस श्रुति से प्रज्ञान रूप ब्रह्म साक्षी की ब्रह्मरूपता प्रदर्शित की गई है। प्रत्यक् बोध बुद्धि आदि

---

[1] *स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्रितोमतम्। अहंकारादिहेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते।।*
दृश्यमानस्य सर्वस्य जागतस्तत्तवमीर्यते। ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्।।
--- पंचदशी, 5/7,8

का साक्षी होकर प्रतीत हो रहा है वह अद्वितीय आनंद रूप ब्रह्म ही है और जो अद्वितीय आनंद रूप ब्रह्म ही है और जो अद्वितीय आनंद रूप ब्रह्म है वह चिदेकरस प्रत्यक् साक्षी ही है। अतः अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जीव में से जाड्यांश अन्तःकरण रूप उपाधि को छोड़ देने पर शेष रहे चिदात्मारूप साक्षी में *"अहं ब्रह्मास्मि"* इस वाक्य से ब्रह्मत्व का दर्शन होता है।[1]

सम्पूर्ण दृश्य जड़ विषय अनात्मा है और उसका द्रष्टा स्वयंप्रकाश साक्षी है। दृश्य में चाहे कुछ भी हो उसके साथ साक्षी का कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह कारण, न कर्ता और न भोक्ता है। देश, काल, वस्तु के परिच्छेद भी उसका स्पर्श नहीं कर सकते। बल्कि साक्षी स्वयं सम्पूर्ण परिच्छेदों का द्रष्टा असंग चेतन है। सम्पूर्ण परिच्छेद और परिच्छेदों के अत्यंताभाव से उपलक्षित साक्षी अबाधिक सत् है। उससे पृथक असत् की कोई सत्ता ही नहीं है। इसलिए वह अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द घन ब्रह्म स्वरूप ही है। *"सर्वेंह्येतद ब्रह्म"* यह श्रुति स्पष्ट करती है कि "इदम्" प्रत्यय का जो विषय प्रपंच है वह सब ब्रह्म है और इसी प्रकार *"अयमात्मा ब्रह्म"* में "अयम्" पद से संकेतित प्रत्यगात्मा रूप साक्षी निजस्वरूप ब्रह्म ही है। साक्षी और ब्रह्म एक ही चेतन है।

बृहदाण्यक उपनिषद[2] में कहा है कि उपाधि सन्निधान दशा में तत् उपाधि से विशिष्ट साक्षी उपाधि को देखता है और निरुपाधि होने पर स्वयं ही भासित होता है। इस समय साक्षी में साक्षित्व नहीं कहा जा सकता क्योंकि साक्षित्व साक्ष्य सापेक्ष होता है। जैसे राजत्व राज्य सापेक्ष होता है।

---

[1] *अयमित्य परोक्षत्वमुक्तं तद् द्विविधं भवेत्। विषय स्वप्रकाशत्वाद्धियाप्येवं तदीक्षनात्।। आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम्। अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञान ब्रह्म दर्शिताम्।। प्रत्यग्बोधे य आभाति सोऽद्वयानन्द लक्षणः। अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैक लक्षणः।। अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि। अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते।। -- पंचदशी, 7/49, 68,76,89*

[2] *अतो मात्रादिसम्बन्धो यत्र तत्र निवर्तते। तत्र तत्रैकलः प्रत्यक् स्वमहिम्नैव सिद्धयति।। एतद्वस्तु स्वतः सिद्धं प्रमात्राद्यनपेक्षतः। सर्वस्यैव ततः सिद्धेः कथं सिद्धेत्तदन्यतः।। ---- वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/3/101,102*

यदि राज्य नहीं है तो राजा भी नहीं है। व्यवहार दशा में कल्पित साक्ष्य विषयों के सम्बन्ध से साक्षी में साक्षित्व कल्पित ही है। परमार्थ दशा में जब विषय ही नहीं है तो साक्षित्व कैसे हो सकता है? इस कल्पित साक्षित्व से वास्तविक साक्षी की कोई हानि नहीं हो सकती। प्रमाता आदि उपाधि की जब निवृत्ति हो जाती है तब साक्षी स्वमहिमा से ही सिद्ध होता है एवं स्वयंप्रकाशवान होता है। परमार्थ दशा में साक्षी का विलय ब्रह्म में हो जाता है तथा साक्षी और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता है।

पुनः कहा है कि निरूपाधि स्वरूप आत्मा जो कि क्रिया कारक से रहित स्वभाव वाला है उसके ज्ञान से जीव सप्रयोजक बंध से मुक्त होता है वही साक्षी है। जो सबके भीतर है अर्थात् अपरिछिन्न है। "यत्ः" और "यः" – इन दोनों शब्दों से प्रसिद्ध जो आत्मा है वही ब्रह्म है, वही साक्षी है। यही सर्वान्तर है एवं जो साक्षाद अपरोक्ष अगौण वृहत्तम और सर्वव्यापक है। साक्षी स्वयं प्रकाश होने से साक्षात् अपरोक्ष ही है। साक्षी के इन लक्षणों का ब्रह्म में समावेश हो जाता है। यहाँ शंका होती है कि साक्षात् प्रत्यक्ष मानने पर केवल साक्षात् पद से ही प्रत्यक्ष (साक्षी का) हो जायेगा फिर "अपरोक्ष" पद का क्या प्रयोजन ? यहाँ दृष्टा, दृश्य और दर्शन ये सभी गौण प्रत्यक्ष हैं और इनकी व्यावृत्ति के लिए अपरोक्ष पद को कहा गया है। साक्षी ही अपरोक्ष है कोई दूसरा नहीं। साक्षात् पद से काल का व्यवधान और देश के व्यवधान की भी निवृत्ति की है। ब्रह्मस्वरूप साक्षी में कोई व्यवधान नहीं है। अपरोक्ष भी दो प्रकार का होता है – एक गौण दूसरा मुख्य । *"नाम ब्रह्मेत्युपासीतः"* इत्यादि श्रुति द्वारा निर्दिष्ट नाम आदि में जैसे ब्रह्मत्व गौण है वैसे साक्षी आत्मा में ब्रह्मत्व गौण नहीं है अपितु साक्षी ब्रह्म ही है।[1]

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/4-6*

साक्षी में ब्रह्मत्व है किन्तु अज्ञान से तिरोहित (छिपा) है इसलिए प्रत्यक्षादि से प्रतीत नहीं होता। जैसे घर में घट रहता है किन्तु अंधकारादि से आवृत होने के कारण प्रतीत नहीं होता। अतः घर पर घट नहीं है यह कहना प्रमाणित नहीं है। यदि प्रकाश रहने पर भी घटादि उक्त स्थल में प्रतीत न हो तो घटादि नहीं है, यह कहना प्रमाणित होता है। ऐसे ही प्रकृत साक्षी में ब्रह्मत्व है किन्तु अज्ञान से आवृत होने पर उसका भान नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में यह कहना साक्षी में ब्रह्मत्व होता तो प्रतीत होता, प्रतीत न होने से वह नहीं है – अप्रामाणिक ही है। सर्वान्तर ब्रह्म में भी साक्षित्व है किन्तु अज्ञानावृत होने के कारण वह प्रतीत नहीं होता। *संक्षेप शारीरक* में कहा गया है कि चेतन तत्व ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय होता है, अद्वैत्व आनंदत्वादि रूप से नहीं अपितु प्रत्यक् साक्षी रूप से है। अज्ञान के कारण ही साक्षी तिरोहित होता है वस्तुतः वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ज्ञान हो जाने पर साक्षी का ब्रह्म में अन्तर्भाव हो जाता है और एक मात्र ब्रह्म की सत्ता रह जाती है।

साक्षी के ब्रह्म स्वरूप को स्पष्ट करते हुए *सर्वाज्ञात्ममुनि*[1] ने कहा है कि "परपुरुष" (ब्रह्म) या विशुद्ध चैतन्य स्वाश्रिता माया से उपहित होकर अपने में ही कल्पित निखिल प्रपंच को प्रपंचाकार अविद्या में स्थित अपने आभास द्वारा प्रकाशित करता हुआ साक्षी कहलाता है।" इससे भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्म और साक्षी में आत्मिक वैविध्य नहीं वरन् अभेद ही है। श्रुतियों में भी साक्षी के लिए चेताः, केवलः तथा निर्गुणः ये ब्रह्म बोधक शब्द कहे गये हैं। इससे भी साक्षी का ब्रह्म से अभेद सूचित होता है। पुनः *सर्वाज्ञात्ममुनि* ने कहा है "अज्ञान विनिर्मित इस प्रपंच को कूटस्थ, अद्वितीय, दृश्येतर, अविकारी, परमपुरूष (ब्रह्म) इन्द्रियादि कारणों के बिना

---

[1] *निजमायया परिगतः पुरूषः परतन्त्रया तु निजया प्रभया।*
परिकल्पितं सकलमाकलयन् स हि साक्षितामुपगतो भवति।। संक्षेपशारीरक, 2/30

ही सबका साक्षी होने के रूप से देखता है।"[1] वस्तु से अपरिच्छन्न, देश से अपरिच्छिन्न, काल से अपरिच्छन्न स्वरूपभूत साक्षी ब्रह्म है जो कि अविनाशी, सर्वस्वरूप एवं स्वयंप्रकाश है। साक्षी चैतन्य ब्रह्म ही है यदि उसे ब्रह्म से भिन्न माने तो एकमात्र चैतन्य ब्रह्म है इसका विरोध होगा एवं दो चैतन्य मानने होंगे। इसलिए स्वयंप्रकाश सर्वावभासक साक्षी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अतः स्पष्ट होता है कि ब्रह्म और साक्षी दोनों में अभेद है। दोनों में जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह व्यवहार दशा में है जो कि बहुत ही सूक्ष्म है। परमार्थ दशा में विशुद्ध चैतन्य स्वरूप साक्षी का ब्रह्म में लय हो जाता है। साक्षी ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी व्यवहारिक दृष्टि से इस समस्त जागतिक प्रपंच का शुद्ध, निर्विकार स्वयंप्रकाश तटस्थ दृष्टा है। ब्रह्म को जो *चेताः केवलः निर्गुणः*, प्रज्ञान आदि विशेषण दिये हैं यह ब्रह्म के साक्षी स्वरूप के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। साक्षी को निर्विकार, निर्गुण, स्वयंप्रकाश, तटस्थ, अबाधित, निष्क्रिय, अविक्रिय आदि माना है इससे भी साक्षी का ब्रह्म से अभेद सिद्ध होता है तथा साक्षी ब्रह्म स्वरूप ही है यह भी सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार से यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्म और साक्षी दोनों को अलग-अलग सत्तायें नहीं वरन् एक ही है। फिर भी दोनों को एक मानना तार्किक दृष्टि से उचित नहीं होगा और न ही दोनों एक ही हैं। दोनों में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर है। यद्यपि दोनों ही निर्गुण, निराकार, स्वयंप्रकाश, अविक्रिय, तटस्थ हैं फिर भी यह स्पष्ट है कि ब्रह्म एक निरपेक्ष सत्ता है, जो कि एकमात्र परमार्थ सत्य है एवं जिससे व्यतिरिक्त किसी प्रपंच के संभावना मात्र की कल्पना तक नहीं की जा

---

[1] *तमसा विनिर्मितमिदंसकलं चतुरः स पश्यति परः पुरुषः।*
"अविकारिबोधवपुरद्वयकः" करणेबिना सकल साक्षितया।। संक्षेप शरीरक 2/29

सकती है। ब्रह्म का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, उसे किसी की आवश्यकता नहीं है, इसके विपरीत साक्षी के लिए साक्षीतर सत्ता का होना आवश्यक है, क्योंकि साक्षीतर सत्ता के अभाव में साक्षी का कोई अर्थ नहीं रहता, वह निरर्थक हो जाता है। साक्षी के लिए दृश्य का होना अत्यावश्यक है। अगर कोई दृश्य नहीं है तो द्रष्टा, देखना दोनों ही अर्थहीन हो जाते हैं। ब्रह्म द्रष्टा नहीं है क्योंकि ब्रह्मेतर कोई दृश्य ही नहीं है। ब्रह्मेतर दृश्य अविद्याकृत हैं जबकि ब्रह्म विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है। अतः उसमें साक्षी की अवधारणा आरोपित नहीं की जा सकती। जहाँ तक साक्षी का प्रश्न है उसकी अवधारणा अविद्या के बिना संभव नहीं है क्योंकि अविद्या से ही ज्ञाता, ज्ञेय का भेद होता है तथा ज्ञेय के बिना साक्षी का कोई अर्थ नहीं रहता है। स्पष्ट है कि साक्षी के लिए साक्षीतर सत्ता एवं दृश्य का होना आवश्यक है किन्तु ब्रह्म के लिए यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है न दृश्य, न दृष्टा और न कोई अन्य सत्ता।

अतः स्पष्ट है ब्रह्म और साक्षी में एक सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट सीमा रेखा स्थापित की जा सकती है, इस सीमा रेखा का भेद व्यावहारिक स्तर पर ही सत्य कहा जा सकता है क्योंकि वह व्यावहारिक जगत् का ही द्रष्टा है एवं दृश्य व्यवहार में ही संभव है। परमार्थ तो ज्ञातृ-ज्ञेय भेद से रहित है। वहाँ एक मात्र ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है। साक्षी भी नहीं है। अतः व्यवहार और परमार्थ का भेद अविद्याकृत है। अविद्या की निवृत्ति होते ही व्यवहार तथा परमार्थ का भेद भी समाप्त हो जाता है तब साक्षी का विलय ब्रह्म में हो जाता है तथा एक मात्र परमसत् ब्रह्म ही शेष रहता है। अतः ब्रह्म और साक्षी में व्यवहारतः सूक्ष्म भेद होने पर भी परमार्थतः अभेद हो जाता है।

आत्मा साक्षी

आत्मा का स्वरूप –आत्मतत्व वेदान्तदर्शन का एकमात्र प्रतिपाद्य है। आत्मतत्व ही वेदान्त का आरम्भ बिन्दु एवं चरम गन्तव्य है। आचार्य शंकर ने परम् सत्य के रूप में आत्मतत्व के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है । उन्होने व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के ही अन्तर्गत एक ही तत्व के समन्वय का निरूपण किया है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत आत्मा एवं ब्रह्म को पर्यायवाची कहा गया है।[1] *छान्दोग्योपनिषद्* के अन्तर्गत *'को न आत्मा किं ब्रह्मेति'* पर भाष्य करते हुए *शंकराचार्य* ने आत्मा एवं ब्रह्म में अभेद की बात कही है।[2]

उपदेशसाहस्री के अन्तर्गत भी शंकराचार्य ने *'आत्मा चेदीश्वरोऽस्मीति'*[3] कहकर आत्मा एवं ब्रह्म की अभेदता का प्रतिपादन करते हुए *'स्वप्नस्मृतिप्रकरण'* के अन्तर्गत कहा है कि द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता ही अक्षर परब्रह्म है, क्योंकि द्रष्टादि स्वरूप प्रत्यगात्मा उससे भिन्न नहीं है। अतः परमार्थतः आत्मा ही द्रष्टस्वरूप अक्षर ब्रह्म है।[4] आत्मतत्व के निरूपण के संदर्भ में *उपदेशसाहस्री* के एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि नामरूप का व्याकर्ता और नाम रूप के धर्मो से विलक्षण वह परमात्मा नामरूप को व्यक्त करते हुए इस संसार की रचना करके स्वयं संस्कार और धर्मो से रहित होकर इन नाम और रूपों में प्रविष्ट हो गया।[5] इस

---

[1] *अयमआत्मा ब्रह्म–वृ0उ0 2/5/19; तद् ब्रह्म स आत्मा – तै0उ0 1/5/1; अहं ब्रह्मास्मि वृ0उ0 1/4/10; स्वात्मा ब्रह्म–शा0भा0कठ0उ0 2/4/4*

[2] *अभेदेनात्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मेति । – छा0उ0शा0भा0 5/11/1*

[3] *उ0सा0 1/3/1*

[4] *द्रष्टृश्रौतृ तथा मन्तृ विज्ञात्रेव तदक्षरम् ।*
अद्रष्टाद्यन्यन्न तद्यस्मात्तस्माद् द्रष्टाऽहमक्षरम्।   –उ0सा0 1/14/20

[5] *उ0सा0 2/1/23*

प्रकार सृष्ट्युत्पत्ति से सम्बन्धित यह प्रसंग भी आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य को ही सिद्ध करता है। अतः आत्मा और ब्रह्म में भेद मानने पर आत्मतत्व या ब्रह्मतत्व की सिद्धि कदापि संभव नहीं है।

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते समय शंकराचार्य युक्तिपूर्वक आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं – *"सर्वो हि आत्माऽस्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्"*[1] अर्थात् इस संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो यह अनुभव करता हो कि 'मैं नहीं हूँ।' यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं होता तो संसार के सभी व्यक्ति यह अनुभव करते कि वे नहीं हैं। अतः अनुभव के आधार पर आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध करने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। सूर्य को दिखाने के लिए दीपक की आवश्यकता नहीं होती है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का मत है । सभी प्रमाणादिव्यवहारों का आश्रय होने से आत्मा का अस्तित्व उनसे पूर्व में स्वीकार करना पड़ता है। अतः उसके स्वरूप का निराकरण नहीं किया जा सकता है। आगन्तुक वस्तु का निराकरण किया जाता है, स्वरूप का नहीं। अग्नि की उष्णता का निराकरण अग्नि के द्वारा नहीं किया जाता।[2] अतः आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता है। यदि कोई ऐसा करता है तो वह उन्मत्तप्रलाप ही कहा जायेगा। *याज्ञवल्क्य ने* कहा था – *"अरे विज्ञातारं केन विजानीयात्"*।[3] जो सबको जानने वाला है, हम उसे किस साधन से जान सकते हैं ? इस प्रकार जिसके द्वारा प्रमाणों की सिद्धि होती है उसे किस प्रमाण से जाना जाये,

---

[1] *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1/1/1*

[2] *आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकंहि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।* ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य *2/3/7*

[3] *बृहदारण्कोपनिषद् 2/4/14*

अर्थात् उसके जानने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है उसकी सत्ता तो स्वतः सिद्ध है।

आचार्य सुरेश्वर के अनुसार, व्यावहारिक नामरूपादि से परे, अनन्त (भूमा), निष्कल, अकारक और अक्रिय आत्मा है। वह सभी आत्मज्ञानियों का आत्मा है और हम सबको स्वतः सिद्ध है।[1] इस एक कारिका में आचार्य ने सूत्र रूप में आत्मा का स्वरूप (अद्वैत वेदान्त के अनुसार) दे दिया है। आत्मा नामरूपात्मक जगत् से सर्वथा भिन्न है, विभु है, अणु परिमाण नहीं है। उसमें किसी प्रकार का विभाजन, आन्तरिक और वाह्य नहीं है। आत्मा तो अखण्ड और अस्थूल है।[2] सभी प्राणियों में जीवात्मा रूप से भासित वह आत्मा प्रत्येक को स्वतः सिद्ध है। *'अहम्ऽस्मि'* अनुभव से सिद्ध है कि आत्मा है, क्योंकि ऐसा अनुभव सबको होता है।

'मैं हूँ' 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार की प्रमा आत्मा में प्रमातृत्व का बोध कराती है। किन्तु आत्मा का प्रमातृत्व भी सोपाधिक है क्योंकि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है।[3] जिस प्रकार महार्ध में मणि की प्रभा सदैव निश्चल और शुभ्र होती है तथा निरन्तर चमकती रहती है, और उसके समीप घट आदि अन्य पदार्थों को लाया जाय तो वे चमकने लगते हैं, तथा दूर हटा लिया जाय तो नहीं चमकते, उसी प्रकार आत्मा भी निरन्तर प्रकाश रूप है। लौकिक विषय जब उसके समीप जाते हैं तो वे भी प्रकाशित होते हैं अन्यथा नहीं। लौकिक विषयों के सन्निधान-असन्निधान से आत्मा के प्रकाशत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब घटादि विषय मणि के समीप होते हैं तो हम कहते हैं कि वह (मणि) उन्हें प्रकाशित कर रही है और मणि के उसी अवस्था में रहते हुए भी जब घटादि पदार्थ उसके समीप होते

---

1 *नै०सि० 2.57*
2 *बृ०उप० भाष्य वार्तिक 3/8/8*
3 *सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ... तै० उप० 2/1/1*

हैं तो हम कहते हैं कि रत्नप्रभा इन्हें प्रकाशित नहीं कर रही है।[1] वस्तुतः मणि में प्रकाशतत्व नाम की कोई क्रिया नहीं होती। उसका तो स्वरूप ही प्रकाशमान है। अन्तर केवल पदार्थों के सन्निधानासन्निधान का है और लौकिक प्रयोग में कहे जाने वाले वाक्य उपचार मात्र हैं। कहने का एक ढंग मात्र है। वस्तुतः आत्मा सदैव ज्ञानयुक्त है। किसी अन्य पदार्थ की सहायता से उसमें प्रकाशत्व गुण नहीं पैदा होता।

'नैष्कर्म्यसिद्धि' में आचार्य ने बुद्धि को भी आत्मा द्वारा प्रकाशित बताया है। 'सभी बुद्धियों का प्रकाश आत्मा है। चाहे बुद्धिवृत्तियों के व्यापार उसके सान्निध्य में हों या न हों वह निश्चय रहता है, क्योंकि आत्मा में दूसरों को प्रकाशित करने वाला कोई गुण विद्यमान नहीं रहता। विषय का सान्निध्य और असान्निध्य ही उपचार से उसकी प्रकाशक क्रिया को द्योतित करता है अन्यथा आत्मा में कोई प्रकाश्य क्रिया नहीं रहती।'[2] आत्मा ही सभी परिवर्तनों का अपरिवर्तित कारण है। आत्मा स्वयंप्रकाश स्वरूप है[3], उसे अपना बोध कराने के लिए किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं है।[4]

भामती के अन्तर्गत *वाचस्पति मिश्र* कहते हैं कि आत्मा को अवश्य ही अपरोक्ष मानना चाहिए, क्योंकि यदि आत्मा को अप्रकाशित माना जायेगा तो जगत् अन्धकारमय हो जायेगा क्योंकि जगत् जड़ है, वह स्वतः प्रकाशित नहीं है तथा दृश्यत्व के कारण ही समस्त जागतिक पदार्थ परस्पर भी प्रकाशित होने वाले नहीं हैं। यदि ज्ञेय पदार्थों की तरह ज्ञाता भी जड़

---

1 *यथा जात्यमणेः शुभ्रा ज्वलन्ती निश्चला शिखा।*
सान्निध्यसंनिधानेषु घटादीनामविक्रिया।।
यदवस्था व्यनक्तीति तदवस्थैव सा पुनः।
भण्यते न व्यनक्तीति घटादीनामसन्निधौ।। नै०सि० 2.64-65

2 *नै०सि० 2/66/66*

3 *ज्ञानालोकस्वभावतः । - उ०सा० 1/15/40*
स्वयंवेद्यत्वपर्यायः स्वप्रमाणक इष्यताम्। - उ०सा० 1/8/203

4 *स्वबौधान्नान्यबोधेच्छा बोधस्यात्मप्रकाशने। उ०सा० 1/15/41*

हो तो किसी प्रकार का अनुभव संभव नहीं हो सकता। अतः चैतन्यस्वरूप, आत्मतत्व को विषयानुभूति की प्रकाशमानता के रूप में अवश्य माना जाता है।

उपदेशसाहस्री के अन्तर्गत शंकराचार्य कहते हैं कि अहंकारादि समस्त विकार सकर्तृक और कर्मफल से संहृत है, अतः सूर्य के समान सर्वथा चेतनस्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होते हैं।[1] इस प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा अन्य-निरपेक्ष स्वतः सिद्ध है।

आत्मा *'स्वयं ज्योतिः'* अर्थात् स्वयम्प्रकाशस्वरूप है। *वृहदारण्यकोपनिषद्* में लिखा है – *"अत्राऽयं पुरुषः ज्योतिः"*[2] तथा उसे *"आत्मैवास्य ज्योतिः"*[3] के रूप में स्मरण किया गया है। उपर्युक्त श्रुतिवाक्यों से आत्मा का स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है। कोई यहाँ शंका कर सकता है कि उपर्युक्त श्रुतिवाक्य स्वप्नावस्था के प्रसंग में कहे गये हैं। स्वप्नावस्था में मन भी अवस्थित रहता है, अतः मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होना क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता? इस विषय पर चित्सुखाचार्य और विद्यारण्य मुनि ने विस्तार से विचार किया है। विद्यारण्यमुनि मानते हैं कि स्वप्न में मन ही गज आदि के रूप में परिणत होकर अवभासित होता है, अतः आत्मा का स्वप्रकाशत्व सिद्ध हो जाता है। इस विषय में चित्सुखाचार्य का कथन है –

चिद्रूपत्वादकर्मत्वात् स्वयं ज्योतिरिति श्रुतेः ।

आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः ।।[4]

आत्मा चिद्रूप है तथा अक्रिय है। श्रुति में उसे स्वयं ज्योतिः कहा गया है, इसलिए उसके स्वप्रकाशत्व का कोई निषेध नहीं कर सकता है।

---

[1] *उ०सा० 1/14/43*
[2] *वृहदारण्यकोपनिषद्, 4/3/9*
[3] *वही 4/3/9*
[4] *चित्सुखी, पृ० 38*

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है – *"तमेव भान्तमनुमाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"*[1] अर्थात् उस आत्मा के प्रकाशस्वरूप होने से संसार के सभी पदार्थ प्रकाशित होते हैं। वेदान्त में इस तथ्य को *'घटप्रदीपन्याय'* से प्रकट किया गया है। भाव यह है कि जैसे घट में रखा हुआ दीपक उसके छिद्रों से प्रकाश विकीर्ण करता हआ अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी प्रकाशयुक्त रहता है। ऐसे ही आत्मा भी इन्द्रियादि करणों के माध्यम से घट आदि बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी प्रकाशस्वरूप रहता है। यह जाग्रत् अवस्था का विवरण है। *पंञ्चदशी* में अन्यत्र 'नाटकदीप' प्रकरण में यह प्रतिपादित किया गया है कि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि के न रहने पर भी अर्थात् उनके व्यापाराभाव में भी आत्मा स्वयं भासित रहता है। इस तथ्य को विद्यारण्य ने नृत्यशाला में स्थापित दीप के माध्यम से प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि जैसे नृत्यशाला में रखा हुआ दीपक नृत्यशाला के स्वामी, नृत्य देखने के लिए उपस्थित सभ्यों एवं नर्तकी को समान रूप से प्रकाशित करता है । स्वामी आदि के न रहने पर भी स्वयं प्रदीप्त होता रहता है वैसे ही साक्षी रूप आत्मा अहंकार, बुद्धि और विषयों को प्रकाशित करता है। सुषुप्ति अवस्था में अहंकार आदि के अविद्यमान होने पर स्वयं प्रकाशित होता रहता है।[2] इससे सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है तथा अपने प्रकाश से इन्द्रियों के माध्यम से अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है।

आत्मा स्वयंप्रकाशस्वरूप है। पदार्थों एवं इन्द्रियादि करणों की उपस्थिति या अनुपस्थिति से उसके स्वयम्प्रकाशत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अपितु पदार्थ ही प्रकाशित या अप्रकाशित अवश्य होते हैं। इस

---

1 *मुण्डकोपनिषद् 2/2/10*
2 *पंचदशी, 9/11/12*

विषय को सुरेश्वराचार्य ने *नैष्कर्म्यसिद्धि* में कहा है कि जिस प्रकार मणि के सामीप्य में आने वाले घट आदि पदार्थ प्रकाशित होने लगते हैं। उनके हटा दिये जाने पर भी वह मणि पूर्ववत् देदीप्यमान रहती है ठीक इसी प्रकार लौकिक पदार्थ भी आत्मा की सन्निधि में प्रकाशित होते हैं, उनकी असन्निधि होने पर आत्मा स्वयं प्रकाशित रहता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयम्प्रकाशस्वरूप है। उसके प्रकाश से लौकिक पदार्थ प्रकाशित होते हैं अर्थात् ज्ञान का विषय बनते हैं। इन्द्रिय और मन आदि भी करण के रूप में अवस्थित होने पर प्रकाश का साधन बनते हैं। सुषुप्ति अवस्था में इनका अभाव होने पर आत्मज्योति प्रज्वलित रहती है।

आत्मा सत्-चित् और आनन्द स्वरूप है। 'सत्' किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए शंकराचार्य ने तत्वबोध में लिखा है- *'कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्'*[1] अर्थात् जो तीनों कालों - वर्तमान, भूत एवं भविष्यत् में विद्यमान रहता है, यह सत् है। *विद्वन्मनोरञ्जनी* में इसी भाव को विशद करते हुए लिखा है- *"अनृतशून्यव्यावृत्तं बाधाभावोपलक्षितस्वरूपसत्ताकम्"।*[2]

अर्थात् जो अनृत एवं शून्य से व्यावृत्त है, जिसका स्वरूप तीनों कालों में अबाधित रहता है, वह 'सत्' है। आत्मा की सद्रूपता उसके अनेक गुणों को उपलक्षित करती है। 'सत्' शब्द से उसे अमर, नित्य, शाश्वत, पुराण एवं अजन्मा आदि के रूप में जाना जाता है।

आत्मा चिद्रूप हैं। नृसिंह सरस्वती के अनुसार 'चित्' का अर्थ है - 'स्वप्रकाश-चैतन्यस्वरूप'। चैतन्य का अर्थ है- ज्ञान। इस प्रकार प्रकारान्तर से आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा जा सकता है। ज्ञानस्वरूप होने से वह जगत् के सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है। उपनिषदों में कहा गया है-

---

[1] *तत्वबोध (प्रकरणग्रन्थ) पृ0 27*
[2] *वेदान्तसार (विद्वन्मनोरञ्जनी), पृ0 63*

"तदेव ज्योतिषां ज्योतिः।" तथा *"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"*[1] अर्थात् वह आत्मा सभी प्रकाशों का प्रकाश है। उसके प्रकाश से यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। चिद्रूपत्व के कारण आत्मा का स्वप्रकाशत्व पहले प्रतिपादित कर दिया गया है। आत्मा का चिद्रूपत्व उसमें जड़भाव का भी निषेध करता है।

आत्मा आनन्दरूप है। उपनिषदों में उसकी आनन्दरूपता को प्रतिपादित करने वाले अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यथा– *"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।"*[2] *आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।*[3] *तथा "आनन्दोब्रह्मेतिव्यजानात्।"*[4] इन श्रुतिवाक्यों से आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध होती है।

विद्यारण्य ने आत्मा को परमानन्दस्वरूप कहा है। परमात्मानन्दस्वरूपता से उनका तात्पर्य है– निरतिशयसुखस्वरूपता। आत्मा की निरतिशयसुख–स्वरूपता को निम्नलिखित अनुमान–प्रयोग से सिद्ध किया जा सकता है–

आत्मा परमानन्दरूप है,

परम प्रेम का स्थान होने से।

जो परमानन्दस्वरूप नहीं होता है वह परम प्रेमास्पद भी नहीं होता है जैसे घट। यह घट परम प्रेम का आस्पद नहीं है। अतः परमानन्दरूप भी नहीं है। परन्तु आत्मा घट के समान नहीं है, इसलिए वह परमानन्दस्वरूप ही है। विद्यारण्य ने एक लौकिक उदाहरण देकर आत्मा की "परमानन्दता" सिद्ध की है। उन्होने *पञ्चदशी* में लिखा है अर्थात् अपने से अन्यत्र पुत्रादि में जो प्रेम है वह आत्मा के लिए है परन्तु आत्मा के

---

1 *कठोपनिषद्, 2/2/15*
2 *बृहदारण्यकोपनिषद्, 3/9/28*
3 *मुण्डकोपनिषद्, 2/2/7*
4 *तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/6/1*

लिए जो प्रेम है वह दूसरे के लिए नहीं है, इसलिए आत्मगत प्रेम ही निरुपाधिक होने से परम अर्थात् सर्वाधिक है। अतः आत्मा को परम आनन्दस्वरूप मानना युक्तियुक्त है।[1]

सुरेश्वराचार्य ने आत्मा की आनन्दमयता युक्ति के आधार पर की है। उनका कथन है- यदि आत्मा को दुःखी माना जाये तो 'मैं दुःखी हूँ' इस अनुभव का साक्षी कौन होगा। जो दुःखी है वह साक्षी नहीं हो सकता और साक्षी को दुःखी मानना अयुक्तिमत है। विकार के बिना आत्मा दुःखी नहीं हो सकता और यदि आत्मा विकारी है तो वह साक्षी नहीं हो सकता है। बुद्धि में प्रतीत होने वाले हजारों विकारी लोग साक्षी नहीं हो सकते हैं। बुद्धि से प्रतीत होने वाले हजारों विकारों का मैं (आत्मा) साक्षी हूँ। इसलिए मैं विकारहीन हूँ। यहाँ आत्मा की दुःखशून्यता के द्वारा उसे अविकारी, साक्षी तथा आनन्दमय सिद्ध किया है।

आत्मा का साक्षित्व -

वह साक्षी क्या है? क्या वह आत्मा है? क्या वह ब्रह्म है? या इन सबसे विलक्षण कुछ अन्य ही है। भिन्न भिन्न विद्वानों ने इस विषय पर भिन्न भिन्न मत दिये हैं। आचार्य शंकर ने आत्मा को ही साक्षी कहा है। आत्मा मात्र साक्षी है, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव नहीं। कर्त्ता, भोक्ता, श्रोता तो अहंकार है। आत्मा केवल इन विकृतियों का साक्षी है।[2] आत्मा स्वयं अपना ही साक्षी है, क्योंकि वह स्वयं अपने आप से अनुभव किया जाता है, इसलिए इससे परे और कोई अन्य इसका साक्षी नहीं है।[3]

---

[1] *तत्प्रेमात्मार्थमन्य. नैवान्यार्थमात्मनि।*
अतस्तत् परमं तेन परमानन्दतात्मनः ।। पंचदशी 1/19

[2] *वे०सि०सा०सं० 424-25*

[3] *वि०चू० 218*

उपदेशसाहस्री के अन्तर्गत *शङ्कराचार्य* कहते हैं कि साक्षी आत्मा को यत्र तत्र सर्वदा ही बुद्धि वृत्ति पर आरूढ़ हुई समस्त की प्रतीति होती है।[1] दीपक का दृष्टान्त देते हुए *उपदेशसाहस्रीकार* कहते हैं कि जिस प्रकार एक स्थान पर स्थित हुआ दीपक अपने समीप आए हुए सभी पदार्थों को बिना किसी प्रयत्न के प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार शब्दाद्याकार में परिणत एवं अपने को प्राप्त हुई बुद्धिवृत्तियों का आत्मा साक्षी है।[2] इसके अतिरिक्त उदित और नष्ट होती हुई वृत्तियों का ज्ञान या प्रकाशन भी साक्षी द्वारा ही होता है।[3] वृत्तियाँ स्वयं अपने उदय और विनाश की प्रकाशित नहीं कर सकती।

उपदेशसाहस्रीकार के अनुसार सर्वप्रत्ययों का साक्षी आत्मा ज्ञानस्वरूप है।[4] समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपंच वेद्य है, अतः इनका वेत्ता कोई अन्य ही साक्षी है और वह आत्मा है। दृश्य पदार्थ घटादि के समान दृश्य होने के कारण ही सर्वदा द्रष्टा से भिन्न होते है।[5] द्रष्टा दृश्य का सजातीय नही होता। अन्यथा बुद्धि के समान परिणामी होने से उसकी साक्षिता सिद्ध नहीं हो सकती।[6]

निष्क्रियता साक्षी आत्मा को ईश्वर से भिन्न करती है। साक्षी आत्मा की निष्क्रियता स्पष्ट करते हुए *उपदेशसाहस्रीकार* कहते हैं कि जिस प्रकार चुम्बक अपनी सन्निधिमात्र से लौहखण्ड का भ्रामक एवं प्रवर्तक होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को भ्रमाता हुआ भी साक्षी आत्मा राजा के

---

1 *बुद्ध्यारूढं सदा सर्वं दृश्यते यत्र तत्र वा।*
मया तस्मात्परं ब्रह्म सर्वज्ञश्चास्मि सर्वगः।। उ0सा0 *1/7/1*

2 *स्थितो दीपो यथाऽयत्नः प्राप्तं सर्वं प्रकाशयेत्।*
शब्दाद्याकारबुद्धीन्नैः प्राप्तास्तद्वत्प्रपश्यति।। –उ0सा0 1/16/6

3 *येनात्मनाविलीयन्ते उद्भवन्ति च वृत्तयः।*
नित्यावगतये तस्मै नमो धीप्रत्ययात्मने।। –उ0सा0 1/18/1

4 *सर्वप्रत्ययसाक्षीज्ञः। – उ0सा0 1/15/38*

5 *उ0सा0 1/18/52*

6 *द्रष्टुश्चान्यद्भवेद् दृश्यं दृश्यत्वाद् घटवत्सदा। दृश्याद् द्रष्टसजातीयो न धीवत्साक्षितान्यथा।। – उ0सा0 1/15/4*

समान साक्षी मात्र होने के कारण निष्क्रिय, अकर्ता और अद्वितीय है।[1] साक्षी रूप आत्मा और ईश्वर, एक ही नहीं है, क्योंकि साक्षी को निरपेक्ष, परम तथा निर्गुण कहा गया है।[2]

साक्षी रूप आत्मा जीव से भिन्न है। जीवात्मा को साक्षी इसलिए नहीं कह सकते, क्योंकि लौकिक और वैदिक व्यवहारों को अविरत रूप से करने वाले जीवात्मा में औदासीन्य और द्रष्ट्रत्व का अभाव होता है। *तयोरन्यःपिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्यो अभिचाशीति*[3] श्रुति भी कर्मफलभोक्ता जीव से पृथक् उदासीन प्रकाश रूप साक्षी का प्रतिपादन करती है। जीव और साक्षी के सम्बन्ध में उपदेशसाहस्रीकार का कथन है कि आत्मा शिरोदुःखादि से अपने को 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा देखता है। अतः अपने दृश्यभूत दुःखी से उसका द्रष्टा आत्मा भिन्न है और द्रष्टा होने के कारण वह दुःखी भी नहीं है।[4] तथा जीव जो दुःखी है वह दुःखी अन्तःकरण में अभिमान करने के कारण है, दुःख विशिष्ट अन्तःकरण का साक्षी होने के कारण साक्षी आत्मा दुःखी नहीं है। क्योंकि यदि साक्षीमात्र होने से दुःख होता तो अन्य दुःखी जीवों को देखकर भी उसे दुःखी हो जाना चाहिए था। अतः हस्तपादादि अड.गों से संहत देह में जो दुःख है, उसका साक्षी आत्मा दुःखी नहीं है।[5] इस प्रकार *उपदेशसाहस्री* के अनुसार शुद्ध साक्षीपात्र आत्मा विषयदर्शी जीव से सर्वदा भिन्न रहता है।[6]

---

[1] *राजवत्साक्षिमात्रत्वात्सांनिध्याद भ्रामको यथा।*
न्भ्रामय जगदात्माहं निष्क्रियोऽकारकोऽद्वयः।। – उ0सा0 1/17/80

[2] *साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। श्वे0उ0 6/11*
साक्षी चेताऽगुणाः शुद्धो ब्रह्मैवासमीतिकेवलः। – उ0सा0 1/1/16

[3] *मु0उ0 3/1/1*

[4] *शिरोदुखादिनात्मानं दुःख्यंस्मीति हि पश्यति ।*
द्रष्टान्यो दुःखिनो दृश्याद् द्रष्ट्रत्वाच्च न दुःख्यसौ ।। – उ0सा0 1/1/6

[5] *दुःखी स्याददुख्यहंमानाददुःखिनो दर्शनान्न वा ।*
संहतेऽङ्गादिभिर्द्रष्टा दुःखी दुःखस्य नैव सः ।। – उ0सा0 1/16/9

[6] *अनुभूयन्त एवेह ततोऽन्यः केवलो दृशिः । – उ0सा0 1/11/10*

शंकरोत्तर विद्वानों में विद्यारण्य ने *पंचदशी* के 'कूटस्थदीप' प्रकरण में साक्षी को कूटस्थ कहा है।[1] यह निर्विकार चैतन्य है तथा स्थूल और सूक्ष्म इन दो देहों का अधिष्ठान है। उनके कार्यो का साक्षात् ईक्षण करने पर भी स्वयं निर्विकार है।[2] फलोपभोग करने वाले अहं का कार्य जब समाप्त हो जाता है तो यह साक्षी रूप आत्मा ही दोनों प्रकार की देहों का ज्ञाता होता है। इनका प्रकाशन साक्षी के कारण ही होता है।

'नाटकदीप प्रकरण' में साक्षी की तुलना नाटकशाला में रखे दीपक के समान की है। नृत्यशाला में रखा दीपक, नृत्यशाला के स्वामी, सभ्यों और नर्तकी को बिना भेदभाव के प्रकाशित करता है और उन स्वामी आदि के उपस्थित न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है। इसी प्रकार साक्षी अहंकार, बुद्धि और विषयों को प्रकाशित किया करता है और सुषुप्ति आदि के समय अहंकार आदि के न रहने पर भी स्वयं प्रकाशित होता रहता है।[3] जैसे दीपक अपने स्थल पर रखा हुआ, गमनादि क्रिया से विकाररहित हुआ अपने समीपस्थ चारों ओर के पदार्थो को प्रकाशित करता है, ऐसे ही स्थिर, स्थायी अर्थात् तीनों कालों में अचल, निर्विकार साक्षी भी बाहर-भीतर प्रकाशित करता रहता है।[4]

विद्यारण्य के मत में साक्षी रूप आत्मा निर्विकार चैतन्य है और यह स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थो की प्रतीति का अधिष्ठान है, उनके कार्यो का निरीक्षण करता है किन्तु किसी प्रकार भी उनसे प्रभावित नहीं होता।[5] साक्षी – आत्मा और जीव के सम्बन्ध में विद्यारण्य का मत स्पष्ट है कि साक्षी रूप आत्मा को जीव के समान न समझना चाहिए, क्योंकि जीव जीवन के विविध व्यापारों में भाग लेता है। साक्षी आत्मा एक समान

---

[1] *पं०द० 8.25*

[2] *सि०ले०सं०, अ01,पृ0 185*

[3] *पं०द० 9, 11–12*

[4] *वही, 9, 15*

[5] *पंचदशी, 10/9*

जीव, अन्तःकरण तथा प्रमेय पदार्थो को प्रकाशित करता है तथा सुषुप्ति अवस्था में अहड्.कारादि के अनुपस्थित रहने पर भी उसके साक्षी रूप से प्रकाशित रहता है।[1]

तत्वप्रदीपिका में साक्षी आत्मा को विशुद्ध ब्रह्म के नाम से कहा गया है। *तत्वप्रदीपिकाकार* के अनुसार सम्पूर्ण अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्यात्मक जीवों के अधिष्ठान रूप से अत्यन्त अन्तरड्.ग स्वरूपभूत, जीवत्व, ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित और तत् तत् जीवों का अधिष्ठान होने से उन-उन जीवों के साथ ब्रह्म का तादात्म्य होने के कारण प्रत्येक शरीर के भेद को प्राप्त हुआ ब्रह्म ही साक्षी है, क्योंकि मायोपहित सगुण परमेश्वर में *'केवलो निर्गुणश्च'* इत्यादि विशेषण की उपपत्ति नहीं हो सकती है।[2] इस प्रकार *तत्वप्रदीपिकाकार* ने जीव और ईश्वर से रहित शुद्ध चिदात्मा को ही साक्षी माना है।

'तत्वप्रदीपिका'[3] में चित्सुखाचार्य ने द्रष्टा और 'प्रमाता' में भेद किया है। प्रमाता वह है जो प्रमाणों से विषयों का ज्ञान करता है किन्तु साक्षी इस प्रकार का नहीं है। सुषुप्ति आदि अवस्था में जब प्रमाणों का अभाव रहता है तब भी साक्षी वहाँ अविद्या को प्रकाशित करता है। 'साक्षी रूप आत्मा को विशुद्ध ब्रह्म के नाम से कहा है, जो प्राणिमात्र का सार्वभौम तथा व्यापक आत्मा है और जो प्रत्येक जीवात्मा का अधिष्ठान होने के कारण जीवों के अनेक होने से अनेक रूप प्रतीत होता है। साक्षी रूप आत्मा और सोपाधिक ब्रह्म अर्थात् ईश्वर एक ही नहीं है, क्योंकि इसे

---

1 *पंचदशी 10/12*

2 *तत्वप्रदीपिकायामपि मायाशबलिते सगुणे परमतेश्वरे 'केवलो निर्गुश्च' इति विशेषणानुपपत्तेः सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्म जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपद्यते इत्युदितम्। - सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद*

3 *तत्वप्रदीपिका, पृ0 373*

निरपेक्ष, परम तथा निर्गुण कहा गया है और न साक्षी रूप आत्मा तथा जीव एक ही है, क्योंकि जीवकर्ता तथा कर्मों और उनके फलों का भोक्ता है।"[1]

तत्त्वकौमुदीकार का कथन है कि ईश्वर का एक विशेष रूप ही साक्षी है। *'एकोदेवः'*[2] इत्यादि साक्षी के स्वरूप का निरूपण करने वाली श्रुति के अनुसार ईश्वर का ही कोई भेद, जो कि जीव की प्रवृत्ति-निवृत्ति का अनुमोदन करने वाला और स्वयं उदासीन है, वही साक्षी है।[3]

'तत्वशुद्धि' में कहा गया है कि 'इदं रजतम्' में वास्तव में इदमंश शुक्तिकोटि के अर्न्तगत होने पर भी प्रतिभास मात्र से रजतकोटि (रजत से अभिन्न-सा) प्रतीत होता है, वैसे ही यद्यपि वस्तुतः साक्षी ब्रह्मकोटि का है, तथापि प्रतिभामतः जीवकोटि का सा प्रतीत होता है।[4]

इस प्रकार अविद्या रूप उपाधि से युक्त जीव, साक्षात् द्रष्टा होने से और कर्तृत्वादि आरोप का भागी होने पर भी स्वयं उदासीन होने से साक्षी है। कुछ अन्य इस मत के विरूद्ध आक्षेप करते हैं कि अविद्योपाधिक जीव को साक्षी स्वीकार करने पर यदि अपने अन्तःकरण का भासक साक्षी ही अन्य पुरूष के अन्तःकरण का साक्षी है तो वह साक्षी रूप जीव अपने मन को ही नहीं अपितु अन्य प्राणियों के मनों को प्रकाशित करने के योग्य होना चाहिए। किन्तु अनुभव इसके विरूद्ध है अतः अविद्योपाधिक जीव साक्षी नहीं अपितु अन्तःकरणोपाधिक जीव ही साक्षी है। अर्थात् विशिष्ट और उपहितों का भेद सिद्धान्तसम्मत होने से अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य प्रमाता और अन्तःकरणोपहित चैतन्य साक्षी है।[5]

---

1 *राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भा0 2, पृ0 600-601*
2 *श्वेता0 उप0 6.11*
3 *सिं0ले0सं0, पृ0 185*
4 *वही, पृ0 186*
5 *अन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी........ अन्तःकरण विशिष्टः प्रमाता ।*
वही, पृ0 190-91

पंचम-अध्याय

ईश्वर-साक्षी

ईश्वर का स्वरूप -

निर्गुण, निरुपाधिक, निर्विशेष ब्रह्म माया के अवच्छिन्न होने पर सगुण, सोपाधिक एवं सविशेष बनकर ईश्वर कहलाता है। यह ईश्वर ही जगत की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण है। निर्गुण एवं निरूपाधिक ब्रह्म में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत कारणत्व आदि व्यवहारों की उपपत्ति न हो सकने के कारण मायावच्छिन्न ब्रह्म में ही ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत-कारणत्व आदि की उपपत्ति होती है।[1] माया ईश्वर के अधीन है, अतः वह उसके स्वभाव का आवरण करने में असमर्थ है। जिस प्रकार विशुद्ध दर्पण पदार्थों के गुणों का आवरण नहीं करता है, उसी प्रकार शुद्ध सत्वमयी माया ईश्वर के गुणों का आवरण नहीं करती है और यह उसमें अविद्या तथा अन्तःकरण आदि की सृष्टि नहीं करती है। माया की सहायता से ईश्वर जगत की सृष्टि करता है। जगत की सृष्टि में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि श्रुति में उसे 'आप्तकाम' एवं 'निःस्पृह' कहा गया है। यदि सृष्टि व्यापार से ईश्वर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता तो उसे आप्तकाम कैसे कहा जा सकता है? अतः ईश्वर का जगत व्यापार लीला मात्र है, किसी प्रयोजन या कामना की पूर्ति के लिए नहीं है।[2] ईश्वर जगत् का स्वामी है। वह जीव को उनके शुभ एवं अशुभ कर्मो के अनुसार फल प्रदान करता है। ईश्वर और जीव में अंश-अंशी भाव सम्बन्ध भी माना गया है, किन्तु जीव और ईश्वर का यह अंशांशिभाव औपाधिक है,

---

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 2/1/14

एवमीश्वरस्यानपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति।
ब्र0सू0शा0भा0 2/1/33

पारमार्थिक नहीं। परमार्थतः निरवयव ब्रह्म का अंश सम्भव नहीं है।[1] यदि उसका अंश माना जाये तो वह निरवयव नहीं माना जा सकता है। अतः एक अद्वितीय निर्विशेष निरूपाधिक ब्रह्म ही उपाधिभेद से ईश्वर तथा जीव के रूप में अवभासित होता है। शंकराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त में ईश्वर जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते हैं।

मधुसूदन सरस्वती की उक्ति है– *"तत्र दृक्पदार्थः आत्मा पारमार्थिकः एकः सर्वदिकरूपाप्योपाधिकभेदेन त्रिविधः।"*[2] उनके अनुसार उपहित चैतन्य तीन प्रकार के हैं – ईश्वर, साक्षी और जीव ।

वस्तुतः अद्वितीय आत्म तत्व में कोई भी व्यवस्था नहीं है तथापि जीव ईश्वर विभाग आदि कल्पना पुरूष बुद्धि[3] द्वारा उत्पन्न है और तत्व ज्ञानोपयोगी होने से शास्त्र से भी अनूदित है। जीव उपाधि से अभिभूत होने के कारण संसारोपलब्धि करता है और परमेश्वर उपाधि के वशीभूत होकर सर्वज्ञादि कहा जाता है। इस प्रकार अविद्यावश जीवेश्वर[4] विभागादि व्यवस्था मधुसूदन सरस्वती के कथनानुसार उत्पन्न होती है।

ब्रह्मानन्द सरस्वती ने उपहित चैतन्य के दो भेद माने हैं – "उपहिता तु ईश्वर[5]– जीवभेदेन द्विविध" अर्थात् (1) ईश्वर और (2) जीव के भेद से चैतन्य के दो प्रकार है। उन्होंने ईश्वर चिन्मय, अशरीरी तथा ब्रह्म की सगुणरूप कल्पना कहा है, जो उपासको का कार्य सिद्धि के प्रयोजन के लिए है।

---

[1] *नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति। वही 2/3/43*

[2] *बिन्दु प्रपात व्याख्या सहित सि0बि0, पृ0 89*

[3] *वही, पृ0 51,52*

[4] *वही, पृ0 54*

[5] *न्या0र0, पृ0 3*

अवच्छेदवाद –

अवच्छेदवादी वाचस्पति मिश्र के अनुसार अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ही ईश्वर है।[1] जीवाश्रिता अविद्या निमित्त[2] रूप से तथा विषय रूप से ईश्वर को आश्रय करती है। वाचस्पति मिश्र के ईश्वर सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए *वेदान्त कल्पतरूकार* ने कहा है –

जीवास्थाया अविद्याया विषयं ब्रह्म शुक्तिवत्।

ऊचे वाचस्पतेर्भाष्यश्रुत्योहृदय वेदिता।।[3]

भामती के व्याख्याकार पं० लक्ष्मीनाथ झा ने प्रथम श्लोक की व्याख्या (प्रकाश) के अन्त में निष्कर्ष रूप से वाचस्पतिसम्मत ईश्वर विषयक मान्यता को स्पष्ट किया है। "अत्रायं निष्कर्षः – *जीवाश्रिता ब्रह्मविषयिणी अविद्या जगदाकारेण परिणमते ईश्वरंच तत्र कर्तृतया निमित्तम्। तदपिभूतसृष्टौ साक्षात्, भौतिक सृष्टौ च हिरण्यगर्भद्वारा। ब्रह्म तु जीवाविद्या विषयतयोपादानम्। तदप्युपहितमेव तदभिन्नतयेश्वरोप्युपादान मुच्यते।*"[4] अर्थात् जीवाश्रित ब्रह्म विषयक अविद्या जगदाकार रूप में परिणत होती है। ईश्वर जगत्सृष्टि में कर्तृतया निमित्त है। फिर भी भूत सृष्टि में साक्षात् रूप से और भौतिक सृष्टि में हिरण्यगर्भ द्वारा कारण है। ब्रह्मजीवाविद्या का विषय होने के कारण उपादान कहा जाता है फिर भी अविद्याविषयत्वोपहित की तदभिन्न रूप से जगदुपादान माना जाता है।

अधिकांश अद्वैत वेदान्ती शुद्ध चैतन्य को अविद्या का विषय मानते हैं लेकिन वाचस्पति मिश्र अविद्या का विषय ईश्वर को मानते हैं। अज्ञानाश्रयी

---

[1] *न्या०र०, पृ० 227*
[2] *भामती, पृ० 378*
[3] *वेदान्त कल्पतरू, पृ० 386*
[4] *ब्र०सू०शां०भा० (चतुस्सूत्रीपर्यन्तम्) प्रकाशटीका संवलित, पृ० 8।*
भामती, पृ० 166

भूतस्यैव अज्ञानविषयत्वात् तदुपहित चिदेव ईश इति भावः।[1] अर्थात् अज्ञान का अनाश्रयीभूत चैतन्य, अज्ञान का विषय (अज्ञानोपहित चैतन्य) ईश्वर है। वाचस्पति मिश्र के मत में स्वाज्ञानोपहिततया जीव जगत् का उपादान है, अतएव ईश्वर को औपचारिक रूप से जगत्कारण माना जाता है। कल्पतरूकार ने जीवाविद्या के विषय ईश्वर को जगत् का विवर्त कारण माना है।

प्रतिबिम्बवाद -

- विवरणकार के अनुसार माया और अविद्या एक ही है। मधुसूदन सरस्वती ने विवरणकार के मत का उल्लेख करते हुए अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य[2] को ईश्वर कहा है तथा प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव माना है। इस प्रकार बिम्ब स्थानीय परमेश्वर, उपाधि दोष से अनास्कन्दित तथा प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव उपाधि दोष से आस्कन्दित माना जाता है। प्रतिबिम्बवाद का विस्तृत विचार, जीव विचार के संदर्भ में वादत्रयी के रूप में किया गया है। तदनुसार प्रतिबिम्बन अथवा प्रतिफलन उपाधि के अतिरिक्त बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब सापेक्ष होता है, जीव और ईश्वर के प्रतिबिम्ब तथा बिम्ब होने में अविद्या उपाधि है। इस निर्णय के पक्ष में प्रतिबिम्बवादी निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।[3]

ईश्वर, सर्वज्ञं, सर्वशक्तिमान, जगत्कारण और उपाधि प्रयुक्त दोषों से असंपृक्त अथवा असंसृष्ट रहता है, इसलिए विवरणकार के मत में ईश्वर बिम्ब चैतन्य माना जाता है। ईश्वर अविद्या रूप उपाधि में अन्तर्गत न होते हुए भी उपाध्यान्तर्गत रूप से अभिन्न होकर वहिःस्थित अर्थात् औपाधिक दोष रहित रहता है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपातिनी

---

[1] *सि0वि0 (वि0प्र0टी0 सहित), पृ0 89*
[2] *वि0प्र0 व्याख्या सहित सि0बि0, पृ0 48 (अज्ञानोपहितं बिम्ब चैतन्यमीश्वरः)*
[3] *गूढार्थदीपिका अध्याय 7, श्लोक 14*

होती है अर्थात् उपाधि प्रयुक्त दोष प्रतिबिम्ब में ही आते हैं बिम्ब में नहीं। जैसा कि मधुसूदन सरस्वती ने *"अद्वैतसिद्धि"* में कहा है – *दर्पणस्य मुखमात्र सम्बन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बेब्रह्मणि, उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्"।*[1] अर्थात् दर्पणादिगत मालिन्यादि दोषदर्पण में ही देखे जाते हैं, बिम्बरूप ग्रीवास्य मुख में उनका भाव नहीं होता है, उसी प्रकार प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव में संसार है न कि बिम्बभूत ईश्वर में, क्योंकि उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपातिनी होती है। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने *लघुचन्द्रिका टीका* में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि – जिस प्रकार मलिन दर्पण स्वगत मालिन्य को स्वान्तर्गत प्रतिबिम्ब में ही उत्पन्न करता है बिम्ब में नहीं उसी प्रकार अविद्या संसर्ग के कारण जीव उपाधि दोष संकुल होकर कर्त्ता, भोक्ता संसारी कहा जाता है। अतएव अतः जीव को प्रतिबिम्बभूत चैतन्य ही कहा जा सकता है।[2]

ब्रह्मानन्द सरस्वती ने *"न्याय रत्नावली"* टीका में बिम्ब चैतन्य की व्याख्या की है *"अज्ञानोध्यनन्तर्गत चैतन्यम्"*[3] ईश्वर अज्ञानोपहित होने के कारण शुद्ध चैतन्य से भिन्न है। उसका स्वरूप अज्ञानोपहित उपाध्यन्तर्गततत्व विशिष्ट (बिम्ब) चैतन्य है। उपहित कल्पना के लिए अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् शुद्ध चैतन्य[4] से बिम्ब चैतन्य और प्रतिबिम्ब चैतन्य को भिन्न मानना पड़ेगा। अतएव व्यवहार सौकार्य के लिए बिम्बत्वोपहित चैतन्य ईश्वर तथा प्रतिबिम्बत्वोपहित चैतन्य जीव माना जाता है। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने कहा है– *"अविद्यायां बिम्बत्वस्येशोपाधित्वं प्रतिबिम्बत्वस्य जीवोपाधित्वमित्येतावता जीवेशभेदादितिभावः"*[5] ।

---

1 *अ०सि० पृ० 577*
2 *लघुचन्द्रिका टीका पृ० 578*
3 *न्याय रत्नावली टीका पृ० 225*
4 *वही, पृ० 250*
5 *ल०च०, पृ० 571*

यद्यपि ईश्वर अविद्योपहित है तथापि उसमें अज्ञानावरण नहीं होता, अतएव वह सर्वज्ञ माना जाता है। उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपातिनी होती है, इसलिए *"अविद्या पूर्णानन्दौ नास्ति न भाति"*[1] इत्याकारक व्यवहार रूप कार्य प्रतिबिम्ब (जीव) में ही है, अतएव जीव को प्रतिबिम्ब कहा गया है, ईश्वर को नहीं। इसी अभिप्राय से विवरणकार ने ईश्वर[2] को बिम्ब माना है, ऐसा ब्रह्मानन्द सरस्वती का विचार है। ईश्वर का सर्वज्ञत्व विवरणकार के अनुसार इसप्रकार है – *"ईशस्य सर्वकर्तृत्वादेव विद्यमान सर्व विषयेज्ञेति।"*[3]

संक्षेपशारीरककार के मतानुसार –

मधुसूदन सरस्वती संक्षेपशारीरककार की ईश्वर विषयक मान्यता का निरूपण करते हुए कहा है कि – *"अज्ञानप्रतिबिम्बित चैतन्यमीश्वरः। बुद्धिप्रतिबिम्बित चैतन्यं जीवः।*[4] *अज्ञानोपहितं बिम्ब चैतन्यं शुद्धभिति संक्षेपशारीरककाराः।"*[5] अर्थात् अज्ञान रूप उपाधि में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और बुद्धि रूप उपाधि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। अज्ञानोपहित बिम्ब चैतन्य शुद्ध है, ऐसा संक्षेपशारीरककार का मत है। सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक में कहा है–

"उपाधिरज्ञानामनादिसिद्धमस्मिंश्चिदाभासनमीश्वरत्वम् ।

तदन्विता चित् प्रतिबिम्बकस्यादुदीर्यते शुद्धचिदेव बिम्बम् ।।[6]

इसकी व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है– *"अज्ञानगतचित्प्रतिबिम्ब एव ईश्वर इति मतेनाज्ञानरूपोपाधेरपि तत्पदवाक्यता–भिमता, चित्प्रतिबिम्बस्याज्ञान संसर्गयुक्त जगत्कारणत्वमीश्वरत्वमुच्यते"।*

---

[1] *न्या०र०, पृ० 225*
[2] *वही, पृ० 148 (ईशस्य बिम्बत्व जीवस्याविधायां प्रतिबिम्बत्व मिति पक्षे)*
[3] *ल०च०, पृ० 238*
[4] *बि०प्र० व्याख्या सहित सि०बि०, पृ० 46*
[5] *स०शा०, 3/277*
[6] *सं०शा० (सार संग्रह), 3/277*

अर्थात् अज्ञानगत चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है, इस मत से अज्ञान रूप उपाधि तत्पद से अभिमत है। चित्प्रतिबिम्ब अज्ञान संसर्गयुक्त होकर जगत्कारण ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर का ईश्वरत्व चिदाभास[1] द्वारा उत्पन्न है, चिदाभास औपाधिक होने के कारण मिथ्या है। उपाधि संसर्गरहित चैतन्यबिम्ब है। संक्षेपशारीरककार का अभिमत सिद्धान्त यही है। यद्यपि विवरणकार तथा सर्वज्ञात्ममुनि दोनों ही प्रतिबिम्बवादी कहे जाते हैं किन्तु दोनों में भेद यह है कि विवरणकार ईश्वर को बिम्बत्वोपहित चैतन्य मानते हैं जबकि संक्षेपशारीरककार उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप मानते हैं। प्रश्न उठता है कि संक्षेपशारीरककार के मत में यदि ईश्वर भी जीव की तरह प्रतिबिम्ब है और उपाधि के प्रतिबिम्बपक्षपातित्व का नियम है तो जीव प्रतिबिम्ब की भाँति ईश्वर में भी अविद्या प्रयुक्त दोष क्यों नही आते हैं। इसका समाधान यह है कि ईश्वर को प्रतिबिम्ब मानने पर भी अविद्या *"पूर्णानन्दौनास्ति"*[2] इत्यादि व्यवहार ईश्वर में उत्पन्न नहीं करती, क्योंकि *"सः सर्वज्ञः सः सर्ववित्"* इत्यादि श्रुति से विरोध होगा। जीव अन्तःकरण रूप उपाधि में प्रतिबिम्बित होने के कारण परिच्छिन्न तथा अल्पज्ञ माना जाता है और ईश्वर सर्वकर्तृक तथा सर्वज्ञ माना जाता है।

दूसरी बात यह है कि माया त्रिगुणात्मक है और ईश्वर की प्रतिबिम्बोपाधि माया में सत्व का प्राधान्य है। जीव की प्रतिबिम्बोपाधि बुद्धि में रजोगुण और तमोगुण का प्राधान्य है। सत्त्व गुण में प्रकाश और प्रसाद रहते हैं, किन्तु रजोगुण और तमोगुण में दुःख प्रवृत्ति तथा मोह रहते हैं। इस प्रकार गुण प्राधान्य भेद निबन्धन द्वारा ईश्वर में सर्वज्ञता आदि और जीव में अल्पज्ञता आदि उपपादित होते हैं। ईश्वर और जीव में उपाधि भेद प्रयुक्त अन्तर भी है। अविद्या व्यापक, अतिस्वच्छ तथा समस्त विश्व का

---

[1] *संक्षेप शारीरक 3/277*

[2] *न्या०र०, पृ० 227*

परिणामी कारण है। किन्तु बुद्धि परिच्छिन्न, रजस्तमोगुण मालिन्य विशिष्ट और अविद्या का एक परिणाममात्र है, जिसमें जगत्सृष्टि सामर्थ्य नहीं है। उपाधि के प्रतिबिम्ब पक्षपाती होने का अभिप्राय ब्रह्मानन्द सरस्वती के शब्दों में इसप्रकार है – *"प्रतिबिम्ब एव कार्यविशेषजनकत्वात्।*[1] *प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बयोकार्यकरोऽप्युपाधिरतिशयेन प्रतिबिम्ब एव कार्यकरत्वात् तत्पक्षपातीत्युच्यते। यथा अनुभवबलादर्पणादेः प्रतिबिम्ब एव मालिन्यादि भ्रमजनकत्वं, तथा श्रुत्यनुभवबलादविद्याया जीव एव मनस्तत्परिणाम हेतुत्वम्, ईशे तु सर्वज्ञत्वाकाशादि हेतुत्वमिति भावः"*।

अर्थात् बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों के रहने पर उपाधि अतिशय रूप से प्रतिबिम्ब में ही कार्यविशेष की जनक होती है। इसलिए उपाधि को प्रतिबिम्ब पक्षपाती कहा गया है। जिस प्रकार अनुभव द्वारा दर्पणादि प्रतिबिम्ब में ही मालिन्यादि के भ्रम के जनक होते हैं, उसी प्रकार श्रुति के अनुरोध से जीव अन्तःकरण तथा तत्परिणामकर्तृत्वभोक्तृत्व में हेतु है और सर्वज्ञ ईश्वर और आकाशादि का हेतु है।

यद्यपि दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब अचेतन होने के कारण स्वपर विवेकादि ज्ञानशून्य होता है किन्तु जीव रूप अन्तःकरण में प्रतिबिम्बम्बित चैतन्य चेतन होने के कारण ज्ञान सम्पन्न होता है।[2] अतएव कोई आपत्ति नहीं होती।

नृसिंहाश्रम के मतानुसार –

प्रतिबिम्बवादी नृसिंहाश्रम के मत का उल्लेख ब्रह्मनन्द सरस्वती ने "लघुचन्द्रिका" टीका में इस प्रकार किया है – "ईश्वर की उपाधि सत्त्वप्रधान माया है, जो विद्यमान समस्त विषयों के आकार में परिणत

---

[1] *ल0च0, पृ0580*

[2] *गीता (गूढ़ार्थदीपिका), 7/14*

होता है, उस परिणाम में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर सर्वज्ञ है और सम्बन्ध से सर्वदृश्य द्रष्टा है।"[1]

नृसिंहाश्रम के ईश्वर सम्बन्धी विचार "नृसिंह विज्ञापनम्" में इस प्रकार है।

मायायां प्रतिबिम्बता चितिरयं जीवाभिधाना भवेत्

यत्तत्सप्रतियोगिकं किमपि तद्बिम्बाभिधानास्पदम्।

तद्युक्ता चितिरेव पूर्णवपुषा बिम्ब स एव ईश्वरः

स्तस्या अप्रतिरुधन्ती निजपदं तत्रापि सः तिष्ठति।।[2]

अर्थात् माया में प्रतिबिम्बित चित् जीव कहा जाता है। माया उपाधि से युक्त चैतन्य पूर्ण शरीर से बिम्ब होता है और वही ईश्वर कहा जाता है। चैतन्य का प्रतिरोध न करती हुई माया अपनी शक्ति से विलसित होती रहती है, अर्थात् अधिष्ठान रूप से अप्रतिरोधपूर्वक चैतन्य बना रहता है। इनके अनुसार बिम्बभूत चैतन्य साक्षी एवं जगदुपादान है।

विद्यारण्य के मतानुसार –

–महामहोपाध्याय वासुदेव आभ्यंकर ने विद्यारण्य को भी प्रतिबिम्बवादी बताया है, *"विद्वन्मुकुटहीरमणयो विद्यारण्या अपि पूर्णत्वेनांगीकारं चक्रुरस्य प्रतिबिम्बवादस्य"*।[3] किन्तु उनके ग्रन्थों में प्रतिबिम्बवाद के साथ–साथ आभासवाद के उद्धरण कम नहीं हैं। पञ्चदशी में उन्होंने *"ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिम्ब स्तथाविधः। बिम्बलक्षणहीन सत्* बिम्बवत्

---

[1] *"उक्तं च तत्र तत्वदीपने ईश्वरोपाधि सत्त्वप्रधानमाया विद्यमान सर्वविषयाकारेण परिणाम ते तस्मिं च परिणामे प्रतिबिम्बित चैतन्यं सर्व पश्यत्या ध्यासिक सम्बन्धादिति।"* ल0च0, पृ0 238

[2] *नृसिंहविज्ञापनम्, श्लो0 202*

[3] *वि0प्र0 व्याख्या सहित सि0बि0, उपोद्घात, पृ0 17*

भासते स हि"[1] आदि श्लोकों में आभासार्थक्तया प्रतिबिम्ब पक्ष का प्रयोग किया है।

सिद्धान्तलेशसंग्रहकार अप्पय दीक्षित ने प्रतिबिम्ब के मिथ्यात्व पक्ष में ही विद्यारण्य का अभिप्राय बताया है – *"अद्वैतविद्याकृतस्तु प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वभ्युपगमच्छतां, त्रिविध जीववादिनां विद्यारण्य गुरू प्रभृतीनामभिप्राय-मेवाहु"*।[2]

विद्यारण्य मुनि पंचदशी के "तत्त्वविवेक" प्रकरण में ईश्वर के स्वरूप को बताते हुए लिखते है कि – "त्रिगुणत्मिका मूलप्रकृति"[3] का शुद्ध सत्व प्रधान अंश माया और मलिन सत्वप्रधान अंश अविद्या है। प्रस्तुत माया और अविद्यागत चित्प्रतिबिम्ब क्रमशः ईश्वर तथा जीव है।

"अनुभूतिप्रकाश" में उन्होने अज्ञानगत प्रतिबिम्ब को ईश्वर कहा है, जो सृष्ट्यादि का प्रवर्तक है –

यदावरकमज्ञानमात्मास्मिन् प्रतिबिम्बिति ।

ईश्वरः प्रतिबिम्बो सौ सृष्ट्यादीना प्रवर्तकः ।।[4]

"चित्रदीप" प्रकरण में घटाकाशादि के दृष्टान्त से चतुर्विध चित् का निरूपण किया है।[5] जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश, जलाकाश, महाकाश तथा मेघाकाश – इन चार भेदों में प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक आत्मा कूटस्थ, जीव, ब्रह्म तथा ईश्वर के भेद से चतुर्विध प्रतीत होता है। महाकाश के मध्यवर्ती मेघाकाश तुल्य ईश्वर का स्वरूप है। अविद्याकल्पित पंचीकृत अपंचीकृत– मूर्त – कार्य रूप स्थूल–सूक्ष्म द्वय के

---

[1] *पंचदशी, 8/32*
[2] *सि०ले०स०, द्वितीय परिच्छेद, पृ० 322*
[3] *पंचदशी, 1/15,17*
[4] *अनुभूतिप्रकाश, 10/36, पृ० 198*
[5] *पन्चदशी, 6/18*

अधिष्ठान रूप से वर्तमान देहाद्वयावच्छिन्न कूट (अयोधन) के समान निर्विकार रूप से स्थित आत्मा कूटस्थ[1] चैतन्य साक्षी है।

मायाधीन चिदाभास मायी और महेश्वर है, जो अन्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा जगतहेतुक है –

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः ।

अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ।।[2]

संक्षेप में कूटस्थ मोह तथा चिदाभास इन तीनों का संघात ईश्वर है, वही साक्षी, जगत्कारण एवं नियन्ता कहा जाता है –

कूटस्थ दृष्टि तन्मोहो दृष्ट्याभासश्च तत्त्रयम् ।

साक्षी सर्वजगद्हेतुर्नियन्तेति च भव्यते ।।[3]

आभासवाद –

आभासवादी सुरेश्वराचार्य के अनुसार पूर्वोक्त आभास दो प्रकार के होते हैं – (1) कारणाभास, (2) कार्याभास। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने *"न्याय रत्नावली"* टीका में वार्तिक मतानुसार "सिद्धान्त बिन्दु" में कथित ईश्वर के त्रिविध रूप का उद्धरण देते हुए कहा है –

"वार्तिकमते तु अविद्याचिदाभास रूप ईशस्साक्षीति पक्षत्रयं मूले वक्ष्यते।[4] तदनुसार अविद्यागत चिदाभास ईश्वर है। अनादि सिद्ध अज्ञान[5]

---

[1] *पंचदशी, 6/22*
[2] *पंचदशी, 6/157*
[3] *वृ0वा0सा0, 1/4/68, पृ0 687*
[4] *न्या0र0, पृ0 148*
[5] *सं0शा0 (तत्वबोधिनी टीका), 3/375 (चैतन्योपाधिसन्निविध्वशादुपाधिस्थत्वन्नाम धर्मोजायते स ए व चिदाभास नामा)*

उपाधि में चित्सन्निधि के कारण उपाधि धर्मतया उत्पन्न चिदाभास ईश्वरत्व का प्रयोजक है।"

मधुसूदन सरस्वती ने आभासपरक ईश्वर का स्वरूप इसप्रकार बताया है – *"अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञान तादात्म्यापन्नः स्वचिदाभासाविवेकादंतर्यामी साक्षी जगत्कारणमिति च कथ्यते इति वार्तिककारपादाः।"*[1]

ब्रह्मानन्द सरस्वती ने इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा है कि अज्ञान रूप उपाधि में प्रतिबिम्बिापन्न होने से तदन्तर्गत अथवा तत्तादात्म्यापन्न जो अज्ञानोपहित आत्मा का आभास अथवा प्रतिबिम्ब है वही अज्ञानोपहित आत्मा है। अज्ञान रूप उपाधि के जगत्रूप परिणाम में तद्गत चिदाभास कारण है उपाधि से युक्त[2] चिदात्मा तथा चिदाभास में भेद तो अवश्य है परन्तु अध्यास दशा में गृहीत नहीं होता है। इसका एकमात्र कारण अज्ञान रूप उपाधि में रहने वाले चिदाभास के साथ चिदात्मा का तादात्म्यापन्न होना है। जिस प्रकार स्फटिक के साथ स्फटिक में आभासित होने वाली रक्तिमा स्फटिक से भिन्न नहीं प्रतीत होती उसी प्रकार अज्ञान से चिदाभास पृथक् प्रतीत नहीं होता। उपाधिभूत अज्ञान तादात्म्य द्वारा चिदाभास के साथ तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद है।

ईश्वर और साक्षी –

शांकर वेदान्त में चैतन्य के विविध स्तरों में "साक्षी" ईश्वर और जीव के मध्य की एक श्रृंखला है। यद्यपि यह सत्य है कि ईश्वर, साक्षी, जीव आदि सभी सत्ताएं व्यावहारिक ही हैं तथापि दृश्यमान जगत और सृष्टि की व्याख्या के प्रयास में इन्हें निरर्थक कहकर झुठलाया नहीं जा

---

[1] *बि०प्र० व्याख्या सहित, सि०बि०, पृ० 42*
[2] *न्याय रत्नावली, पृ० 219*

सकता। ईश्वर जहाँ मायोपाधिक ब्रह्म का रूप है, जीव अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म का रूप है वही साक्षी अन्तःकरण की उपाधि से युक्त ब्रह्म है। "साक्षी" शब्द का अर्थ "चेता केवलः" जानने वाला होकर भी जो अकर्ता हो, है। दूसरे शब्दों में इसे निरपेक्ष द्रष्टा की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। निरपेक्ष द्रष्टा का अर्थ वह सत्ता है जो जीवात्मा के समस्त प्रपंचात्मक व्यवहार और उसकी अभिगम्यता को अनासक्त भाव से सतत् देखती रहती है। साक्षी जीवात्मा से भिन्न सत्ता है। "अन्तःकरण विशिष्ट शुद्ध चैतन्य जहाँ जीव के रूप में माना जाता है वहीं वह चैतन्य अन्तःकरण की उपाधि से साक्षी कहलाता है।"[1] यही साक्षी जब अपनी इसी उपाधि (अन्तःकरण) के साथ तादात्म्य बना लेता है तो जीव कहलाता है।

साक्षी ईश्वर तत्व और जीव तत्व के मध्य चित्त की एक अवस्था है जो एक ओर ब्रह्मतत्व के समान निष्क्रिय एवं असंग है दूसरी ओर वह प्रतिमुहूर्त जीव के साथ-साथ रहती हुई उसके प्रत्येक कार्य को अनवरत देखती रहती है। इस पक्ष से साक्षी ईश्वर तत्व का ही एक रूप विशेष है, जिसमें रहता हुआ (ईश्वर) जीव के सब कर्मों को देखता है जिनके अनुसार कर्मफल विधान सम्पन्न होता है।

सर्वज्ञात्ममुनि ने *संक्षेपशारीरक*[2] में कहा है कि अज्ञान विनिर्मित इस समस्त प्रपंच को कूटस्थ, अद्वितीय, दृश्य से भिन्न, अविकारी परम पुरूष (ब्रह्म) इन्द्रियादि करणों के बिना ही सबका साक्षी होने के रूप से देखता है। पर पुरूष (ब्रह्म) या शुद्ध चैतन्य स्वाश्रिता माया से उपहित होकर अपने में ही कल्पित निखिल प्रपंच को प्रपंचकारा अविद्या वृत्ति में स्थित अपने आभास द्वारा प्रकाशित करता हुआ साक्षी कहलाता है। अप्पय दीक्षित ने

---

[1] *वेदांत परिभाषा, पृ0 46*
[2] *संक्षेप शारीरिक, 3/29,30*

सिद्धांतलेश संग्रह[1] में कौमुदीकार के नाम से साक्षी के स्वरूप के विषय में कहा है कि ईश्वर का ही स्वरूप विशेष साक्षी है जो जीव की प्रवृत्ति को सर्वदा जानने वाला है जो उसी के समस्त ज्ञान-अज्ञान का निरंतर अवभासक होने से जानता है।

मधुसूदन सरस्वती ने *सिद्धांत बिन्दु*[2] में वार्तिककार के मत को उल्लिखित करते हुए कहा कि उनके मत में ईश्वर को ही साक्षी माना है। ईश्वर अपने तथा जीव के प्रति सर्वदृश्यभासक है क्योंकि सर्वदृश्यधिष्ठान है।[3] *लघुचन्द्रिका टीका* में ब्रह्मानंद सरस्वती ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है- *अविद्यामनोगतचिदाभासयोरीश जीवत्वे त्वीश एव तथा (साक्षी) कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेत्ताः केवलोनिर्गुणश्च इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर के सर्वज्ञ* तथा साक्षी होने में प्रमाण है।

वेदान्त कौमुदीकार का मत है कि "एकोदेव सर्वभूतेषु गूढ़" इत्यादि देवत्व प्रतिपादक श्रुति से ज्ञात होता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप विशेष साक्षी है यह जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति का अनुमत्ता तथा स्वयं उदासीन है। ईश्वर का स्वरूप विशेष होने पर भी वह कारणत्व आदि धर्मो के न रहने से अपरोक्ष है और जीवगत अज्ञानादि के अवभासक होने के कारण जीव का अत्यन्त अंतरंग भी है। सुषुप्ति आदि में अन्तःकरण तथा तद्वृत्तियों के उपगम होने पर जीवगत अज्ञान मात्र का व्यंजक होने के कारण साक्षी को प्राज्ञ भी कहा जाता है। "एक ही ईश्वर नियम्य, माया तथा तत्कार्य के नियत्तृत्व की अपेक्षा से नियंता तथा साक्ष्य अर्थ के साक्षित्व से साक्षी हो जाता है।"[4] स्पष्टतः साक्षी, अन्तर्यामी एवं ईश्वर इन

---

1 *कौमुद्यान्तु - एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढ़ -------निर्गुण्श्च। इतिदेवत्वादिश्रुतेः ------ जीवस्यान्तरंग।। --- सिद्धांतलेश संग्रह, पृ0 184*

2 *वार्तिककार मतेत्वीश्वर एव साक्षीति। --- सिद्धांत बिन्दु, पृ0 90*

3 *सिद्धांत लेश संग्रह, पृ0 184-86*

4 *वही*

तीनों शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। केवल कार्य की दृष्टि से एक ही ईश्वर पृथक-पृथक नामों का व्यपदेश होता है। फलतः, जो ईश्वर का लक्षण होगा वही साक्षी और अन्तर्यामी का भी होगा।

ईश्वर के समान साक्षी को भी अपने आत्मस्वरूप का पूर्ण ज्ञान है। साक्षी ईश्वर के समान ही ब्रह्म और जीवात्मा दोनों के साथ है। ब्रह्म की तरह वह निष्क्रिय एवं असंग भी है साथ ही वह प्रतिपल जीव के साथ रहते हुए उनके समस्त कार्यो, प्रयासों एवं संकल्पों को अनवरत् देखता रहता है। वह ईश्वर तत्व का ही एक ऐसा रूप है जिसमें रहता हुआ वह जीव के समस्त कृत्यों को देखता है जिसके अनुसार ईश्वर द्वारा फलविधान सम्पन्न होता है। भाव यह है कि ईश्वर जीवों का कर्मफल निधारण साक्षी की निरपेक्ष एवं साक्षी में परमार्थतः कोई अन्तर नहीं दोनों तत्वतः विशुद्ध चैतन्य हैं जो अज्ञान को साथ रखे हुए हैं अर्थात् अज्ञान को मूल रूप में देखने वाला साक्षी है एवं विक्षेप कराने वाला ईश्वर। साक्षी शुद्ध बोध स्वरूप है चाहे सत्य हो या मिथ्या हो जो भी हो वह सब कुछ दिखा देता है। साक्षी ज्ञान के सत्य मिथ्यात्व में अन्तर नहीं करता। सभी ज्ञान साक्षी में है साक्षी न हो तो सारा जगत् अंधकार में डूब जायेगा साक्षी साक्षात् देखता है उसके लिए किसी तीसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं।

अतः यह कहा जा सकता हैं कि ईश्वर और साक्षी दोनों चैतन्य की दो अवस्थायें हैं दोनों की सत्ता व्यावहारिक है तथा दोनों समान रूप से सत् या असत् हैं। किन्तु उनके बीच कुछ मौलिक भेद हैं। ईश्वर जगत की सृष्टि करता है, वह जगत का पालनकर्ता तथा संहारक है जबकि साक्षी ऐसा नहीं वह मात्र विशुद्ध द्रष्टा है। ईश्वर जीव को उनके कर्मो के अनुसार फल प्रदान करता है जबकि साक्षी कर्मफल प्रदाता नहीं वह कर्मो का मात्र दृष्टा है किन्तु उसकी दृष्टि में कोई आसक्ति नहीं है। वह किसी प्रकार के बंधन में नहीं पड़ता। वह जीव के कर्मो को अपना नहीं समझता

और उसकी इसी प्रकृति के कारण उसे कर्मफल की श्रृंखला से बंधना नहीं पड़ता। साक्षी शुद्ध रूप से प्रकाशमान द्रष्टा है। ज्ञान, अज्ञान दोनों को जो उनके मूल रूप में देखता है वह साक्षी है। इसके विपरीत ईश्वर वह है जो आवरण के द्वारा ज्ञान (सत्) को आवृत कर विक्षेप के द्वारा अज्ञान (सत्येतर वस्तुएं) उपस्थित करता है।

साक्षी अज्ञान को देखता है उस पर आवरण का प्रभाव नहीं होता जैसे राहु का प्रकाश राहु से आवृत चन्द्रमण्डल से ही होता है वैसे ही अविद्या का प्रकाश अविद्या से आवृत साक्षी से ही होता है। वस्तुस्थिति में साक्षी चैतन्य को जो अविद्या, अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्म सुखादि का प्रकाशक है- छोड़कर अन्य चैतन्य को ही अज्ञान आवृत करता है। साक्षी स्वयं अज्ञान से आवृत नहीं होता। साक्षी जान सकता है, देख सकता है इसलिए वह स्वयं कभी आवृत नहीं हो सकता। साक्षी चैतन्य से अतिरिक्त चैतन्य का ही अज्ञान आवरण करता है।[1] विश्व का भ्रम ईश्वर से भी कभी नहीं छिपा है। वह सब जानता है अविद्या अज्ञान की शक्ति द्वारा सृष्टि करता है पर उसके द्वारा ठगा नहीं जाता। भ्रम में तो जीव पड़ता है जो अज्ञान को सत् समझता है। ईश्वर प्रत्येक वस्तु को उसके वास्तविक स्वरूप में देखता है जैसा कि वह है। उसके लिए सब उन्मुक्त हैं। चूँकि प्रत्येक वस्तु ईश्वर हेतु अनावृत है इसलिए ईश्वर का ज्ञान प्रमाता का ज्ञान की तरह नहीं है। ईश्वर के लिए कोई अज्ञात अस्तित्व है ही नहीं। इन सभी संदर्भों में ईश्वर सम्प्रत्यय की तुलना साक्षी से की जा सकती है, जिसे साक्षात ज्ञान प्राप्त होता है।

---

[1] *अत्राहू राहुवत् केचित तस्य स्वावृत्तभास्यताम् । वस्तुतोऽविद्याऽन्तःकरणतद्भवविभासकं साक्षि चैतन्यं। विहायैवाऽज्ञानं चैतन्यमावृणोतीन्यनुभवानुसारेणं कल्पनान्नकश्चिद्दोषः। अतएव सर्वदा तेषामना वृत्त प्रकाशसंसर्गात् अज्ञानविपरीतज्ञान संशयागोचरत्वम्।*
सिद्धान्त लेश संग्रह पृ0 189

ईश्वर एक वैयक्तिक सत्ता है उसमें एक वैयक्तिक्ता है जो अहं चेतना के द्वारा ही संभव है। "मैं ईश्वर हूँ", "ब्रह्म हूँ" – यह ज्ञान उसे रहता है। वह न बंधा है न कभी बंधन में पड़ता है। साक्षी को भी स्वतंत्र कहा जा सकता है किन्तु उसे अपनी स्वतंत्रता का ज्ञान नहीं है। वह बंधन तथा मुक्ति में कोई अंतर नहीं कर पाता है। अर्थात् उसके लिये न बंधन है न मुक्ति है, न सत् है न मिथ्या। यह एक ऐसा विचित्र चैतन्य है जो दोनों को समान रूप से देखता है। ईश्वर को भी इन सभी का ज्ञान है पर वह इन सबमें अंतर भी कर लेता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्नताओं के होते हुए भी दोनों के बीच जो मूलभूत समानता है वह यही है कि दोनों विशुद्ध चैतन्य हैं एवं दोनों कर्मफल की श्रृंखला से परे हैं। साक्षी का अस्तित्व तभी तक है जब तक दृश्य है क्योंकि दृश्य के बिना दृष्टा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दृष्टा सापेक्ष पद है अतः साक्षी जीव या अविद्या सापेक्ष कहा जाता है क्योंकि अविद्या के अभाव में जीव का अस्तित्व संभव ही नहीं और जीवत्त तथा परिदृश्यमान आभासात्मक प्रतीतियों के अभाव में दृष्टासाक्षी निरर्थक सा प्रतीत होता है। ईश्वर की स्थिति भी काफी सीमा तक यही है। जब तक जीव माया से बंधा है तक तक वह दृश्य, जगत् और इसका सृष्टा जो पालक एवं संहारक भी है, सत्य है। अज्ञान का उन्मीलन होते ही जीव का जीवत्त ईश्वर का ईशित्व और साक्षी का साक्षित्व सब कुछ रजत् का ज्ञान हो जाने के बाद लुप्त हुए सर्प की तरह समाप्त हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि साक्षी और ईश्वर का संबंध व्यावहारिक ही है। परमार्थ में द्वैत कहाँ? ईश्वर, जीव, साक्षी आदि की अवधारणाएँ, अज्ञान, अविद्या या माया के कारण है। पुनः साक्षी का अस्तित्व भी तब तक है जब तक जीव है। अज्ञान नष्ट होते ही जीवात्मा मुक्त होकर अपने यथार्थ

स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और तभी साक्षी का साक्षित्व रूप भी समाप्त हो जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मात्र विशुद्ध चैतन्य माया, अविद्या के कारण नाना रूपों में बिखरा हुआ सा प्रतीत होता है। जैसा कि *कठोपनिषद् भाष्य* में कहा है – *अणुमहद्वायदस्ति लोके वस्तु सदात्मना विनिर्मुक्तमसत् सम्पद्यते* – अर्थात् आत्मा से विरहित करके देखने पर जो भी वस्तु दिखाई देती है वह असत् है। यहाँ असत् का तात्पर्य परमार्थिक रूप से मिथ्या होना है। अंतिम सत्य केवल एकमात्र विशुद्ध चैतन्य निर्गुण, निरपेक्ष ही है जिसमें ईश्वर, साक्षी आदि सभी का विलय हो जाता है।

जीव–साक्षी

जीवात्मा का स्वरूप –

'जीव' का शाब्दिक अर्थ है, 'जो साँस लेता है' प्रारम्भ में इस शब्द से मनुष्य की उस प्रकृति का बोध होता था, जो जागृति, स्वप्न और निद्रा की अवस्थाओं में जीवन भर विद्यमान रहता है। उपनिषद में इसे 'पुरूष' भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है – 'पुरिशय' अर्थात् हृदय रूपी दुर्ग में रहने वाला। अतः यह हृदय रूपी दुर्ग में रहकर किसी अन्य आत्मा या साक्षी के उद्देश्य को पूर्ण करता है। यही वह आत्मा है, जो कर्मो का फल भोगती है और भौतिक शरीर की मृत्यु के बाद भी कायम रहती है। यह भोक्ता एवं कर्त्ता दोनों है।[1] शंकर कहते हैं कि लोक व्यवहार के आधारपरकोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि जीव उत्पन्न होता है और मरता है क्योंकि मनुष्य पैदा होता है और मनुष्य मरता है। वह जातकर्म आदि संस्कार भी करता है, किन्तु उसकी यह कल्पना विभिन्न शास्त्रों के द्वारा बाधित हो जाती है। वास्तविक रूप में श्रुति में कहीं भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है बल्कि श्रुति के द्वारा जीवात्मा की नित्यता

---

[1] *प्रश्न उपनिषद 4,9, कठ, 1,3,4*

सिद्ध की गयी है। इसलिए जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है।[1]

मुण्डकोपनिषद में अग्नि के दृष्टान्त द्वारा विभिन्न भावों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार जलती हुयी अग्नि से अनेक चिनगारियाँ उत्पन्न होती है, ठीक उसी प्रकार विभिन्न नाम रूप वाले पदार्थ उसी परमेश्वर से उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में विलिन हो जाते हैं।[2] इसी परब्रह्म से यह प्राण, मन, सभी इन्द्रियाँ, तथा आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबकों धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।[3] इसी प्रकार *प्रश्न उपनिषद* भाष्य में शंकर कहते हैं कि ब्रह्म के द्वारा ही कार्य कारण जगत की उत्पत्ति होती है किन्तु जीवात्मा की उत्पत्ति कभी नही हो सकती है। इस जगत में पाँच महाभूत और उसकी तन्मात्रायें, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके कार्य, अन्तःकरण के चार अंग मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा उनके विषय, प्राण और उसके द्वारा धारण किये जाने योग्य पदार्थ विद्यमान हैं। ये सभी नाम रूपात्मक है। सभी नाम रूप, कर्त्ता और कर्म, उनके परिणाम, इन्द्रियानुभविक जगत के घटक है।[4] शंकर के अनुसार इस विशाल विश्व में भू आदि कई प्रकार के बहुत से लोक विद्यमान हैं।[5] स्वर्ग और नरक भी माने गये हैं, जहाँ मरने के बाद लोग विभिन्न मार्गो से होकर अपने शुभ और अशुभ कर्मो के अनुसार फल भोगने के लिए पहुँचते हैं।[6] प्रत्येक लोक के अलग-अलग लोकपाल हैं, जिन्हें परमात्मा ने उन लोकों की रक्षा के लिए नियुक्त किया

---

[1] *नाम्नाऽश्रुतेर्नितयत्वाच्च ताभ्यः। ब्रह्मसूत्र 2/3/17*

[2] *यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्.गाः, सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।*
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति।। मु0उ0 2/1/1

[3] *एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।*
त्वं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।। मु0उ0 2/1/3

[4] *शांकर भाष्य प्रश्न उपनिषद 4/8*

[5] *शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र 1/3/30 शांकर भाष्य ऐतरेय 1/1/2*

[6] *शांकर भाष्य गीता 9/3 शा0भा0 ईश 10/12*

है।[1] इससे स्पष्ट है कि यह विश्व किसी व्यक्ति विशेष के मन की कल्पनात्मक रचना नही है। मानवी कल्पना के द्वारा विश्व की रचना तो दूर, कोई उसकी रचना और क्रमबद्ध व्यवस्था के विषय में सोच तक नही सकता है।[2] अनेक कर्त्ता और उनके कर्म फल भोगने के लिए देश, काल और निमित्त के आश्रय वाली वस्तुएँ, गुण और संवृत्तियों से युक्त संसार को प्रतिनियत किया गया है।[3] अतः ये वस्तुएं मानसिक रचनायें नही हैं। इस प्रकार इस नानात्मक जगत में जन्म मरण का निर्देशन के लिए देह के लिए ही हो सकता है। जन्म केवल देह से जीव का संयोग है और मृत्यु जीव का वियोग है। जीव स्थूल उत्पत्ति और प्रलय से रहित है।[4] अतः श्रुति का यही निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्मा की स्वरूप से कभी उत्पत्ति नही होती है। इतना ही नही श्रुतियों द्वारा उसकी नित्यता का भी प्रतिपादन किया गया है। सजीव वृक्ष के दृष्टान्त से श्वेतकेतु को समझाते हुए उसके पिता ने कहा है जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नही मरता है।

वृहदारण्यक उपनिषद में बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से आध्यात्मिक जीवात्म तत्व की सिद्धि की गयी है। इसके अनुसार जीवात्मा सभी स्थूल (भौतिक) और सूक्ष्म (मानसिक) इन्द्रियों से भिन्न है, जिसे वाणी व्यक्त नही कर सकती है, किन्तु जो वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, परन्तु जो मन को कल्पना करने की शक्ति प्रदान करता है, जिसे देखने में नेत्र असमर्थ हैं किन्तु जो नेत्र को देखने की शक्ति प्रदान करता है। जिसे श्रवण नही है किन्तु जो कानो में सुनने की शक्ति प्रदान करता है तथा जो प्राणों को स्वसित तथा

---

[1] *शांकर भाष्य ऐतरेय 1/1/3*
[2] *शांकर भाष्य ब्रह्मसूत्र, 1/1/2*
[3] *"प्रतिनियत देश काल निमित्त कियाफल" वही*
[4] *शांकर भाष्य मुण्डक उपनिषद, 2/12*

उच्छवासित करने की शक्ति प्रदान करता है, वही परमात्म तत्व जीवात्मा है।[1] *मैत्री उपनिषद* में बतलाया गया है कि शरीर रथ है, जीवात्मा उसका संचालक है। आत्मा शुद्ध, शाश्वत, शान्त और पूर्णतः स्वतंत्र है।[2] *कौषितकि* उपनिषद उपनिषद में कहा गया है कि जीवात्मा शरीर का स्वामी और इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। जीवात्मा शरीर में नख से सिर तक व्याप्त है। सभी इन्द्रियाँ उसके आदेश का पालन करती हैं।[3]

वस्तुतः जीवात्मा की सभी अनुभूतियाँ उसकी अज्ञानता का प्रतीक है। उदाहरण स्वरूप *श्वेताश्वर उपनिषद* में कहा गया है कि जीवात्मा न स्त्री है और न पुरूष और न नपुंसक। वह जिस शरीर को धारण करती है उसी में निवास करती है।[4] हालांकि जीवात्मा शाश्वत, एक द्रष्टा, विशुद्ध, स्वयं प्रकाश, शरीर का आधार, अपरिवर्तनशील आदि है जबकि शरीर इसके विपरीत अशाश्वत और नश्वर है।[5] *मांडूक्योपनिषद* में कहा गया है कि जीवात्मा अत्यन्त महान और अत्यन्त सूक्ष्म भी है। यह शरीर से दूर भी है, और निकट भी है।[6] यह मनुष्य के अन्तःकरण की गुफा में छिपा हुआ है। इसी प्रकार कई स्थानों पर उपनिषदों में यह भी कहा गया है कि जीवात्मा सूक्ष्म है।[7]

उपर्युक्त सभी वर्णनों में कुछ विरोध दिखायी देता है। परन्तु इन विरोधों का समाधान भी उपनिषदों में वर्णित है। एक स्थान पर कहा गया है कि यह अदृष्य होते हुए भी शाश्वत द्रष्टा है (साक्षी), अश्रब्य होते हुए भी शाश्वत श्रोता है, अविचार्य होते हुए भी एक मात्र विचारक है और

---

1 *वृहदारण्यक उपनिषद*
2 *मै0 उप0 11/34 5 श्वे0 उप0 5/10*
3 *कौ0 उप0 4/17-18*
4 *श्वे0 उप0 5/10*
5 *भागवत 7-7-49*
6 *माण्डूक्योपनिषद 2/1*
7 *ई0उप0 4/5*

अज्ञानी होते हुए भी एक मात्र ज्ञाता है। उससे परे कोई ज्ञाता श्रोता नही।[1] इस प्रकार हम कह सकते है कि शरीर में रहते हुए भी जीवात्मा इससे अलग है। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि प्रकट होने पर उसमें नाश, दीर्घता, लघुता, अनेकता, आदि गुण जो काष्ठ में पाये जाते है, अग्नि में प्रतीत होते है जबकि वस्तुतः ये गुण अग्नि के नहीं होते हैं। इसी प्रकार जब जीवात्मा अपने आपको शरीर समक्ष लेती है तो शरीर के गुण को अज्ञानता वश अपना गुण मानने लगती है।

इसी उपनिषदिक विचाराधारा को अद्वैत वेदान्तियों ने जीवात्मा के दो लक्षणों में स्पष्ट किया है। प्रथम प्रकार के लक्षण तब प्रकट होते हैं जब वह अपने को शरीर समझकर शरीर के माध्यम से प्रकाश करती है और दूसरे प्रकार के लक्षण तब प्रकट होते है जब वह अज्ञानता से उपर उठकर अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित रहती है। अर्थात् जब वह साक्षी रूप में रहती है। जब वह शरीर समझकर अपने को शरीर के रूप में प्रकाशित करती है तो शरीर के इन्द्रियों के वशीभूत रहती है और इसी रूप में हम उसे बुद्धिमान आदि के रूप में जानते हैं। बुद्धि के अन्तर्गत जीवात्मा का प्रतिबिम्ब अंधकार के रूप में प्रतीत होता है, जो हमारी अवस्थाओं का जिसमें सुख और दुःख भी सम्मिलित है, का बोध प्राप्त करने वाला है। जब हम यह नहीं जानते हैं कि बुद्धि जीवात्मा से अलग है और लक्षण तथा ज्ञान में इससे भिन्न है, तब बुद्धि को ही जीवात्मा समक्ष लेते हैं। प्रत्येक बुद्धि इन्द्रियाँ आदि को साथ लिये हुए अपने पूर्व कर्मो के अनुकूल निर्मित एक पृथक संस्थान है। उसके साथ विशिष्ट रूप में लगी हुई अविद्या रहती है। अहं भाव उस सचेतन अनुभव की धारा का मनोवैज्ञानिक एकत्व है जिससे एक लौकिक जीवात्मा का आभ्यन्तर जीवन बनता है।

---

[1] *केन उपनिषद 2–8*

यह एकत्व शारीरिक है और परिवर्तनशील है। किन्तु जीवात्मा परिवर्तनशील नहीं है। वह कालाबाधित होकर शारीरिक एकत्व के पूर्ण कल्पित रूप में उपस्थित है। शरीर के रूप में प्रकाशमान होने के कारण जीवात्मा का शरीर से अटूट सम्बन्ध हो जाता है। जो हमारी अज्ञानता का परिचायक है। वास्तव में जीव का परिमित एवं सकीर्ण जीवन जीवात्मा के तात्विक स्वरूप का परिणाम नही है बल्कि यह इसके अपने आदिम क्षेत्र से पदच्युत होने का परिणाम है। जब जीवात्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब न सुख है दुःख है, कर्तृत्व भी नहीं है और भोक्तृत्व भी नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है अपने स्वाभाविक रूप को छोड़कर जीवात्मा जब शरीर धारण करता है तो वह बदला नहीं जाता है, बल्कि वही रहता है। ऐसी बात नहीं है कि शरीर में दो आत्माओं का निवास है – एक सांसारिक अर्थात् जीवात्मा दूसरी असांसारिक या वास्तविक अर्थात् साक्षी। ये दोनों ही लक्षण एक ही आत्मा के हैं। हम अज्ञानश तो ऐसा समक्ष लेते हैं कि सांसारिक और असांसारिक दोनो ही लक्षण दो आत्माओं के है। परन्तु तात्विक दृष्टि से देखने पर ऐसा पाते हैं कि कुछ लक्षण तो स्वाभाविक हैं और कुछ लक्षण विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करने के बाद प्रकट होते हैं। वस्तुतः शरीर धारण करने के बाद उसके शारीरिक लक्षण भी स्वाभाविक ही होते है, परन्तु वह जीवात्मा के शरीर पर निर्भर करता है।

जीवात्मा की शारीरिक अवस्था जब अपने पूर्व कर्मों के अनुसार जिन रूपों में आते हैं, उसी सांसारिक लक्षणों के अनुसार उन्हें कार्य करना पड़ता है। जीवात्मा शारीरिक होने पर अपने "अहं से युक्त मैं सुखी हूँ" इत्यादि समझने लगता है। सम्पूर्ण संसार का यही शारीरिक रूप है। इसका तात्पर्य है कि चैतन्य सर्वदा उपाधि से पूर्ण होता है। सुःख दुःख की उपाधि इस चैतन्य के साथ सर्वदा लगी रहती है। इस उपाधि के कारण ही

जीव अपने को सांसारिक समझने लगता है और संसार के धर्मो को अपना धर्म समझता है। यही जीव की शारीरिक अवस्था है। साक्षी की अवस्था जीव की शान्तावस्था है। यह जीव की उपाधि-रहित अवस्था है। अतः इस अवस्था में आत्म ज्ञान का उदय होता है। वेदान्त में इसे ही बीज स्थिति कहा गया है। इस अवस्था में जीव आत्म स्वरूप में स्थित रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवात्मा का यह साक्षी रूप शान्त और शुद्ध चैतन्य रूप है। संक्षेप में हम कह सकते है कि शारीरिक जीवात्मा नश्वर है जबकि साक्षी अनश्वर है। सम्पूर्ण संसार नश्वर रूप है और कूटस्थ, नित्य साक्षी अनश्वर है। इसी तथ्य को गीता में इस रूप में कहा गया है -

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।[1]

इस प्रकार जीवात्मा जब शारीरिक रूप में अवस्थित रहता है, तो उसमें वह जन्म धारण कर इस भूमि में अपना कर्म करता है। इस रूप में जीवात्मा तीन प्रकार का शरीर ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जन्म ग्रहण करनेके लिए जीवात्मा को तीन प्रकार का शरीर ग्रहण करना पड़ता है - स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर। इस भौतिक जगत में व्याप्त सभी अवयव जब शरीर को अपने वश में कर लेती है और शरीर मान-सम्मान, मोह-लोभ, ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होकर जब जीव कार्य करने लगता है, तो वही स्थूल शरीर के नाम से जाना जाता है। इस भौतिक जगत की सभी वस्तुएं नश्वर है और यह शरीर भी नश्वर है और नश्वर जानकर भी जीव जब उसमें लीन हो जाता है, तो

---

[1] *गीता 15/16*

मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, धन-दौलत से इस तरह चिपक जाता है कि वह उन वस्तुओं के छिन जाने से बेचैन हो जाता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चार्वाक दर्शन की तरह 'जब तक जीओ, शान से जीओ' की बात चरितार्थ होने लगती है और जीवात्मा इन्हीं अवयवों में बना रह जाता है तथा अपने सभी कार्य इसी से प्रेरित होकर करता है। जीव की सर्वज्ञता सर्वशक्तिमता समाप्त हो जाती है।

जीवात्मा का स्थूल शरीर जन्म धारण करने के लिए होता है। यह शरीर अपने माता-पिता से मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्थूल शरीर के जनक हमारे माता-पिता हैं। यह शरीर पाँच भौतिक तत्वों - पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु से निर्मित होता है। इस शरीर का लालन-पालन विभिन्न प्रकार के अन्न से होता है। अन्न से उत्पन्न होने के कारण इस शरीर को अन्नमय कोष भी कहा जाता है। यह शरीर ही जीवात्मा की सांसारिक अनुभूतियों एवं भौतिक पदार्थों के भोगने का माध्यम बनता है। जीवात्मा की जागृतावस्था या जागृत चैतन्य का यही आधार है। सभी प्रकार की सांसारिक क्रियाओं का प्रदर्शन जीवात्मा इसी स्थूल शरीर के द्वारा करती है। मृत्यु के वाद जीवात्मा इस शरीर को छोड़कर एक नये शरीर को अपना आधार बनाती है, जो स्थूल शरीर की तुलना में सूक्ष्म होता है। मृत्यु के बाद स्थूल शरीर ही निष्चेष्ट बन जाता है, जिसका गुण-धर्म, जाति-कर्म सभी उसी भौतिक जगत में रह जाते हैं और वह जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर के धर्म, गुण के अनुसार अपना कार्य करना शुरू कर देती है।

मृत्यु के वाद जीवात्मा जिस सूक्ष्म शरीर को धारण करती है, वह स्थूल शरीर की भाँति नहीं होती है। उसका कोई भी आकार उस समय स्थूल शरीर के आकार से नही मिलता क्योंकि जब स्थूल शरीर को जीवात्मा छोड़ देती है, तो अपने पूर्व कर्मों के अनुसार उसे सूक्ष्म शरीर

धारण करना पड़ता है। यह सच है कि स्थूल शरीर का निर्माण जिन तत्वों से होता है, उनसे भी सूक्ष्म तत्वों से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। परन्तु स्थूल शरीर की भाँति इस सूक्ष्म शरीर का प्रत्यक्षीकरण बाह्य इन्द्रियों से नही हो सकता। इसी सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर के नाम से भी जाना जाता है क्योकि यह एक लिंग के रूप में कार्य करता है, जिसके आधार पर आत्मा के अस्तित्व को अनुमित किया जाता है। आत्मिक क्रियाओं का आधार आत्मा ही हो सकती है।

आत्मा के तीसरे प्रकार का शरीर ही ऐसा मौलिक आधार है जहाँ से स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का उद्भव होता है। यह शरीर प्रगाढ़ निद्रा की उस आनन्दमय अनुभूति का आधार है, जहाँ जीवात्मा सांसारिक विषयों की कामनाओं से अशान्त नही होती। इसीलिए कारण शरीर को जीवात्मा का आनन्दमय कोष कहा जाता है। इस अवस्था में ज्ञाता ज्ञेय दोनो का लय हो जाता है। यह प्रकाशित होने योग्य नही वरन् प्रकाश्य है। यह नियमित नहीं किया जा सकता, परन्तु नियन्ता है। यह नाद का नाद, आनन्द का भी आनन्द, पूर्णता की पूर्णता और शून्य का भी शून्य है। इस प्रकार हम कह सकते है कि यह कारण शरीर ही ऐसा शरीर है जिसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के शरीर का लय हो जाता है। इसलिये इसे लयावस्था भी समझा जाता है। जब जीवात्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था को पहचान लेती है, तब वह इन सभी प्रकार के शरीरो का त्याग कर मुक्तावस्था में पहुँच जाती है, जो उसका स्वाभाविक रूप है।

जीव का एकत्व-अनेकत्व -

अद्वैत वेदान्त में जीव वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है। इसलिए व्यावहारिक रूप में जीव भाव को स्वीकार किया जाता है। यह जीव एक है या अनेक इस विषय अद्वैत आचार्यो में मतभेद है। कुछ अद्वैत आचार्य अविद्या को एक मानते हैं तथा उनके अनुसार एक अविद्या से उपहित चेतन एक ही

जीव भावापन्न होता है, इसीलिए वे लोग एक जीववाद के पक्षपाती है। अन्य अद्वैत आचार्य अविद्या के एक होते हुए भी नाना अन्तःकरणों को लेकर एक शुद्ध चेतन के नाना जीव भावों को स्वीकार करते हैं। इस मत को अनेक जीववाद कहते हैं।

एकजीववाद –

अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने तार्किक दृष्टि से एक जीववाद की स्थापना की है। प्रकाशानन्द ने इस स्थापना का आधार *'अजामेकां अजोह्येकः।'*[1] इस श्रुति वचन को बनाया है। उनकी मान्यता है कि इस श्रुति वाक्य में प्रयुक्त 'हि' शब्द के द्वारा जीव के एकत्व का प्रतिपादन होता है।[2] उनकी मान्यता है कि यह जगत प्रपंच अतान कल्पित है। जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में जगत की सृष्टि करता है। उसे अनेक वस्तुएं दिखायी पड़ती है। ये सब उसकी स्वप्नकालिक कल्पना का परिणाम है, जब तक वह कल्पना रहती है, तब तक वे वस्तुएं विद्यमान रहती है। स्वप्न की अवस्था समाप्त होने पर कल्पित प्रपंच समाप्त हो जाता है।[3] इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में दिखायी पड़ने वाला यह जगत और जीव अज्ञान कल्पित है। जब तक अज्ञान की स्थिति रहती है, तब तक वे सत्य प्रतीत होते हैं। अज्ञान के विलीन होने पर वे विलीन हो जाते है। इसी प्रकार जैसे मुझे प्राण स्पंदन की अनुभूति होती है, वैसे अन्य देहों में भी इसे अनुभव किया जाता है। यह अनुभूति स्वप्न कालिक अनुभव के समान है। जिस प्रकार स्वप्न काल में देखे गये पदार्थ मिथ्या है उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में देखे गये पदार्थ भी मिथ्या हैं। इससे सर्वत्र एक समान अनुभूति से एकजीववाद सिद्ध होता है।

---

[1] *श्वेताश्वर उपनिषद 4/5*
[2] *वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली पृ0 17*
[3] *वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली पृ0 19*

यहाँ शंका होती है कि एक जीववाद में द्वितीय कोई नहीं है तो एक मात्र जीव को ब्रह्म विद्या का उपदेश कौन करेगा? उपासक पृथक न होने के कारण उपासक एव उपास्य भाव कैसे हो पायेगा? इसके उत्तर में एक जीववादी का कहना है कि जिस प्रकार स्वप्न में सभी व्यवहार देखे जाते हैं, उसी प्रकार कल्पित गुरू शिष्य भाव, उपासक-उपास्य भाव, आदि समस्त व्यवहार हो सकते हैं। शास्त्रो में शुक मुक्ति आदि सुना जाता है, वह भी कल्पित ही है। एक जीववाद से सम्बन्धित शंकाओं का समाधान अर्थात् शंका रूपी पंक का प्रक्षालन स्वप्न दृष्टान्त रूपी जलधारा से हो जाता है।[1]

युक्ति पूर्वक जीव का एक होना सिद्ध हो जाने पर भी संसार में एक ही समय किसी को दुःख किसी सुख का अनुभव होना अथवा अन्य अनेक प्रकार के अनुभव होना प्रायः देखा जाता है, यदि जीव एक ही हो तो यह विविध अनुभव एक साथ कैसे संभव है?

विद्यारण्य ने *विवरण-प्रमेयसंग्रह* में, विवरण में कही मयी विभिन्न जीवभावापादक उपाधि की संगति दिखाते हुए कहा है कि अविद्योपाधिक जीव मानने पर वह एक और सर्वगत होता हुआ भी अन्तःकरण में ही सम्बद्ध होता है जैसे एक गोत्व जाति पृथक-पृथक गो-व्यक्तियों में अभिव्यक्त होती है। अनेक गो-व्यक्ति अनेक स्वभावों के होते हैं, पृथक-पृथक सुख-दुःखादि भोगते हैं पर उनकी अनेकता गौत्व जाति की एकता को नहीं बाधित करती है। ऐसे ही जीव चैतन्य अविद्योपाधिक होने के कारण एक है, वही पृथक-पृथक अन्तःकरणों में पृथक-पृथक सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है।[2]

---

[1] *अत्र च संभावितसकलशंकापंकप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्त सलिलधारयैव कर्त्तव्यमिति।*
सिद्धान्त लेश संग्रह पृ0 121

[2] *यथा सर्वगताऽपि गौत्वादिजातिः सास्नादिमद्व्यकावुपरज्यते, नान्यत्र, तद्वत्। ----*
वि0प्र0सं0, पृ0 251

नृसिंहाश्रम ने *वेदान्ततत्वविवेक* में अविद्या में प्रतिबिम्बित आत्मा को ही जीव का स्वरूप मानते हुए, एक बिम्ब का एक ही उपाधि में एक ही प्रतिबिम्ब से युक्त मानते है – इस युक्ति से एक जीववाद को ही अपना अभिमत कहा है। उन्होंने अनुमान दिया है कि देवदत्त–शरीराभिमानी जीव यज्ञदैवशरीराभिमानी से भिन्न नहीं है, क्योंकि देवदत्त तथा यज्ञदत्त दोनों सर्वज्ञत्व का अधिकरण न होते हुए भी चेतन है, अथवा दोनों एक ही तरह से अल्पज्ञ हैं।[1]

पुनः शंका उठाई जाती है यदि एक ही जीव हे तो उसके सोने पर समस्त जगत् की अप्रतीति होगी, जब कि एक व्यक्ति के सो जाने पर दूसरे व्यक्तियों को संसार की प्रतीति पहले की तरह ही बनी रहती है। इसके उत्तर में कहा है कि समष्टि का अभिमानी वह एक मुख्य जीव अभी सोया नहीं, वह प्रलयकाल में ही सोता है, तब जगत् प्रतीत नहीं होता।प्रतीयमान नाना व्यक्ति उस एक जीव के ही अनेक अन्तःकरणों के अवच्छेद से प्रतीत होने वाले जीवाभास हैं, जैसे स्वप्न में 'मैं सुखी हूँ' 'दुःखी' है तीसरा 'उदासीन' है इत्यादि प्रतीति के विषय–भूत अनेक व्यक्ति आभास–मात्र ही होते हैं। इस अन्तःकरणावच्छिन्न जीवाभास के सोने पर केवल उसी के प्रति जगत् अप्रतीत होता है, अन्यों के प्रति नहीं, क्योंकि उनकी अवच्छेदक उपाधि की निद्रावृत्ति द्वारा लीन अवस्था नहीं आयी है। जो जीवाभास सोते है, उनमें भी जाग्रत के संस्कार का कारण (अविद्या) रूप से स्थिति रहती है जब तक मूल उपाधि (अविद्या) ही लीन न हो

---

[1] *अविद्याप्रतिबिम्बात्मा तत्प्रतिबिम्बप्रतियोगिकभेदवान्न भवति, एकविम्बैकौपाधित्वात्, यदैवं तदैवे। यथेकस्मिन् दर्पणं एकस्य मुखप्रतिबिम्बः। देवदत्तशरीराभिमानी जीवो न यज्ञदतशरीराभिमानिभेदवान् सर्वज्ञत्वानधिकरणत्वे सति चेतनत्वात्, तद्वत् किंचिज्ज्ञत्वादिति वा।*
वे०त०वि०, पृ० 387–97

जाय। इसीलिये सुप्त जीवाभास पुनः जागकर पहले जैसा ही जगत् देखता है।[1]

"ब्रह्म ही जीव है अतः एक ही जीव है" यह युक्ति ठीक नहीं क्योंकि तब ब्रह्म का ही बन्धन मोक्ष होगा, जिससे उसके निर्विकार होने की श्रुति से विरोध होगा। – ऐसी शंका का उत्तर है कि मुक्ति तो ब्रह्म का स्वरूप ही है और बन्ध अविद्यक है, अतः इनमें कोई विरोध नहीं है। तथा मृगतृष्णा द्वारा कल्पित जल से मरूभूमि गीली नहीं हो सकती है।[2] शरीर अनेक होने पर भी उनमें एक ही जीव स्वीकार किया जाता है। भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में उन उन अन्तःकरणों को लेकर 'मैं' 'तू' 'वह' इत्यादि प्रतीतियाँ हो जाती है।[3]

एक ही जीव का भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में अवच्छेद मान लेने से ही एक व्यक्ति के सुख-दुःख का दूसरे को भान न होना उचित है, एवं एक को शुक्ति में दिखाई देने वाले रजत का बाध होने पर उसी एक के प्रति भ्रम-बाध द्वारा सभी के रजत भ्रम दूर नहीं हो जाते है।

अप्पय दीक्षित ने *सिद्धान्तलेश संग्रह* में एकजीववादी आचार्यो के मत का अभिप्राय बताते हुए कहा है कि ब्रह्म एक है क्योकि उसमें अवच्छेद या उसका प्रतिबिम्ब स्वीकार्य नहीं, वह स्वयं ही अविद्योपहित होकर जीव-पदवाच्य है अतः एक ही जीव है, अतः एक ही शरीर सजीव है, अर्थात् जीव से युक्त है अन्य सब शरीर स्वप्न में देखे जाने वाले शरीरों के समान निर्जीव हैं। समस्त जगत् उसी एक जीव के अज्ञान द्वारा कल्पित

---

[1] *न चैवं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव जीवे सुप्ते समस्तजगदप्रतीत्यापातः, समष्टंयभिमानिनौ मुख्यजीवस्यासुप्तत्वात्। तस्मिन् लयकाल प्रसुप्ते जगदप्रतीतेः। अन्तःकरणावच्छिन्नं जीवाभासे तु सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति।*

अद्वैत सिद्धि पृ० 539

[2] *न हि मृगतृष्णिकाकल्पितौदकेन स्वभावशुष्का मरूभूमिराद्रां भवति।*

अद्वैत सिद्धि, पृ० 540

[3] *वही।*

है। जैसे जब तक निद्रा को निवृत्ति नहीं होती, तभी तक स्वप्न देखा जाता है, वैसे ही जब तक जीव की अविद्या का नाश नहीं होता, तब तक ही जीव के सब व्यवहार होते हैं।[1] बन्ध–मोक्ष–व्यवस्था करने का अवकाश नहीं है, क्योंकि जीव एक ही है, और वह बद्ध है। शुक आदि की जो मुक्ति श्रुत है वह स्वप्नकालिक अन्य पुरूष की मुक्ति के समान ही है।[2]

अन्य मतों का संग्रह करते हुए अप्पय दीक्षित ने कहा है कि एकजीववाद का *'अधिकं तु भेदव्यपदेशात्'* तथा 'लोकवतु लीला–कैवल्यम्' इत्यादि सूत्रों[3] में प्रतिपादित सिद्धान्त से विरोध होता है, क्योंकि वहां जीव से अन्य ईश्वर को ही जगत् का स्रष्टा बताया गया है, तब जीव को सृष्टिकर्ता कैसे माना जाय यह सोचकर कुछ विद्वानों ने ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत हिरण्यगर्भ को एक मुख्य जीव माना है, एवं अन्य सबको उस हिरण्यगर्भ के प्रतिबिम्बभूत चित्रपट में चित्रित मनुष्य–देह में अर्पित पटाभास के समान जीवाभास कहा है।[4]

यहाँ भी, प्रत्येक कल्प में हिरण्यगर्भ का भेद होने से किस हिरण्यगर्भ के मुख्य जीव माना जाय इसका कोई विनिगमक नहीं है, इससे सभी हिरण्यगर्भे में मुख्य जीवत्व प्राप्त होने से एकजीवत्व नहीं बन पड़ेगा – ऐसा सोचकर कुछ लोग जीव के मुख्य–अमुख्य विभाग के बिना

---

1 *एकौ जीवः, तैन चेकमेव शरीरं सजीवम्। अन्यानिस्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि। तदज्ञानकल्पितं सर्व जगत्, तस्य स्वप्नदर्शनवयावदविद्यं सर्वो व्यवहारः।*
सि0ले0सं0, पृ0 121

2 *बद्धमुक्तव्यवस्थाऽपि नास्ति; जीवस्यैकत्वात्। शुकमुक्त्यादिकमपि स्वाप्नपुरुषान्तर–मुक्त्यादिकमिव कल्पितम्। अत्र च सम्भावितसकलशंकापंकप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्तस–लिलद्यरयैव कर्तव्यमिति। वही।*

3 *ब्र0स02/1/22 तथा 2/1/33*

4 *जीवाधिक ईश्वर एव जगतः स्रष्टा न जीवः। तत्प्रतिबिम्बभूताश्चित्रपटलिखितमनुष्यदेहार्पितपटाभासकल्पाः जीवाभासः।*
सि0ले0सं0, पृ0 122–23

ही, एक जीव द्वारा अनेक शरीरों का अधिष्ठित होना मानते हैं। उनका भाव यह है कि अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब रूप जीव एक है, क्योंकि चैतन्य एक है और अविद्या भी एक है। वही जीव सब शरीरों में भोग के लिये अधिष्ठित है। अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप जीव हिरण्यगर्भ-शरीर में अधिष्ठित है और उस हिरण्यगर्भ-शरीर में अधिष्ठित जीव के प्रतिबिम्ब रूप जीवाभास अन्य शरीरों में स्थित हैं - ऐसा पहले मतवादियों का अभिप्राय था, वह ठीक नहीं, क्योंकि अन्य जीवों के, हिरण्यगर्भ का प्रतिबिम्ब होने में कोई प्रमाण नहीं है।[1]

अप्पय दीक्षित ने एकजीववाद पर एक नई शंका उत्पन्न करके उसका समाधान किया है। वह शंका यह है कि यदि सब शरीरों में एक ही जीव है तो, अपने शरीर के अवयव-भेद के समान शरीर का भेद होने पर भी परस्पर के सुख-दुःखादि का अनुभव या कम से कम अनुसन्धान होना चाहिये। अर्थात् जैसे एक शरीर के अभिमानी जीव को 'मेरे सिर में पीड़ा है, मेरे हाथ कोमल पुष्प का स्पर्श कर रहे हैं, मैं उसकी सुगन्ध ले रहा हूँ, मेरे एक पांव में कांटा चुभा है दूसरा स्वस्थ है' इत्यादि पृथक-पृथक अवयवों के सुख-दुःख आदि का एक 'मैं' के साथ जुड़ा हुआ अनुभव होता है, वैसे ही, यदि सब शरीरों में एक ही जीव अधिष्ठित है तो - 'राम के शरीर में मुझे वेदना है, श्याम के शरीर में मै सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होना चाहिये। यह होता नहीं अतः एक जीववाद असंगत है।

इसके उत्तर में अप्पय दीक्षित ने कहा हे कि यद्यपि पूर्वजन्म के शरीर तथा इस जन्म के शरीर का अधिष्ठाता जीव एक है यह सभी को सम्मत है, तब भी जन्मान्तरीय सुख-दुःखादि का अनुसन्धान इस शरीर में

---

[1] *हिरण्यगर्भस्य प्रतिकल्पं भेदेन कस्य हिरण्यगर्भस्य मुख्यं जीवत्वमित्यत्र नियामकं नास्तीति मन्यमाना एक एव जीवो विशेषेण सर्व शरीरमधि तिष्ठति। वही, पृ0 123*

नहीं देखा जाता। अतः सुख-दुःखादि का व्यापक अनुभव न होने में शरीर भेद ही निमित्त है, जीवभेद नहीं।[1]

सर्वज्ञात्ममुनि ने एक जीववाद का समर्थन करते हुए बंधन-मोक्ष व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। वे प्रतिबिम्बवादी है। इसलिए उनके अनुसार अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है। अविद्या एक है अतः उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य भी एक ही है। अन्तःकरण जीव की अभिव्यक्ति का स्थान है। अविद्या के द्वारा कल्पित ये अन्तःकरण प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। जिस अन्तःकरण में ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, उस अन्तःकरण को धारण करने वाला जीव मुक्त हो जाता है, और जिस अन्तःकरण में ब्रह्म का साक्षात्कार नही हो पाता है, ऐसे अन्तःकरण से युक्त जीव बद्ध रहता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनेक आचार्य एक जीववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु एक जीववाद के द्वारा दी गयी बंधन मोक्ष की व्यवस्था की युक्ति से विभिन्न अद्वैताचार्यगण सन्तुष्ट नहीं हुए और अनेक जीववाद के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत किये।

अनेक जीववाद -

अद्वैत वेदान्त के कुछ आचार्यो ने जीव के व्यावहारिक स्वरूप पर भी विचार किया है। वे एक जीववाद की कल्पना को दुरूह और अनुयुक्त मानते हैं। यही कारण है कि *भामती प्रस्थान* में *अनेक जीववाद* का समर्थन किया गया है। अन्तःकरणों का अनेकता के कारण व्यावहारिक दृष्टि से अनेक जीववाद का सिद्धान्त पूर्णतया उपयुक्त है। पारमार्थिक रूप में भले ही एक अद्वितीय ब्रह्म है, किन्तु आवरण और विक्षेपमयी अविद्या की सम्भावना रहने तक व्यावहारिक ही है। परमतत्व पर सभी प्रकार से

---

[1] *न चेवं शरीराक्यवभेद इव शरीरभेदेऽपि परस्परसुखाधनुसंधानप्रसंग, जन्मान्तरीयसुखाधनुसन्धानादर्शनेन शरीरभेदस्य तदनुसन्धान प्रयोजकत्वकलृप्तेः।*
वही, पृ0 124

विपरीतता का अध्यास कराने वाली अविद्या एक को अनेक रूप बनाने में समर्थ है।

शंकराचार्य ने कर्मो के कर्तृत्व व भौक्तृत्व के आधार पर व्यावहारिक दृष्टि से जीवो में अनेकत्व का प्रतिपादन किया है। यदि जीव को एक मान लिया जाय तो कर्मफल व्यवस्था की व्याख्या नही हो पायेगी। अतः समस्या के समाधान के लिए उपाधियों को जीवों की अनेकता का कारण मानते हैं। कर्मफल की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए वे कहते हैं कि एक ही व्यक्ति मुमुक्षु तथा फलो का उपभोग करने वाला नही हो सकता है। इसीलिए वे बद्ध और मुक्त की व्यवस्था के लिए जीवों में अनेकत्व को स्वीकार कर लेते है।[1] जीव पारमार्थिक रूप से एक है परन्तु औपाधिक दृष्टि से उसमें अनेकत्व है। जीव समष्टि की दृष्टि से एक और व्यष्टि की दृष्टि से अनेक है। यहाँ प्रश्न है कि एकत्व तथा अनेकत्व में परस्पर विरोध दिखलायी पड़ता है, फिर भी दोनों में संगति कैसे की जा सकता है? शंकराचार्य कहते हैं कि जीव में एकत्व तथा अनेकत्व दोनो संभव हो सकता है, इसमें कोई विरोध नही है। आकाश घटाकाशन्याय से जीव में एकत्व तथा अनेकत्व स्वीकार किया जा सकता है। जैसे आकाश एक है परन्तु विभिन्न घटो में उसका प्रतिबिम्ब देखकर आकाश के नानात्व की प्रतीति होती है, क्योंकि महाकाश और घटगत आकाश अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित है।[2]

आचार्य गौड़पाद ने *माण्डूक्य कारिका* में जीव भाव का उदय दिखाते समय जीव शब्द में बहुवचन का ही प्रयोग किया है। महाकाश से अनेक घटाकाशों के समान आत्मा में जीवो का उदय कहा है, एवं उसी रीति से,

---

[1] *न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत संभवति।*
श्रीमद्भगवद्गीता (शां0भा0)4/2

[2] *कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ सम्भवेयाताम्, नैष दोषः। आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापित्वात्।।* *ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)2/1/22*

पुनः आत्मा में विलय भी कहा है।[1] अतः घटाकाश-जैसा परिच्छेद-युक्त होना ही आत्मा का जीव होना है। पुनः कहा है कि एक घटाकाश के धूलि व धुएं आदि से युक्त होने पर सारे घटाकाश वैसे नहीं हो जाते उपाधिकृत निमित्त से जीवों में व्यावहारिक भेद होता है।[2]

योगवासिष्ठ में जीवों का अनेक अनन्त (संख्या की दृष्टि से) होना शब्दशः कहा गया है। चैतन्य की संसार-भावना से ऊहित (अनुमान द्वारा कल्पित) कोटि-कोटि जीव हैं, जो ब्रह्म से उसी प्रकार निर्गत है एवं निर्गत होते रहते है जैसे निर्झर से जल-कण। ये असंख्य जीव अपने-अपने पहले जन्मों के संस्कार-वासनाओं के कारण विवश होकर श्रृंखलाबद्ध के समान भिन्न शरीरों में जन्म लेते हैं, अनेक दशायें भोगते हैं।[3]

आचार्य शंकर ने *शरीरकमाष्य* में जीवविषयक विचार के सभी स्थलों पर जीव शब्द एकवचन में ही लिया है किन्तु एकजीववाद में पोषित एकजीवत्व-सिद्धान्त के प्रति आग्रह एवं नानात्व की अस्वीकृति के प्रत्यायक कोई कथन नहीं है। जीव एक हैं या अनेक उसे पृथक रूप से विचार का लक्ष्य न बनाकर प्राप्त जीवत्व के स्वरूप के विचार में ही समस्त विचार का ध्येय केन्द्रित है। तथापि 'जन्माद्यस्य यतः'[4] के भाष्य में संसार का स्वरूप कहते समय उसे 'अनेक कर्ता व भोक्तावो से युक्त कहा है। इन अनेक कर्ता आदि का व्याख्यान टीकाओं में अनेक जीव-रूप से ही लिया गया है।

---

[1] *आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः। घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।
घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयौ यथा। आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।
मा०का० 3/3-4*

[2] *यथेकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते। न सर्वे संप्रयुज्यस्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।।
मा०का० 3/5*

[3] *एवं जीवाश्चितौ भावाः भवभावनयोहिताः। ब्रह्ममणः कल्पिताकाराल्लक्षशौऽप्यथ कोटिशः।। स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः। दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः।।
यो०वा० 4/43/1-3*

[4] *ब्र०सू० 1/1/2*

वाचस्पति मिश्र ने *भामती* में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही जीव-पदार्थ माना है, अन्तःकरणों के अनेक होने से जीव नाना हैं, और उनमें आश्रित अविद्यायें भी नाना हैं, जिन सबका विषय ब्रह्म है, जो विषय होने के नाते ही उन सब अविद्याओं का प्रवर्तक है, और उनके कार्य-भूत प्रपंच विवर्त का अधिष्ठान है। भामतीकार ने जीवभाव की व्याख्या के समय तो जीव शब्द एक वचन में प्रयुक्त किया है[1], अन्यत्र सर्वत्र बहुवचन का ही प्रयोग है। वाचस्पति-मत में विप्रतिपति या युक्ति-संगति न होना रूप दोष केवल-अन्तःकरण व अविद्या के परस्पराश्रय को लेकर है, जिसका वारण भामतीकार ने बीजाङ्.कुर-दृष्टान्त से ही अनेक बार किया है। मण्डन मित्र ने अनुपपत्ति को अविद्या का साधक ही माना है और कहा है कि विद्या व. उसके सम्बन्ध को लेकर कुछ भी अनुपपन्न है ही नहीं।[2]

वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है कि कर्तृत्व- भोक्तृत्व आदि समस्त चेतन-धर्म रूप से प्रतीत होने वाले धर्म त्वंपदार्थ (जीवतत्व) के अर्थमल हैं। जिन्हें वह तत् पदार्थ के साथ अभिन्न होता हुआ त्याग देता है, तभी असंग अकर्ता होता है।[3]

इस कथन का तात्पर्य यह है कि त्वंपदार्थ या जीव संघटना की दृष्टि से एक मिश्रित वस्तु है, विशुद्ध नही यह तो स्वीकार्य है ही। उस मिश्रणात्मक वस्तु में जो शुद्ध चैतन्यांश है, उसी के स्वरूप में असंगत्व, अकर्तृत्व आदि विद्यमान हैं, और अचेतन अविद्या रूप मन अंश में ही शुद्ध-विरोधी समस्त धर्म निहित हैं, दोनों के परस्पर अभ्यास से ही

---

[1] *जीवात्मैवाङ्.गुष्ठमात्रः। स खल्वस्तः करणाधुपाधिककल्पितौ भागः परमात्मनः। भामती 1/3/24 पृ0 315 नित्या जीवात्मानौ न विकाराः .... पृ0 602। जीवभावस्तस्य ब्रह्ममणो नाथनिवचैनीयाविद्योपधानभेदादेकस्येव बिम्बस्य दर्पणायुपाधिभेदात् प्रतिबिम्बभेदाः। भामती पृ0 623।*

[2] *न हि मायायां काचिदनुपपचिः, अनुपपद्यमाना हि माया ...... ब्र0सि0, पृ0 10*

[3] *विगलितपरा वृत्यर्थैत्वं पदस्य तदा त्वमिति हि पदेनेकार्थत्वें त्वमित्यपि यत्पदम्। तदपि च तदा गत्वेकार्थय विशुद्धचिदात्मतां त्यजति सकलान् पदाथैमलान् निजान्।। भा0 1/1/4, पृ0 125*

जीव–पदार्थ निष्पन्न है और कर्तृत्व जड़ वस्तु में हो नहीं हो सकता, दण्ड मृत्तिका आदि कभी घट के कर्ता नहीं होते, अथवा चाक तथा उसका घूमना भी। अतः वेदान्त में अविद्या द्वारा उपहित स्वरूप वाला जीव वास्तव में आत्मा ब्रह्म से (कम से कम व्यवहार दशा तक) अन्य ही त्वंपदार्थ (जीव) का कल्पना सार्थक है, जो परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म होते हुए भी व्यवहारदशा में उससे भिन्न जैसा ही रहता है, इस भेद की अविद्या आध्यासिक मान लेने को कारण अद्वैत तत्व का भी व्याघात नहीं होता, और जीवात्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व–प्रतिपादक श्रुतियां सार्थक होती है।

भाष्यकार के अन्तिम तर्क को और अधिक स्पष्ट करते हुए *भामतीकार* ने कहा है यद्यपि कर्तृविभक्ति केवल कर्ता के लिये प्रयुक्त होती है, तथापि आत्मा का कर्तृत्व कर्म व करण के उपधान को लेकर है, शुद्ध का नहीं, जो परशु द्वारा वृक्ष काट्ने वाला है, वह अकेला (परशु से रहित रूप में) काट्ने वाला नहीं होता।[1]

'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्'[2] सूत्र पर युक्तियों का ही अनुसरण करते हुए *प्रकटार्थ विवरण* में कहा गया है – जीव का पारमार्थिक रूप ब्रह्म है, कर्तृत्व औपाधिक है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चिद् धातु जीव है उसी में अविद्याजन्य कर्तृत्वादि सम्बन्ध है, और स्वरूप भेद का अभाव होने से आत्मा से अतिरिक्त कोई भोक्ता नहीं है।[3] सांख्य बुद्धि में कर्तृत्व मानता है पुरूष में भोक्तृत्व, वह न्यायसंगत नहीं है और जीव का कर्तृत्व केवल

---

[1] *यद्यपि कर्तृविभक्तिः केवले कर्तृरि श्रूयते, तथापि कर्मकरणौपधानकृतमस्य कर्तृत्वं न शुद्धस्य, न हि परशुसहायश्छेता केवलश्छेदा भवति। भा0 2/3/40, पृ0 618*

[2] *ब्र0सू0 2/3/33*

[3] *अविद्याप्रतिबिम्बितस्येवचिद्धातौस्तदुत्थकर्तृत्वादिसम्बन्धः स्वरूपभेदाभावाभिप्रायेण चान्यौ भौक्ता नास्ति। प्र0वि0 2/3/40, पृ0 640*

शास्त्रार्थ द्वारा से कल्पित नहीं श्रुति द्वारा कहा भी गया है।[1]

उपाधि के उद्‌भव-अभिभव से दुःखादि का उद्‌भवादि कहे जाने से भी औपाधिक कर्तृत्व आत्मा में है।[2]

अन्तःकरण जो कि चैतन्य की छाया लेकर चैतन-जैसा बन जाता है।[3]

मधुसूदन सरस्वती ने *सिद्धान्तबिन्दु* में, जीवात्मा के स्वरूप के विषय में चार्वाक से लेकर वेदान्त तक सभी मतों का संग्रह करते हुए कहा है कि किन्हीं (वैशेषिक, नैयायिक व मीमांसक) के मत से त्वंपदार्थ (जीव) कृतिमान् (कर्ता) भोक्ता (कर्मफल व सुख-दुःख आदि का भोग करने वाला) जड़ और विभु है। भाट्ट मीमांसक उसे कर्ता, भोक्ता, जड़ तथा बोधरूप भी मानते है। सांख्य व योग में उसे केवल ज्ञानस्वरूप तथा भोक्ता माना गया है, कर्ता नहीं। और अद्वैत-मत में अविद्या से कर्तृत्वादि अवस्थाओं को प्राप्त होने वाला, वस्तुतः निधर्मक परमानन्दबोध ही त्वंपदार्थ है।[4]

मैं मनुष्य हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, यह प्रतीति सभी के प्रति प्रसिद्ध होने पर भी मिथ्या ही प्रतीति है क्योंकि श्रुति व युक्ति से बाधित है। श्रुतियां आत्मा को अकर्ता-अभोक्ता बताती है और युक्ति से भी आत्मा

---

[1] *वृतिव्याप्त हि विषये प्रतिबिम्बितमात्मचैतन्य विषयोपलऽब्धिः। तत्र यद्यपि प्रतिबिम्बभेदनिरूप्यमाणेऽपि तथापि बिम्बाधानं प्रतिबिम्बभित्यस्ति लोकानुभवः, तदवदात्मनौऽपि चित्प्रतिबिम्बनिमितत्वेन व्यावहारिकमुपलब्धृत्व नतूपलब्धिक्रियो यत्वेनेति भावः।* वही पृ० 644

[2] *अहं करोमीति। न चानुभूयमानगतो धर्मोऽनुभपमन्तरेण भवितु भावः। यस्मात् प्रतीयमानं मिथ्या ...... कर्न्तकरणप्रतिविम्बिततया मिथयवातपनः कर्तृत्वम्। तयौश्च तादात्म्याचदैकरूप्यावभासः।* वही, पृ० 644-45

[3] *जीवो वस्तुतोऽभोक्तैव तस्मिन् प्रतीयमानौ भोगः स्फटिकलौहित्यवदोपाधिकः। उपाधिश्च क इत्याकक्षायां चित्प्रतिबिम्बाश्रयतया लब्धचेतनभावौ दुःखादिपरिणाम्यन्तः करणमेवेति तयौरन्य इति श्रुतिरनुवदति।* अ०दी०वि०, पृ० 55

[4] *कर्ता भोक्ता जडौ विभुरिति वेशेषिकताकिंकप्रभाकराः। जडौ बोधात्मक इति भाट्टाः। भोक्तृवं केवलबोधात्मक इति सांख्याः पातंजलाश्च। अविद्यया कर्तृत्वादिभाक् परमार्थतौ निधेर्मकः परमानन्दबोध एवेत्यौपनिषदाः।*

सि०वि०, पृ०12

में वास्तविक कर्तृत्व मानने पर कभी मोक्ष न होने की संभावना हो जाती है, क्योंकि समस्त गुणों की निवृत्ति ही मोक्ष है, कर्तृत्व आदि स्वाभाविक गुण रूप से वर्तमान रहे तो मोक्ष नहीं हो सकता।[1] अतः अविद्या ही उसे कर्ता–भोक्ता जैसा दिलाती है, वह स्वरूपतः न कर्ता है न भोक्ता।

विवरण प्रस्थान में भी अन्तःकरण के भेद से अनेक जीववाद का समर्थन किया गया है। अन्तःकरण और उसके संस्कार अनेक है। इसलिए उपाधि के भेद से एक ही अज्ञान घटाकाशादि की तरह नाना हो जाता है और उसमें प्रतिबिम्बित चेतन भी नाना हो जाते हैं। इसी प्रकार एक अविद्या पक्ष में भी अन्तःकरण के भेद से नाना जीववाद का समर्थन होता है।[2] अर्थात् अनेक है, किन्तु यह भेद वास्तविक नहीं है, क्योंकि इसका निराकरण पहले ही किया जा चुका है। जैसे तार्किक (न्यायमत में) श्रोत के एक होने पर भी उन–उन वर्ण शंष्कली रूप उपाधि के भेद से शब्द ज्ञान में भी भेद की व्यवस्था हो जाती है वैसे ही आत्मा के एक होने पर भी अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से बन्ध मोक्षादि भेद की व्यवस्था हो जाती है। अर्थात् भिन्न–भिन्न जीवों में किसी को बन्ध होता है किसी को मोक्ष। सभी को एक साथ ही बन्ध होने और सभी एक साथ ही मुक्त हो जावें ऐसी आपत्ति नहीं हो सकती। अतः यहां पर विवरणकार के मत में प्रतिबिम्ब के वास्तविक होने पर आगे कहे जाने वाले *"तत् त्वमसि आदि"* पद में जहद् अजहद् लक्षणा ही माननी होगी।[3] प्रतिबिम्ब बिम्ब से अन्य (भिन्न) नहीं है यह अभी कहा गया है। इसलिए प्रतिबिम्ब बिम्ब रूप से पारमार्थिक ही है। अतः "तत्वमसि" में "तत्" "त्वम्" आदि पदों में

---

[1] *अहं मनुष्यः कर्ता भोक्तेत्यादिप्रतीतिस्तावत्सर्वजनप्रसिद्धा। सा च न स्मृतिः अपरोक्षावभासत्वाद् भेदाग्रहपूर्वकत्वाच्च (नाभि प्रभा) श्रुतियुक्तिबाधितत्वात्। योऽय विज्ञानमयः प्राणेषु हृयन्तज्योतिः पुरुषः (बृह0 4/3/7) य आत्मा सर्वान्तरः (वही 3/4/1) सि0बि0, पृ0 31–35*

[2] *सि0ले0 नानाजीववाद ओर सि0वि0, पृ0 69*

[3] *सि0वि0भा0, पृ0 69*

जहत्-अजहत् लक्षण ही है ऐसा मानना होगा। इसी को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं।

अप्पय दीक्षित अनेक जीववाद का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि उपाधियाँ अनेक हैं अतः जीव भी अनेक हैं। ब्रह्म ही अविद्या के कारण अन्तःकरण रूपी उपाधियों से युक्त होकर अनेकत्व को प्राप्त करता है। जिस अन्तःकरण में ज्ञान का उदय हो जाता है, वहाँ अविद्या की उपाधि का नाश हो जाता है और जीव मुक्त हो जाता है अन्यथा वह बद्ध रहता है।[1] एक जीववादी अद्वैताचार्य सर्वज्ञात्म मुनि, मधुसूदन सरस्वती आदि प्रमुख आचार्यो को भी अन्तःकरण उपाधि को लेकर ही सही, औपाधिक रूप से अनेक जीववाद को स्वीकार करना पड़ा है। उन लोगों ने भी अन्तःकरण को जीव का विशेष अभिव्यक्ति स्थान स्वीकार किया है। एक जीववाद में जीवभेद जब माना जाता है तो वह अनेक जीव का ही अप्रत्यक्ष समर्थन सिद्ध होता है। अतः अनेक जीववाद ही तार्किक रूप में समीचीन प्रतीत होता है।

जीव साक्षी–

हमारे स्थूल शरीर में जो सूक्ष्म तत्व विराजमान है, वही जीवात्मा है तथा उसके अन्दर जो एक निरपेक्ष तत्व विद्यमान है, वही सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थात साक्षी है। इस प्रकार स्थूल शरीर में विराजमान जीवात्मा और जीवात्मा में विराजमान सूक्ष्म बिन्दु साक्षी, दोनो ही इस जगत या संसार में उसी रूप में विद्यमान है जिस प्रकार पूर्ण ब्रह्माण्ड में पृथ्वी और आकाश। जिस प्रकार पूर्ण ब्रह्म में पृथ्वी और आकाश दोनो का अपना अस्तित्व है, उसी प्रकार जीवात्मा और साक्षी दोनों का ही अपना अस्तित्व है, अभी हमें यह देखना है कि जीवात्मा जब किसी शरीर में होती है तब

---

[1] *सिद्धान्त लेश संग्रह पृ0 125*

तक ही हम मनुष्य, पशु पक्षी आदि की संज्ञा से विभूषित करते हैं।[1] वेदान्तियों ने जीवात्मा के लिए जिस कर्मभूमि का निर्माण किया है, वही भौतिक जगत कहलाता है। इसी भौतिक जगत में आत्मा जब शरीर धारण कर जीवात्मा के रूप में आता है, तो प्रकृति के गुण सत् रज तम से अभिभूत हो जाता है, इसी गुणों के आधार पर नाना प्रकार की ऐशनाएं उसमें मिल जाती हैं, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मद ये सभी इस संसार के कार्य व्यापार हैं, जिसे हम करने लगते हैं। किन्तु हमारी जीवात्मा में ही विद्यमान निरपेक्ष साक्षी चैतन्य इन सभी विसगंतियों से रहित रहता है, उसमें लिप्त नही होता है। जिस प्रकार से कमल जल में ही पैदा होता है, लेकिन वह जल के गुण से सर्वथा अलग रहता है, उसी प्रकार साक्षी चैतन्य निरपेक्ष द्रष्टा मात्र रहता है, जीवात्मा के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। यद्यपि आत्म चैतन्य और साक्षी चैतन्य के बीच कोइ्र भेद नही है। ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह सिक्का शरीर को माना गया है। इस शरीर में जहाँ एक ओर आत्म तत्व है, वही दूसरी ओर साक्षी तत्व।[1]

जीवात्मा शरीरी है और विभिन्न प्रकार की सीमाओं से आबद्ध है जबकि साक्षी रूप आत्मा अशरीरी निरपेक्ष और सभी प्रकार की परिसीमाओं से बिलकुल परे है। यद्यपि जीवात्मा को शरीरी और सीमित समझा जाता है। फिर भी यह स्वीकार किया गया है कि यह जीवात्मा का स्वाभाविक रूप नही है। शरीर को प्राप्त कर लेना जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य भी नही कहा जा सकता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि जीवात्मा की अनुभूति हमें शरीर के माध्यम से ही होती है और इसी के माध्यम से वह सम्पूर्ण कार्यो का सम्पादन करती है, फिर भी यह शरीर मन और अन्य इन्द्रियों से पूर्णतः पृथक् है। जीवात्मा जब शरीर प्राप्त कर लेती है

---

[1] *वेदान्त दर्शन मैक्समूलर पृ0 160*

तो जगत के सभी जीवों की तरह इस मनुष्य जीवन का भी एक उद्देश्य हो जाता है। यह मानकर मनुष्य अपने मन और इन्द्रियों की सहायता से उसे प्राप्त करने की कोशिश करता है। लेकिन उसकी सम्पूर्णता मात्र इतनी ही तक सीमित नहीं है कि उसने धन पैदा किया है? उसे कितना शारीरिक सुख मिला है? कितना उसने अपनी आय में ऐश्वर्य एकत्रित किया है, और कितना वह अपने आप में मान-सम्मान पद और प्रतिष्ठा का भोग कर रहा है। लेकिन ये सभी ऐशनाएं अपने आप में पूर्ण नहीं हैं। इनके वशीभूत होकर मनुष्य दुःखों को अपनेमें बुलाता जाता है। वह भयाक्रान्त हो जाता है। उसकी शान्ति छिन जाती है। तब वह शान्ति की खोज में जंगलों, पहाड़ों एवं तीर्थ स्थानों में भ्रमण करने लगता है। उन्हें क्षणिक सुख तो - भौतिक ऐशनाएं देती है किन्तु वास्तविक सुख के लिए उसे भटकना पड़ता है। ऐसी अवस्था में पहुँचकर जब वह गम्भीरता पूर्वक विचार कर करता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका सारा पुरूषार्थ व्यर्थ नष्ट हो गया। इस प्रकार शरीर में निवास करती हुई आत्मा अपने आप में जब निरपेक्ष साक्षी चैतन्य को जान जाती है, तो वह शरीर को जीवात्मा से भिन्न समझने लगती है, और इस अवस्था में उसे ज्ञात होता है कि वह दृश्य जगत की भौतिकता से नितान्त उपर है। इस प्रकार जीवात्मा जब साक्षी आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो उसके लिए दुनियाँ की कोई भी चीज पाना शेष नही रह जाता है। अथर्व वेद का मंत्र यही व्यक्त करता है[2] कि अर्थात् पास बैठे हुए को छोड़ता नही और पास बैठे उसको देखता नही। तात्पर्य यह है, जीवात्मा अपने पास बैठे हुए एवं साथी प्रकृति से लिपटा है परन्तु अन्य साथी निरपेक्ष द्रष्टा साक्षी को देखता भी नही।[3]

---

[1] *वेदान्त दर्शन - पृ0 177*
[2] *वेदान्त दर्शन पृ0 180*
[3] *'अन्ति सन्नं न जहाति। अन्ति सन्तं न पश्यति।' वेदान्त दर्शन पृ0 180*

तात्विक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि शरीर में जीवात्मा अवश्य है किन्तु वह शरीर से भिन्न है, उससे पृथक है। जब जीवात्मा शरीर में रहती है तो वह अज्ञान वश अपने को सीमित समझकर शरीर की आकृति के अनुसार ही कर्म करती है। मनुष्य और पशुओं में भी वही आत्मा है जो एक पक्षी में है। जीवात्मा अजर, अमर, अभय, है। वह जड़ जगत से भिन्न है। यह सर्वथा असांसारिक, सर्वव्यापक, ज्योति स्वरूप अजन्मा, नित्य एवं शाश्वत तत्व है जो सभी प्रकार के बंधनों से रहित है।

अन्तःकरण, साक्षी –

अद्वैत वेदान्त में साक्षी और अन्तःकरण की मिश्रित अवस्था जीव को जानने संकल्प करने और अनुभव करने की शक्ति है। यह मिश्रित अवस्था मुक्ति प्राप्त करने के पूर्व तक बनी रहती है। मुक्ति के पश्चात् अन्तःकरण अपने कारण अविद्या में लीन हो जाता है और साक्षी अपना स्वरूप खोकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। प्रत्येक प्रकार के बाह्य एवं आन्तरिक प्रत्यक्षों का साधन अन्तःकरण और मनस् ही है। प्रत्यक्ष के समय अन्तःकरण मनस् की वृत्ति वस्तु का आकार ग्रहण कर लेती है। वृत्ति के विषयाकार हो जाने के पश्चात् साक्षी अपनी चेतना से वृत्ति को प्रकाशित कर देता है, इसके बाद ज्ञान उत्पन्न होता है। मनस्, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि नामों से पुकारा जाने वाला अन्तःकरण ही वृत्ति भेद के कारण सुख, दुःख तथा मोक्ष का कारण है।[1] संशय, निश्चय, काम आदि इसके धर्म कहे गये हैं। श्रुतियों के अनेक अद्धरण मन व बुद्धि की सदृशता के द्योतक है। मनस् का प्रत्यक्ष सभी प्राणियों को उनके अहंभाव

---

[1] *वृत्तिभेदेन मनोबुद्धयहंकारचित्तव्यपदेश भाजनमन्तः करणमेव सुखदुःखबन्धमोक्षादि सर्वव्यवहारहारणं व्यवदारमात्रस्यैवान्तःकरण वृत्ति विशेष जन्यत्वादित्यद्वैतवेदान्तिनः प्राहुः।* ब्र0सू0शा0भा0 2/4/17

के कारण होता है।[1] अन्तःकरण ही, जब हम संशय की अवस्था में रहते है तब मनस् कहलाता है। जब किसी वस्तु या ज्ञान के संबंध में निश्चित हो जाते है, तो बुद्धि रूप हो जाता है। इसी प्रकार गर्व करने पर अहंकार एवं स्मरण करने पर चित्त कहलाता है।[2] कुछ वेदान्ती मन को इन्द्रिय रूप न मानकर करण रूप में स्वीकार करते है। परन्तु इसके अन्तःकरण को सभी एक मन से स्वीकार करते हैं।[3]

अन्तःकरण भौतिक है और पांचों तत्वों से मिलकर बना है। सत्व, रजस और तमस तीनों से सम्पन्न होने पर भी इसमें तैजस गुण की विशेषता है। इसी कारण इसके भीतर भिन्न-भिन्न आकार ग्रहण की क्षमता पायी जाती है। तैजस अन्तःकरण चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घट इत्यादि विषयों तक जाता है और उन विषयों के आकार में परिणत हो जाता है। उस परिणाम को ही वृत्ति कहते है।[1]

अद्वैत वेदान्तियों की सामान्य धारणा है कि बाह्य विषय के ज्ञान की स्थिति में अन्तःकरण की वृत्ति बाहर जाकर दृश्य वस्तु से सम्पर्क करती है। यहाँ पर वृत्ति शब्द का अर्थ है, अन्तःकरण का विकार विशेष। उदाहरण के लिए चाक्षुष प्रत्यक्ष में तैजस अन्तःकरण आँख के माध्यम से निकलकर घट आदि ज्ञान के विषय तक पहुँचता है और उसका आकार धारण कर लेता है। इस प्रकार विषय के आकार के रूप में परिणत हुआ अन्तःकरण वृत्ति कहलाता है। यह वृत्ति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष की अपेक्षा करती हैं, इस अन्तःकाल की वृत्ति को उपचारवश ज्ञान कहते हैं। यह अन्तःकरण की वृत्ति स्वयं चिदाभास से आभासित होती है अतः वस्तु के साथ जब इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, तो अन्तःकरण की वृत्ति

---

[1] *भारतीय न्यायशास्त्र चक्रधर विजल्वान 486*

[2] *वेदान्तसार पृ0 105*

[3] *मनोदशेन्द्रियाध्यतं हृत्पद्मगोलके स्थितम्। तच्चान्तकरणं बाह्येष्वातन्त्र्याद् विनेन्द्रियैः।।*
पंचदशी 2/12/13

पहले चित्तवृत्ति द्वारा वस्तु विषयक अज्ञान को नष्ट करती है। तद्उपरान्त अपने प्रतिबिम्बित चिद् द्वारा वस्तु के स्वरूप को उसी प्रकार प्रकाशित करती है जैसे दीप प्रभामण्डल अन्धकार में स्थित घरादि के कारणभूत अंधकार का विनाशकर तथा घरादि को स्वप्रकाश से आलोकित करता है।[2] जड़ पदार्थ के प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का यही स्वरूप पंचदशी[3] में भी स्पष्ट किया गया है।

अन्तःकरण की परिमाणात्मक वृत्ति –

वेदान्त परिभाषा में यह समस्या उठायी गयी है कि अवयव शून्य अन्तःकरण की परिणामात्मक वृत्ति की सम्भावना कैसे हो सकती है?[4] नैयायिकों ने इस सम्बन्ध में शंका इस प्रकार व्यक्त की हैं – अन्तःकरण द्रव्य, परिणामी नहीं है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह निरवयव है। – (हेतु) आकाश के समान[5], द्रष्टान्त ऐसा अनुमान करने से अन्तःकरण की परिणाम वृत्ति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार दूध से दही का उद्भव होता है और मिट्टी से घट का निर्माण होता है, उसी प्रकार यह वृत्ति नहीं हो सकती है, वरन् यह विकास रूप है। यह कहने पर भी निरवयव वस्तु का आकाश के समान विकास रूप परिणाम नहीं हो सकता है।

इसलिए अन्तःकरण वृत्ति विशिष्ट चैतन्य को ज्ञान रूप नहीं माना जा सकता है।

---

1 *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका*

2 *वेदान्तसार पृ0 106*

3 *वुद्धितत्स्थाचिदाभासो द्वाववेतौ व्याप्नुतो घटम्।*
तत्राज्ञानं धिया पनस्येदाभासेन घटः स्फुरेत्।। पंचदशी

4 *ननु निरवयवस्यान्तःकरणस्य परिणामात्मिका वृत्तिः कथम्?*
वेदान्त परिभाषा पृ0 26

5 *अन्तःकरणं न परिणामि निरवयवत्वात् आकाशवत्।*
मुक्तावल्या दिनकरी टीका पृ0 51

यह शंका नैयायिकों द्वारा उठायी गयी है। किन्तु नैयायिकों एवं वैदान्तियों की मान्यताएं ज्ञान के सम्बन्ध में एक समान नहीं हैं। नैयायिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं। किन्तु वेदान्ती वृत्ति विशिष्ट चैतन्य को जन्य ज्ञान कहते हैं। यह जन्य ज्ञान, आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि आत्मा निर्गुण है। ज्ञाप्ति रूप अवशिष्ट ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। नैयायिकों के अनुसार अन्तःकरण (मन) निरवयव अणु परिमाण एक और नित्य है। वेदान्त सिद्धान्त में सावयव, विरल एवं सादि द्रव्य है। इसीलिए वेदान्त परिभाषा में नैयायिकों की इस आपत्ति का समाधान किया गया है।

अन्तःकरण निरवयव नही है। (प्रतिज्ञा)

क्योकि यह सादिद्रव्य है। (हेतु)

घट के समान। (उदाहरण)

इस अनुमान के द्वारा पहले किया गया अनुमान का हेतु 'निरवयवत्वात्' असिद्ध हो जाता है। चूंकि अन्तःकरण सादि द्रव्य है इसलिए उसको सायवव होना स्वतः सिद्ध है।[1] और सायवयत्व के द्वारा ही उसके परिणामित्व की सिद्धि हो जाती है।

इस विषय में – अन्तःकरण परिणामी है। – (प्रतिज्ञा) कारण अन्त्यावयवी अर्थात् अन्तिम कार्य न होकर सायवयव है। (हेतु) मृत्तिका के सामान। (दृष्टान्त) इस प्रकार अनुमान करना उचित है। अतः स्पष्ट है कि अन्तःकरण सादि द्रव्य होने के कारण सावयव है। वह घट की तरह अन्तिम कार्यद्रव्य नही है। इसलिए उसकी परिणामात्मक वृत्ति हो सकती है। इस कारण अन्तःकरण वृत्ति विशिष्ट आत्म चैतन्य ही ज्ञान है। उससे भिन्न दूसरा कोई भी ज्ञान नही है।

---

[1] *न तावदन्तःकरण निरवयवं, सादिद्रव्यत्वेन सावयवत्वात्। वेदान्त परिभाषा पृ0 27*

अब प्रश्न है कि जब तक कोई प्रमाण न हो हम अन्तःकरण को सादि अर्थात् उत्पन्न होने वाला कैसे मान सकते है?

अन्तःकरण के सादि द्रव्यव्य के सम्बन्ध में श्रुति प्रमाण है। *'तन्मनोऽसृजत्'* यह श्रुति वाक्य स्पष्ट करता है कि ब्रह्म ने मन अर्थात् अन्तःकरण को उत्पन्न किया। इस श्रुति वाक्य के द्वारा अन्तःकरण के सादित्व होने में कोई समस्या है क्योकि यदि ब्रह्म के द्वारा अन्तःकरण उत्पन्न है तो उसका सादित्व एवं सावयव होना निश्चित है। 'अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान' अन्तःकरण का धर्म है। इस विषय में काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा-अश्रद्धा, धृति अर्थात् शरीर के शिथिल हो जाने पर भी उसको उत्तेजित करने वाली वृत्ति, अधृति, लज्जा, प्रज्ञा, भय इत्यादि सब मन के (अन्तःकरण के) ही रूप है। यह श्रुति प्रमाण है।[1] धर्मराजाध्वरिन्द्र ने स्पष्ट किया है कि धी शब्द का तात्पर्य अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान ही है। कामादि समस्त मन ही है। इसका तात्पर्य है कि कामादि सभी अन्तःकरण के धर्म हैं।

यहाँ पर पुनः शंका उत्पन्न होती है मैं इच्छा करता हूँ, मैं जानता हूँ, मै डरता हूँ, ऐसा अनुभव होते रहने से काम, संकल्प, ज्ञान इत्यादि सभी आत्मा के धर्म प्रतीत होते हैं, अन्तःकरण के नही क्योकि 'अहम्'- मै जीवात्मा का द्योतक है। अहंकार को बिना विषय किये जीवात्मा सोने के बाद जब हम जागते है 'मैं सुख पूर्वक सोया' ऐसा स्मरण हमें होता है। इस प्रकार सुषुप्ति में भी हमें अहंकार का भान होता है ऐसा मानना पड़ता है परन्तु जब हम कामादि को अन्तःकरण का धर्म मानते हैं तो 'मै इच्छा करता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध होता है। प्रत्यक्ष अनुभव

---

[1] *वृत्ति रूपज्ञानस्य मनोधर्मत्वेच 'कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा, अश्रद्धा, धृतिरधृतिह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव' वृ0 1/5/3 इति श्रुतिमार्नम्। धी शब्देन वृत्तिरुपज्ञानाभिधानात्। अतएव कामादेरपि मनोधर्मत्वम्। वेदान्त परिभाषा पृ0 27*

श्रुति से भी प्रबल है क्योंकि वह सभी प्रमाणों से पहले उपस्थित होने वाला, सब ज्ञान और सभी ज्ञानकरणों का कारण है। इसलिए 'मैं' को को आत्म धर्म ही मानना पड़ता है। उसे अन्तःकरण का धर्म मानना उचित नही है।

इस शंका का समाधान *वेदान्त परिभाषा* में धर्मराजाध्वरिन्द्र ने किया है। उनका कहना है कि यदि कामादि, अन्तःकरण के ही धर्म हैं तो 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द व्यवहार कैसे संभव है? सुख इत्यादि विषयों के आकार में परिणत हुए अंतःकरण का जब आत्मा के साथ तादात्म्य हो जाता है, तब वैसा व्यवहार होता है। इस प्रकार सभी प्रमाणों प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रथमता होने पर भी वह श्रुति से प्रबल नहीं ठहरता है। क्योंकि 'यह रजत है' ऐसा भ्रम ज्ञान पहले हो जाता है, फिर बाद में 'यह रजत नहीं है, शुक्ति का है' इस ज्ञात से बाधित होता है। उसी प्रकार से प्रत्यक्ष भी अन्य प्रमाणों का कारण होने से प्रबल है। यह सच होने पर भी वह प्रत्यक्ष, जिस व्यावहार-व्यावहारिक प्रामाण्य के कारण श्रुति का कारण होता है, उसके उस व्यावहारिक प्रामाण्य का बाध श्रुति नही करती। श्रुति तो केवल उसके तात्विक प्रामाण्य का ही बोध करती है।

व्यवहार में प्रत्यक्ष प्रमाण श्रुति की अपेक्षा प्रबल है। 'मैं इच्छा करता हूँ' इस प्रत्यक्ष अनुभव को यदि हम प्रमाणों से निरूपित करे, तो भी कामादिकों का आत्म धर्मत्व सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि मात्र अहं शब्द का अर्थ आत्मा नहीं है। जब हम सुषुप्ति की अवस्था में पहुँच जाते है तो हमें अहम् का अनुभव नहीं होता। 'मैं सुष से सोया था' यह चैतन्य अंश में स्मरण है और अन्तःकरण अंश में इसका अनुभव होता है। इस कारण अन्तःकरण और चैतन्य का परस्पर विवेक न होने के कारण मैं दुःखी हूँ, मै सुखी हूँ, मैं चाहता हूँ इत्यादि अनुभव स्वरूप चैतन्य के अज्ञान से

अन्तःकरण में होने वाला तादात्म्य भ्रम है। जिस प्रकार यदि लोहा को सामान्य अवस्था में स्पर्श किया जाय, तो हमारे उपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। परन्तु अग्नि में तप्त करने के बाद यदि उसे स्पर्श किया जाय तो हाथ जल जाता है। परन्तु यहाँ चपर 'हाथ जलाना रूप दग्धृत्व' वस्तुत लोहे का धर्म नहीं है, बल्कि यह अग्नि का धर्म है। फिर भी 'इस लोहे से हमारा हाथ जल गया है' व्यावहारिक रूप में हम ऐसा कहते हैं। क्योंकि हमें यहाँ पर यह भ्रम होता है कि लोहे का गोला और दाहक अग्नि का तादात्म्य होने पर ही 'लोहे से ही हाथ जला'। इसी प्रकार 'मैं इच्छा करता हूँ' इत्यादि शब्द व्यवहार का प्रयोग हम उस अवस्था में करते हैं जबकि काम, सुखादि इत्यादि विषयों के आकार के द्वारा परिणत हुआ अन्तःकरण आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यद्यपि यह भ्रम ही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'मैं इच्छा करता हूँ' इस प्रत्यक्ष प्रमाण से श्रुति का बौध नही होता है।[1]

जीव का दूसरा पक्ष साक्षी है, जो कि चेतन तत्व है। यद्यपि साक्षी अन्तःकरण से भिन्न है तथापि वह उसे प्रकाशित करने में मदद देता है। साक्षी को अन्तःकरण से बिल्कुल भिन्न भी नहीं माना जा सकता क्योंकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत्व दो नहीं, वरन् एक है। यदि साक्षी और अन्तःकरण को बिलकुल भिन्न मान लिया जाय तो द्वैत हो जायेगा। किन्तु सांख्य के द्वैतवाद की अपेक्षा यहाँ पर साक्षी और अन्तःकरण के संयोग में कोई कठिनाई नही है। साक्षी और अन्तःकरण दोनो सापेक्षिक है। एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती है। निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्तःकरण दोनो के योग को ही जीव कहते हैं। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती साक्षी और अन्तःकरण का संयोग किसी न किसी रूप में

---

[1] *अयः पिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रय वह्नि तदात्म्याध्यासात्यथा अयोदहतीति व्यवहारस्तथा सुखाधाकार परिणाम्यन्तःकरणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुखीत्यादि व्यवहारः।* वेदान्त परिभाषा 30

बना रहता है। केवल मोक्ष की अवस्था में ही उनका संयोग भंग होता है। संयोग के भंग होने पर साक्षी ब्रह्म में और अन्तःकरण अविद्या में विलीन हो जाता है।[1]

साक्षी और जीव समान नहीं है परन्तु साथ ही साथ दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न भी नहीं हैं। जीव आत्म चैतन्य का विषय होता है क्योकि इसके भीतर अन्तःकरण विद्यमान है किन्तु साक्षी किसी भी प्रकार के ज्ञान का विषय नहीं होता है। अतः उसके किसी ज्ञान का विषय होने का प्रश्न ही नही है। इसी कारण अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य को जीव व अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को साक्षी कहा जाता है।[2]

जीवात्मा के दोनों घटको अन्तःकरण और साक्षी का विवेचन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि अद्वैत मत में जीवात्मा विषयी और विषय की ग्रंथि है। वह ब्रह्म और अविद्या का मिश्रण है। जीव का चैतन्य ब्रह्म का है और जीवत्व अविद्या का है। जीव का द्रष्टत्व, साक्षिचैतन्य रूप आत्मतत्व का है। जीव का विषयत्व अविद्या जन्य अन्तःकरण के कारण है। जीव के समान ईश्वर भी ब्रह्म और अविद्या का मिश्रण है। किन्तु उनमें अन्तर यह है कि जीव अविद्या के वश में है और ईश्वर अविद्या को अपने वश में रखता है। जीव में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, दोनो है जबकि ईश्वर में केवल कर्तृत्व है। ईवर स्वयं जीव और जगत के रूप में प्रतीत होता है। अन्तःकरण विषयी और विषय जोड़ने वाली श्रृंखला है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण उस 'अर्थ' का स्वरूप बन जाता है, जिसे 'वृत्ति' कहते हैं। जब इस वृत्ति पर साक्षिचैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब विज्ञान उत्पन्न होते हैं। जागृतावस्था में अन्तःकरण को इन्द्रियों से सहायता मिलती हैं, स्वप्नावस्था में अन्तःकरण अकेले काम करता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण

---

[1] *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका*

[2] *अन्तःकरणविशिष्टो जीवः अन्तःकरणोपहितः साक्षी। वेदान्त परिभाषा पृ0 32*

अपने कारण अविद्या में विलीन हो जाता है। सुषुप्ति में अन्तःकरण के अभाव में भी जीवत्व बना रहता है। उस समय साक्षी अविद्या द्वारा आलिंगित रहता है, क्योंकि अन्तःकरण के कारण अविद्या का नाश नहीं होता। मोक्ष में विद्या द्वारा अविद्या नष्ट हो जाती है और केवल साक्षी चैतन्य जो स्वयं आत्मतत्व तथा ब्रह्म स्वरूप है अपनी नित्य ज्योति से चमकता रहता है।

आत्मा-ईश्वर-जीव एवं साक्षी का संबंध

अद्वैत वेदान्त में साक्षी, आत्मा या ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव से भिन्न है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः एक मात्र आत्मा या ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है। वह विशुद्ध एवं निर्विशेष है। वह निरूपाधिक एवं प्रकाश स्वरूप है किन्तु मुमुक्षु के लिए जगत् की व्याख्या करते समय उसे आत्मा या ब्रह्म, ईश्वर, जीव एवं साक्षी आदि नाना रूपों में बतलाया जाता है। इन सभी रूपों में अविद्यात्व मिथ्या है तथा विशुद्ध चेतनात्व शुद्ध ब्रह्म या आत्मा है। यही विशुद्ध चैतन्य जब किसी उपाधि के अन्दर रहकर प्रकाशन का कार्य करता है, तो साक्षी कहलाता है। साक्षी आत्मा या ब्रह्म के समान नित्य, निर्गुण एवं निर्विशेष है, जो स्वतः सिद्ध एवं स्वयं प्रकाश है। इस प्रकार जहाँ ब्रह्म निरूपाधिक है, वहाँ साक्षी सोपाधिक है। यद्यपि वह उपाधि में किसी प्रकार लिप्त नहीं होता है। साक्षी जीव और ईश्वर में भी अभिव्यक्त होता है।

विद्यारण्य स्वामी के अनुसार साक्षी रूप आत्मा निर्विकार चैतन्य है और यह स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थो की प्रतीति का अधिष्ठान है, उनके कार्यो का निरीक्षण करता है, परन्तु किसी भी प्रकार से उनसे प्रभावित नहीं होता है। हमारे समस्त सुखों एवं दुखों का फलोपभोग जीवात्मा में विद्यमान अहं के द्वारा किया जाता है और जब इस अहं का कार्य पूरी तरह से समाप्त हो जाता है तब साक्षी रूप आत्मा और जीवात्मा दोनों देहों का प्रकाशन

इसी साक्षी रूप आत्मा के कारण होता है। यह साक्षी रूप आत्मा दोनों प्रकार की देहों से प्रत्यक्षतः उस समय भी अभिज्ञ ही रहती है जबकि फलोपभोक्ता आत्मा कार्य करना बन्द कर देती है। हमारे भीतर साक्षी रूप आत्मा निरन्तर उपस्थित रहती है। यदि यह सदैव उपस्थित न रहे तो हमारे उन विचारों में तारतम्यता नहीं आ सकती, जो कि अहं रूप आत्मा में भिन्न है। इस प्रकार साक्षी रूप आत्मा हमारे विचारों की श्रृंखला में क्रमबद्धता लाकर, द्रष्टा के व्यक्तित्व को स्थित रखने में सहायक होती है। *विद्यारण्य स्वामी* का मत इस विषय में स्पष्ट है कि साक्षी रूप आत्मा को जीव के समान नहीं समझना चाहिए क्योंकि जीव सांसारिक जगत तथा इसके व्यापारों में भाग लेता है। *श्वेताश्वर उपनिषद* में इसे गुणों से रहित माना गया है। यह केवल साक्षी मात्र है और निरीक्षण कर्ता है। यह फलों का उपभोक्ता नहीं है।

विद्यारण्य मुनि ने नित्य शुद्ध चैतन्य को अविद्या की उपाधि के कारण ही ब्रह्म चैतन्य, कूटस्थ चैतन्य, साक्षी चैतन्य और जीव चैतन्य चार रूपों में विभेदित होना स्वीकार किया है। उनके अनुसार एक ही महाकाश जिस प्रकार उपाधि के भेद के कारण जब घट के अंदर सीमित रहता है तब घटाकाश कहलाता है, घट के मध्य स्थित जल में जब प्रतिबिम्बित होता है तो जलाकाश कहलाता है, आकाश में मेघो में प्रतिबिम्बित होकर मेघाकाश तथा अनन्त, अपरिच्छिन्न, नीलाकाश महाकाश के रूप में दिखायी देता है, उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म दोनो देहो का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य साक्षी है। अपरिच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है तथा ब्रह्माश्रित अनादि माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। *सर्वज्ञात्मा* की मान्यता है कि चिद्रूप आत्मा ही साक्ष्य पदार्थो के सम्बंध में साक्षी कहलाता है। सुषुप्ति दशा में यदि वह कुछ नहीं देखता है तो भी देखता हुआ भी नहीं देखता हैं, क्योंकि वहाँ उसके अपने आपके अतिरिक्त

कुछ देखने योग्य ही नहीं है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर, जीव और साक्षी में कोई भेद नहीं है, तीनों का अन्तर्भाव ब्रह्म में हो जाता है और एक मात्र ब्रह्म की सत्ता रह जाती है। व्यवहारतः ईश्वर, जीव और साक्षी में भेद है जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। ईश्वर, जीव और साक्षी आपस में संबंधित हैं और उनमें कुछ भेद भी है।

साक्षी उदासीन होने के कारण न तो जीव है और न ही ईश्वर। कर्तृत्व से ओतप्रोत संसारी जीव जिस प्रकार उदासीन नहीं है उसी प्रकार सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता ईश्वर भी उदासीन नहीं है। इसके विपरीत साक्षी उदासीन है, उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं है इसके साथ ही न वह सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। जिस प्रकार जीव में उदासीनता का अभाव होने के कारण साक्षी जीव की कोटि में नहीं आता है, उसी प्रकार जगत तथा सृष्टि विषय व्यापारों को करने वाले ईश्वर के उदासीन न होने के कारण वह ईश्वर की कोटि से भी परे है। साक्षी केवल मात्र द्रष्टा है। विशुद्ध द्रष्टा जो कि निर्विकार है तथा स्थिर है। वह जीव के समस्त कर्मों को निर्विकार भाव से देखता है और जानता है।

ईश्वर, जीव और साक्षी चैतन्य के ही तीन रूप है। जीव अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है अर्थात् जीव वह चैतन्य है जिसमें अन्तःकरण के साथ तादात्म्यभाव स्थापित कर लिया। साक्षी अन्तःकरणोंपहित चैतन्य है अर्थात् अन्तःकरण उसकी उपाधि है जो चैतन्य अन्तःकरण से व्यावृत होकर अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाता है व चैतन्य साक्षी कहलाता है। जिस प्रकार कर्तृत्व आदि से युक्त अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव कर्तृत्व आदि प्रतीतियों के लिए पृथक् स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान, सुख आदि विषयों को प्रकाशित करने के लिए साक्षी को स्वीकार किया जाता है। निश्चय ही एक ही अन्तःकरण जीव को जिस प्रकार व्यावर्तित करता है उसी प्रकार साक्षी को भी, किन्तु दोनों में भेद है। अन्तःकरण जीव का

विशेषण है और साक्षी की उपाधि है। जैसाकि *वेदांत परिभाषा* में कहा गया है – जीव अन्तःकरण विशिष्ट शुद्ध चेतना है और अन्तःकरण की उपाधि से ही वह चेतना साक्षी कहलाती है। इसके विपरीत ईश्वर मायावच्छिन्न चैतन्य है और साक्षी माया से उपहित चैतन्य है। ये दोनों चैतन्य के ही दो रूप हैं।

ईश्वर जगत की सृष्टि करता है, पालन करता है तथा संहार करता है। जीव जगत का भोग करता है इसलिए वह भोक्ता है। इसके विपरीत साक्षी केवल तटस्थ द्रष्टा है। ईश्वर कर्मफल प्रदाता है। वह विभिन्न जीवों को उनके कर्मो के अनुसार फल प्रदान करता है। जीव पाप-पुण्य आदि एवं अच्छे-बुरे कर्मो को संचित करता है और उसी के अनुसार फल पाता है। साक्षी जीव के इन विभिन्न कर्मो मात्र द्रष्टा है, किन्तु उसकी दृष्टि में कोई आसक्ति नहीं है। साक्षी जीव के कर्मो को देखता और उसी के अनुसार ईश्वर जीव को कर्मो के फल प्रदान करता है। ईश्वर कर्मफल की श्रृंखला से परे है वह बंधन मोक्ष में नहीं पड़ता। साक्षी भी किसी प्रकार के बंधन में नही पड़ता और न ही उसका मोक्ष होता है। इसके विपरीत जीव अच्छे बुरे विभिन्न कर्मो को करता है और उसी के अनुरूप फल को पाता है। जीव का ही बंधन होता है और उसी को मोक्ष मिलता है। जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व की परिधि से वेष्ठित है, क्योंकि वह जागतिक प्रपंचो के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जबकि साक्षी इन प्रपंचों से असम्पृक्त रहते हुए अनासक्त भाव से सत्य-असत्य, ज्ञात-अज्ञात कभी बाह्य तथा अभ्यान्तर के विषयों को देखता रहता है। प्रपंच के साथ तादात्म्य स्थापित करने के कारण जीव रागद्वेष, दुख सुखादि का अनुभव करता है और उस अनुभव को आत्मार्पित करते हुए आत्मस्वरूप से विमुक्त होकर बंधनग्रस्त रहता है, जबकि साक्षी न तो प्रपंच के साथ बंधा है और न ही सुख-दुख का अनुभव करता है क्योंकि उसका जड़त्व

से तादात्म्य नहीं। ईश्वर भी भोक्तृत्व एवं कर्तृत्व से परे है। वह जागतिक प्रपंचों का निर्माता है इसलिए उसमें फंसता नहीं है। उसे सत्य, असत्य, ज्ञात-अज्ञात, बाह्य तथा आभ्यान्तर सभी ज्ञात है।

साक्षी शुद्ध रूप से प्रकाशमान द्रष्टा है, जो कि ज्ञान और अज्ञान दोनों को उनके मूल रूप में देखता है। ईश्वर आवरण के द्वारा सत् को आवृत्त कर देता है और विक्षेप के द्वारा सत्येतर वस्तुएं उपस्थित करता है। साक्षी पर इस आवरण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह अज्ञान को देखता है जैसे – राहु का प्रकाश राहु से आवृत्त चन्द्र मण्डल से ही होता है, वैसे ही अविद्या का प्रकाश अविद्या से आवृत्त साक्षी से ही होता है। जैसा कि *सिद्धान्तलेश संग्रह* में कहा है – वस्तु स्थिति में साक्षी चैतन्य को (जो अविद्या, अन्तःकरण और अन्तःकरण के धर्म सुखादि का प्रकाशक है) छोड़कर अन्य चैतन्य (जीव) को ही अज्ञान आवृत्त करता है। साक्षी स्वयं अज्ञान से आवृत्त नहीं होता। साक्षी जान सकता है, देख सकता है इसलिए वह स्वयं कभी आवृत्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत जीव अज्ञान से आवृत्त रहता है इसलिए वह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता। यही नहीं वह सत् को भी नहीं जान पाता क्योंकि उस पर आवरण पड़ा रहता हैं, इसलिये वह सत्येतर वस्तुओं को सत् समझता है। इस प्रकार ईश्वर सत् को आवृत्त कर सत्येतर वस्तुएं उपस्थित करता है। साक्षी इससे अप्रभावित रहकर ज्ञान एवं अज्ञान को उनके मूल रूप में जानता है। जीव अज्ञान के कारण सत् को नहीं जानता है, सत्येतर वस्तुओं को ही सत्य मानता है।

विश्व का भ्रम ईश्वर से कभी छिपा नहीं है, वह सब जानता है। वही अविद्या अज्ञान की शक्ति द्वारा सृष्टि करता है पर उसके द्वारा ठगा नहीं जाता। वह प्रत्येक वस्तु को उसके वास्तविक स्वरूप में देखता है जैसी वह है। उसके लिए कोई अज्ञात अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार साक्षी

को भी विश्व का भ्रम नहीं होता। उसके लिए भी कोई अज्ञात अस्तित्व नहीं है। वह समस्त ज्ञान, अज्ञान को उसके मूल रूप में जानता है। इसके विपरीत जीव विश्व के भ्रम में पड़ता है। वही अज्ञात को भी सत्य समझता है और सत् को उसके वास्तविक रूप में नही जानता। अज्ञातता भी जीव के लिए ही है। हिरियन्ना के शब्दों में – जीव तो आत्मचेतना का विषय बन जाता है, किन्तु साक्षी को ज्ञेय मानना गलत होगा। उसे ज्ञेय मानने पर एक और ज्ञाता मानना पड़ेगा। इस प्रकार उसमें अनवस्था दोष आ जायेगा। किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता – कि साक्षी अज्ञात हैं। स्वभावतः स्वयंप्रकाश स्वरूप होने के कारण उसे ज्ञेय होने की आवश्यकता नहीं है, उसका अस्तित्व ही उसका ज्ञान है। साक्षी के लिये न बंधन है, न मुक्ति, न सत् है न मिथ्या। सभी को साक्षी समान रूप से देखता है। ईश्वर को भी इन सभी का ज्ञान है। वह इन सब में अन्तर कर लेता है जीव के लिये ही बंधन है, मुक्ति है। वह सत् और मिथ्या में अंतर नहीं कर पाता, इसलिए वह मिथ्या को सत् समझ लेता है। जब उसे ज्ञान होता है तब उसे सत् का ज्ञान भी हो जाता है।

जीव की तीन अवस्थाएं होती है – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में जीव स्थूल शरीर और इन्द्रियों से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और उसे "विश्व" जीव कहते हैं। स्वप्न में जीव सूक्ष्म शरीर से अपना तादात्म्य रखता है तो उसे "तैजस" कहते हैं। सुषुप्ति में न मन कार्य करता है और न इन्द्रियाँ। इस अवस्था के जीव को "प्राज्ञ" कहते हैं। जीव के समान ईश्वर के भी तीन रूप माने गये हैं। जीव की तीनों अवस्थाओं के अनुरूप ही ईश्वर को क्रमशः वैश्वानर या विराट, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर कहते हैं। साक्षी की कोई अवस्था नहीं होती। साक्षी केवल इनका प्रकाशक है। वह जीव की प्रत्येक स्थिति के अनुभव

को निरपेक्ष रूप से जानता है अर्थात् साक्षी जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों दशाओं को जानता है यही नहीं वह उनका प्रकाशक भी है।

जीव के लिए ठीक वर्तमान काल में जानी जा रही वस्तु के सिवा अन्य सभी कुछ अज्ञान के आवरण से ढका रहता है। अथवा जीव व विषयों के मध्य आवरण सदा बना रहता है। जिस विषय पर से यह आवरण जितने समय के लिए हटता है उस जीव को उस वस्तु का ज्ञान उतने समय के लिए हो जाता है। इसके विपरीत साक्षी को समस्त ज्ञात और अज्ञात पदार्थो का ज्ञान रहता है। उसके लिए कोई आवरण नहीं है ईश्वर को भी सभी का ज्ञान रहता है।

उपरोक्त भेद के बाद भी ईश्वर, जीव और साक्षी में आपस में संबंध रहता है। तीनों ही ब्रह्म चैतन्य से विभिन्न रूप है। कुछ आचार्यो का मत है कि जीव कोटि में साक्षी का अन्तर्भाव हो जाता है तो कुछ साक्षी को ईश्वर का एक रूप मानते हैं। *तत्व कौमुदीकार* का मत है कि साक्षी रूप आत्मा ईश्वर का एक विशेष रूप है जो जीव कि प्रवृत्तियों, निवृत्तियों का ज्ञान रखता हुआ उदासीन रहता है। ईश्वर का स्वरूप विशेष होने पर भी वह कारणत्व आदि धर्मो के न रहने से अपरोक्ष एवं जीवगत ज्ञान का अवभासक होने से जीव का अत्यन्त अंतरंग भी है और यही ईश्वर साक्षी होकर सभी प्राणियों का अन्तरात्मा, सभी जीवों का अधिष्ठान, सबमें अन्तर्यामी, समस्त कार्यो का अध्यक्ष होते हुए भी उदासीन है। श्रुति में कहा गया है – "एक ही देव सभी जीवों में समाहित, सर्वव्यापी और सबकी अन्तरात्मा है वही कर्मफल प्रदाता, सभी जीवों का अधिष्ठान है। गीता में कृष्ण ने भी कहा है कि हे अर्जुन ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करता है। सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियाँ एवं वृत्तियों के लीन होने पर भी जीव एवं जगत के ज्ञान का प्रकाशक यही ईश्वर है जो जीव से अभिन्न होकर प्राज्ञ कहा जाता है। इस मत से उदासीन परमेश्वर भी

साक्षी माना जाता है। इस प्रकार ईश्वर के प्रत्यय में साक्षी का अन्तर्भाव हो जाता है।

ईश्वर साक्षी है इस मत का समर्थन आचार्य शंकर भी करते है जब वे *"द्वासपुर्णासियुजासखाया"* इस मंत्र की व्याख्या में कहते हैं कि दो पक्षी दोनों वृक्ष में बैठे हैं उनमें से एक मधुर फल खाता है और दुखी या प्रसन्न होता है, इसके विपरीत दूसरा उन्हें केवल तटस्थ भाव से देखता है इनमें से एक क्षेत्रज्ञ है जो सूक्ष्म शरीर धारण करता है तथा अज्ञान के कारण सुख-दुख के रूप में कर्मफलों का स्वाद लेता है तथा दूसरा जो नित्य प्रभु है, निर्मल तथा बुद्धि सम्पन्न और अपने स्वरूप में स्वतंत्र तथा सर्वज्ञ है वह कर्म फलों का उपभोग नहीं करता क्योंकि वह भोक्ता तथा भोक्ता तथा भोग्य दोनों का संचालक है। उसका केवल साक्षी होना भी संचालक होने के समान है।

मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्त बिन्दु में वार्तिकार के मत में ईश्वर ही साक्षी है ऐसा कहा है। ईश्वर अपने तथा जीव के प्रति सर्वदृश्यभासक है क्योंकि सर्वदृश्यधिष्ठान है। "साक्षी चेता केवलोनिर्गुर्णश्च" - इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर के सर्वज्ञ तथा साक्षी होने के प्रमाण हैं। *वेदांत कौमुदीकार* का मत है - "एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़" इत्यादि देवत्व प्रतिपादक श्रुति से ज्ञात होता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप विशेष साक्षी है। यह जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति का द्रष्टा तथा स्वयं उदासीन है। ईश्वर का स्वरूप विशेष होने पर भी साक्षी कारणत्व आदि धर्मो के न रहने से अपरोक्ष है और जीवगत अज्ञानादि के अवभासक होने के कारण जीव का अत्यंत अन्तरंग भी है। सुषुप्तादि में अन्तःकरण तथा तद्वृत्तियों के उपशम होने पर साक्षी को "प्राज्ञ" भी कहा जाता है। एक ही ईश्वर नियम्य, माया तथा तत्कार्य की अपेक्षा से नियंता, साक्ष्य अर्थ के साक्षित्व से साक्षी हो जाता है। अतः साक्षी ईश्वर एवं अन्तर्यामी इन तीनों में कोई अंतर नहीं

है, केवल कार्य की दृष्टि से ही एक ईश्वर के पृथक-पृथक तीनों नामों का व्यपदेश होता है।

साक्षी और ईश्वर के बीच मूलभूत समानता यह भी है कि दोनों विशुद्ध चैतन्य हैं एवं दोनों कर्मफल की श्रृंखला से परे हैं। साक्षी का अस्तित्व तभी तक है जब तक दृश्य है क्योकि दृश्य के बिना द्रष्टा की कल्पना नहीं की जा सकती। द्रष्टा सापेक्ष पद है, अतः साक्षी जीव या अविद्या सापेक्ष कहा जाता है क्योकि अविद्या के अभाव में जीव का अस्तित्व संभव ही नहीं है और जीवत्व तथा परिदृश्यमान आभासात्मक प्रतीतियों के अभाव में द्रष्टा साक्षी निरर्थक सा प्रतीत होता है। साक्षी की स्थिति भी काफी सीमा तक यही है। जब तक जीव माया से बँधा है तब तक यह दृश्य जगत और इस सृष्टा जो पालक भी है और संहारक भी, सत्य है। किन्तु अज्ञान का उन्मीलन होते ही एकमात्र ब्रह्म रहता है।

इसके विपरीत कुछ आचार्य साक्षी का अन्तर्भाव जीव में करते हैं। इस संबंध में *चित्सुखाचार्य* का मत है कि प्रत्यग्भूत विशुद्ध ब्रह्म ही जीव तादात्म्यापन्न रूप से साक्षी है पर उसमें जीवभेद का तादात्म्य नहीं है। लौकिक सुख दुख आदि साक्ष्य पदार्थ साक्षी के भेद के साधक नहीं क्योंकि ये साक्षी के धर्म नहीं है। साक्षात् चिन्मात्र आत्मा होने पर भी साक्षी भाव जीवभाव के अन्तर्गत है। शुद्ध ब्रह्म ही सभी जीवों के प्रति एक समान रूप से तादात्म्यापन्न रूप साक्षी पद का अर्थ हैं। इसी से साक्षी लौकिक व्यवहार का अंग बन जाता है। *पंचदशी* में चित्रदीप प्रकरण में कूटस्थ चैतन्य का स्वरूप घटाकाश स्थानीय कहा गया है जिसमें स्थित जलाकाश जीव स्थानीय है। उसी कूटस्थ को कूटस्थदीप प्रकरण में साक्षी कहा है उससे जीवभाव को व्याप्त करके स्थित चैतन्य ही साक्षी कहलाता है ऐसा प्रतीत होता है, पर विद्यारण्य ने साक्षी को ब्रह्म-ईश्वर-जीव इन तीनों प्रसिद्ध कोटिरूप से पृथक ही माना है। महाकाश से पृथक करके घटाकाश

स्थानीय कहने से साक्षी चैतन्य में जिस प्रकार की सीमा की स्वीकृति ध्वनित होती है उसे ही चित्सुखाचार्य ने जीवभाव का तादात्म्य कहा है।

साक्षी का अन्तर्भाव जीव में ही होता है इसका समर्थन करते हुए *तत्वशुद्धिकार* ने कहा है कि जैसे "यह रजत है" ऐसे भ्रम स्थल में "इदम्" अंश यद्यपि शुक्ति कोटि में ही अन्तर्भूत है तो भी प्रतिभास रूप से रजत कोटि में प्रविष्ट है। वैसे ही यद्यपि साक्षी का अन्तर्भाव वास्तव में ब्रह्म कोटि में है तब भी प्रतिभास से वह जीव कोटि में प्रविष्ट है। जीव के ही सुख-दुखादि व्यवहार में उसका उपयोग है।

जीव कोटि में ही साक्षी का अन्तर्भाव हो जाता है। इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि आध्यासिक वस्तुओं में एक का गुण धर्म दूसरे में दिखाई पड़ता है। अतः "यह रजत है" इस भ्रम ज्ञान में शुक्ति का इदन्ता रूप गुण रजत में अवभासित होता है। इसी प्रकार "मैं सुख-दुख का अनुभव कर रहा हूँ" ऐसा भाव जीव में होता है। अर्थात् जीव शरीर के धर्मो को अपना समझने लगता है। इसलिये कुछ वेदान्ती सुख-दुख आदि के ज्ञान के साक्षात् द्रष्टा अविद्या की उपाधि वाले जीव को ही साक्षी कहते है। यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्ता, भोक्ता रूप जीव कैसे उदासीन साक्षी हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जीवस्वरूपतः उदासीन एवं असंग है। उसके इस उदासीन एवं असंग स्वरूप के कारण ही जीव का साक्षी होना सिद्ध होता है। जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अन्तःकरण एवं जीव के चैतन्य का तादात्म्य अध्यास के कारण ही होता है। अध्यास के मिथ्या होने के कारण जीव का कर्ता होना या भोक्ता होना दोनों मिथ्या सिद्ध होता है। अतः इसका उदासीन रूप ही सत्य है। इसी कारण वह साक्षी है, अविद्योपाधिक जीव ही साक्षात् द्रष्टा होने से साक्षी है। जगत् में भी अकर्ता होने के कारण द्रष्टा होना या साक्षी होना ऐसा प्रसिद्ध है और वह असंग उदासीन स्वयंप्रकाश जीव में

ही साक्षात् सम्भव है। अन्तःकरणादि के साथ तादात्म्य का मिथ्या आरोप होने पर भी वह स्वयं स्वरूपतः तो उदासीन है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि साक्षी ईश्वर तथा जीव से पृथक सत्ता है, जो कि दोनों के मध्य वर्तमान रहती है। साक्षी जीव के समस्त क्रिया कलापों को अनवरत् रूप से देखता है और उसी के अनुरूप ईश्वर जीव को फल प्रदान करता है। वस्तुतः जब तक जीव माया से बँधा है, जब तक अज्ञान है, जब तक जीव अविद्याग्रस्त एवं प्रपंच में निमग्न है तब तक वह अपने यथार्थ स्वरूप से विस्मृत रहता है किन्तु ज्यों ही श्रुति उसे मोहनिंद्रा से जगा देती है, उसे आत्मस्वरूप का बोध हो जाता है और स्वयं को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अद्वैत तत्व समझ लेता है, तब वह सदा अखण्ड आत्मानंद में लीन हो जाता है। अविद्या के नष्ट होते ही अवद्याजन्य कार्यजाल भी नष्ट हो जाता है और इसके नष्ट होते ही अहंकार एवं मन कार्य की कल्पनाएं जीव के "जीवत्व" ""कर्तृत्व, "भोक्तृत्व" आदि की मिथ्या कल्पनाएँ भी विलीन हो जाती हैं। अर्थात् अज्ञान का उन्मीलन होते ही जीव का जीवत्व, ईश्वर का ईशित्व, साक्षी का साक्षीत्व सब कुछ समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म, ईश्वर, जीव और साक्षी शब्दों में पारमार्थिक दृष्टि से एक तत्व की ही स्थिति होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर उपलब्ध होता है। उपाधिशून्य चेतन तत्व का नाम है, ब्रह्म एवं मायोपहित ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है। जगत् के भोक्तापन का अभिमानी जीव है। साक्षी इन तीनों से भिन्न है। वह न कर्ता है, न भोक्ता, न सृष्टा, केवल विशुद्ध द्रष्टा है।

इस प्रकार निष्कर्षतः एकमात्र अद्वितीय, अनादि, अद्वैत तत्व ही विशुद्ध चैतन्य परमसत् है। ईश्वर, जीव, साक्षी आदि उसकी विविध प्रतीतियाँ अज्ञानकृत हैं जो व्यावहारिक दृष्टिकोण से अपना अस्तित्व रखती हैं, किन्तु परमार्थतः इन सबका समाहार उसी विशुद्ध एकमात्र चैतन्य अद्वैत में समाहित हो जाता है।

षष्ठम–अध्याय

चेतना के स्वरूप में साक्षी –

अद्वैत वेदान्त में यदि चेतना या ज्ञान का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि हमारा समस्त चैतन्य व्यापार एक नित्य कूटस्थ साक्षी स्वरूप चैतन्य तत्व की सत्ता को आपादित करता है। बिना साक्षी स्वरूप नित्य कूटस्थ चैतन्य की सत्ता को स्वीकार किए हुए हमारे ज्ञान या अनुभव की व्याख्या नही हो सकती। सम्पूर्ण अनुभव एक स्वयं प्रकाश चेतन तत्व की पूर्वापेक्षा रखता है। मानवीय ज्ञान या चेतना के स्वरूप के विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि जिन आधारों एवं तर्कों के आधार पर ज्ञान की व्याख्या की जाती है, वे आधार चेतना के तीन स्वरूप है जिन्हें कूटस्थ चैतन्य, साक्षी चैतन्य, वृत्ति चैतन्य कहा जाता है। जिनके कारण अद्वैत चिन्तक यह सिद्ध करते है कि बिना साक्षी चैतन्य रूप नित्य कूटस्थ सत्ता को स्वीकार किए मानवीय ज्ञान और अनुभव की व्याख्या असम्भव है।

कूटस्थ चैतन्य, साक्षीचैतन्य एवं वृत्तिचैतन्य –

वेदान्त के अनुसार मुख्य अर्थ में ज्ञान का तात्पर्य साक्षी–चैतन्य से ही है। साक्षी चैतन्य नित्य और अपरिणामी तत्व है, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और न तिरोहित। यहाँ यह विचार करना अपेक्षित है कि साक्षीचैतन्य के अपरिणामी होने के कारण ज्ञान की उपपत्ति का अवसर किस प्रकार सम्भव है। इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदान्त का यही समाधान है कि साक्षीचैतन्य के अपरिणामी होने पर भी तत्–तत् विषयों का ज्ञान वृत्तिज्ञान के अन्तर्गत आएगा, जो वृत्ति–चैतन्य निष्ठ है। वृत्ति का अर्थ

अन्तःकरण का परिणाम विशेष है। यह वृत्ति इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष की अपेक्षा करती है। इस अन्तःकरण की वृत्ति को वस्तुतः ज्ञान कहा जाता है। अन्तःकरण के वृत्तिज्ञान के अतिरिक्त भी परिणाम होते है, सुख-दुख आदि ऐसे ही परिणाम है। सुख-दुःख का ज्ञान भी वृत्ति द्वारा होता है, परन्तु सुख-दुःखादि के ज्ञान में वृत्ति के बहिर्गमन का प्रसंग नही आता क्योंकि सुखादिकों का आन्तर-विषयत्व है, घटादिकों की तरह वाह्य विषयत्व नहीं है। अतः उनकी प्रमा में चक्षुरादि सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं हो सकती है।

वृत्तिज्ञान के सम्बन्ध में *उपदेशसाहस्री* का कथन है कि जैसे मूषासिक्तताम्र तदाकार हो जाता है उसी प्रकार रूपादि को व्याप्त करने वाला चित्त निश्चय ही तद्रूप हो जाता है। अथवा जैसे पदार्थ को व्यक्त करने वाला प्रकाश अपने प्रकाश्य के आकार में परिणत हो जाता है उसी प्रकार समस्त पदार्थो को व्यक्त करने वाली होने से बुद्धि भी पदार्थाकारा होती देखी जाती है।[1] इसी विषय को प्रतिपादित करते हुये *उपदेशसाहस्रीकार* कहते है कि स्पप्न और स्मृति के पूर्व भी पुरूष ने पदार्थाकारा बुद्धि को ही देखा होता है, नही तो वह स्वप्न में संकल्पमय पदार्थो को कैसे देख पाता और स्मरण करने से पदार्थो की रचना कैसे हो जाती ।[2]

वृत्तिज्ञान को स्पष्ट करते हुए *उपदेशसाहस्री* के अन्तर्गत कहा गया है कि अन्तःकरण की विषयाकारा वृत्ति आत्म-चैतन्य द्वारा व्याप्त होती है और वह जिस आकार वाली होती है वही बाह्य विषय माना जाता है।[3] वह

---

[1] *मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा। रूपादीन्व्याप्नुवच्चितं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्।। व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यड्.ग्यस्याकारतामियात्। सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते।। उ०सा० 1/14/3-4*

[2] *उ०सा० 1/14/5*

[3] *अवगत्या हि संव्याप्तः प्रत्ययो विषयाकृतिः।
जायते स यदाकारः स बाह्यो विषयो मतः।। उ०सा० 1/8/118*

विषय कर्ता का अत्यन्त इष्ट होने के कारण कर्म कहा जाता है, उसकी इच्छा से युक्त हुआ पुरूष कार्य में नियुक्त होता है तथा जिस बुद्धिवृत्ति में विषय का आकार समर्पित होता है, वह करण कहलाता है। जब अन्तःकरण चिदाभास से व्याप्त होता है तो वह ज्ञाता कहा जाता है।[1] जिस प्रकार प्रकाश स्थित घट बुद्धि में आरूढ़ होता है, उसी प्रकार बुद्धिनिष्ठ घट बुद्धि में आरूढ़ होता है। बुद्धि द्वारा घट की व्याप्ति ही घटारोह है, किन्तु बुद्धि की व्याप्ति में क्रम रहता है। पहले विषय में बुद्धि की व्याप्ति होती है और उसके पश्चात् आत्मा का अनुग्रह रहता है। किन्तु काल और आकाशादि के समान व्यापक आत्मा की व्याप्ति में कोई क्रम नहीं है।[2] इन्द्रियों से युक्त विषयाकारा वृत्तियों के समान ही केवल मन के भीतर ही होने वाली स्मृति एवं रागादि वृत्तियाँ तथा इन्हीं की तरह जो मन की परिणाम भूता स्पप्न-वृत्तियाँ है, वे सभी दृश्य है तथा सर्वदा ही आत्मा के नित्य-चैतन्य से प्रकाशित होती है।[3]

साक्षी आत्मा की कूटस्थता के सम्बन्ध में पूर्वपक्षी की शंका को प्रस्तुत करते हुए *उपदेशसाहस्री* के अन्तर्गत कहा गया है कि असंहत होने के कारण स्वार्थ होने पर भी चैतन्यस्वरूप आत्मा अन्तःकरण की नील-पीतादि रूप वृत्तियों को उपलब्ध करने वाला होने के कारण विकारी हो जाता है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए शंकराचार्य कहते है कि उन प्रत्ययों की नियम से अशेषतया अपरिणामिनी उपलब्धि आत्मा के

---

[1] *कर्मेप्सिततमत्वात्स तद्वान्कार्ये नियुज्यते। आकारो यत्र चार्प्येत करणं तदिहोच्यते।। यदाभासेन संव्याप्तः संज्ञातेति निगद्यते। - उ0सा0 1/18/119-120*

[2] *आलोकस्थो घटो यद्वद् बुद्ध्यारूढो भवेत्तथा। धीव्याप्तिः स्याद्घटारोहो धियो व्याप्तौ क्रमो भवेत्।। पूर्व स्यात्प्रत्ययव्याप्तिस्ततोऽनुग्रह आत्मनः। कृत्स्नाध्यक्षस्य नो युक्तः कालाकाशादिवत्क्रमः।। उ0सा0 1/18/156-157*

[3] *उ0सा0 1/13/6-8*

कूटस्थत्व में हेतु है।[1] अर्थात् आत्मा उन वृत्तियों के केवल किसी अंश विशेष का ही प्रकाशक नहीं है, अपितु अन्तःकरण की ज्ञात और अज्ञात सभी वृत्तियों का अखण्ड प्रकाशक है। जो विकारी प्रकाशक होते हैं, वे विषय के एकदेश को ही प्रकाशित करते हैं।[2] यहाँ एक अन्य शंका उपस्थापित करते हुए कहा जाता है कि उपलब्धि तो धात्वर्थ होने के कारण विकार ही है, फिर उपलब्धता की कूटस्थता कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए *उपदेश साहस्री* में कहा गया है कि धात्वर्थ रूप विकास में तो उपलब्धि का उपचार होता है। बुद्धि जनित ज्ञान ही विकार रूप धात्वर्थ हुआ करता है, आत्मा की उपलब्धि तो अपने आभासरूप फलपर्यन्त ही है। अतः उसका उपलब्धि शब्द से उसी प्रकार उपचार किया जाता है जैसे किसी वस्तु के दो खण्ड होने में समाप्त हो जाने वाली छेदन क्रिया का धातु के अर्थरूप से उपचार किया जाता है।[3] इस सम्बन्ध में एक और शंका का उत्थापन करते हुए *उपदेश साहस्री* में कहा गया है कि जिस प्रकार छिदि क्रिया का उपचार छेद्य वस्तु के विकार में किया जाता है उसी प्रकार 'उपलब्धि' शब्द से उपचरित हुए धात्वर्थरूप बौद्ध प्रत्यय का फल भी यदि आत्मा के उपलब्धि रूप विकार में ही है तो वह आत्मा की कूटस्थता का प्रतिपादन नहीं कर सकता। उक्त शंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए *उपदेशसाहस्रीकार* का कथन है कि यदि उपलब्धि और उपलब्धता में भेद होता तब तो उक्त शंका करना ठीक हो सकता था। किन्तु यह उपलब्धता तो नित्योपलब्धि स्वरूप ही है।[4] अतः शंका उपयुक्त नही प्रतीत होती है।

---

[1] *यतस्तेषां प्रत्ययानां नियमेन अशेषतः उपलब्धेरेव अपरिणामित्वात् कूटस्थत्वसिद्धौ निश्चयहेतुमेव अशेषचित्तप्रचारोपलब्धि संशयहेतुमात्थ –* उ0सा0 2/2/75

[2] उ0सा0 2/2/75

[3] उ0सा0 2/2/77

[4] उ0सा0 2/2/79

कूटस्थ चैतन्य के साक्षित्व तथा द्रष्ट्रत्व के सम्बन्ध में *उपदेशसाहस्री*
अन्तर्गत कहा गया है कि बुद्धि रूपादि आकार में परिणत होकर दर्शन
ग्यता को प्राप्त होती है, यही इसका विषय को प्रकाशित करना है, तथा
का उदय होने पर साक्षी आत्मा का उसे व्याप्त कर लेना ही द्रष्ट्रत्व
इस सम्बन्ध में *उपदेशसाहस्री* के टीकाकार आनन्दगिरि का कथन है
धर्माधर्मवशाद् उत्पन्न बुद्धिवृत्तियों में चिदात्मा की सन्निधिमात्र से
प्ति ही चिदात्मा का साक्षित्व एवं द्रष्ट्रत्व है, परिणामी होने से नही।[2]
स्थ आत्मा की फलसम्बन्धता स्पष्ट करते हुए *उपदेशसाहस्रीकार* कहते है
प्रत्ययी (अन्तःकरण) और प्रत्यय (उसकी वृत्तियाँ) जिसके आभास है,
के ये शेषभूत भी हैं। अतः इन दोनों के अचेतन होने के कारण
में फल सम्भव न होने से 'मैं सत् ही हूँ - इत्यादि वाक्य का तात्पर्य
व्यापार होने पर भी उनके अधिष्ठान चेतन आत्मा में ही माना जाता
इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि
स प्रकार सेना के जय आदि का राजा में आरोप किया जाता है उसी
गर अन्तःकरण की अहमात्मिका वृत्ति और चिदाभास के अनात्मा होने
कारण कूटस्थ आत्मा में फल को योजना संगत है।[4]

उपदेशसाहस्री के अनुसार प्रत्ययवर्ग के साथ द्रष्टा आत्मा का दृश्यत्व
सम्बन्ध मिथ्याभिमान के ही कारण है। वस्तुतः चेतन आत्मा अपने
गश्य प्रत्ययों से सर्वदा अलिप्त रहता है।[5] *उपदेशसाहस्री* के अन्तर्गत

व्यञ्जकत्वं तदेवास्या रूपाद्याकारदृश्यता।
द्रष्ट्रत्वं च दृशेस्तद्वद् व्याप्तिः स्याद्धिय उद्भवे। उ0सा0 2/4/6
यथा वृद्धेर्विषयाकारेण दृश्यत्वमेव ब्यञ्जकत्वं तथा बुद्धिवृत्तीनां धर्माधर्मवशादुत्पत्तौ
चिदात्मनः सन्निधिमात्रेण व्याप्तिस्तत्साक्षित्वं दशेरात्मनो द्रष्ट्रत्वं न
परिणामित्वमित्यर्थः। — *आनन्दगिरि, उपदेशसाहस्रीविवृति 1/14/6*
त्ययी प्रत्ययश्चैव यदाभासी तदर्थता ।
तयोरचितिमत्त्वाच्च चैतन्ये कल्प्यते फलम्।। उ0सा0 1/18/107
कूटस्थेऽपि फलं योग्यं राजनीव जयादिकम्।
तदनात्मत्वहेतुभ्यां क्रियायाः प्रत्यस्य च।। उ0सा0 1/18/108
यतिकीर्णोऽप्यसंकीर्णस्तद्वज्ज्ञः प्रत्ययैः सदा। उ0सा0 1/16/5

कहा गया है कि प्रत्येक विषय ज्ञान चिदाभास से विषय के व्याप्त होने पर ही होता है। इसलिए शब्दादिरूप से बुद्धि को आत्मा की ही प्रतीति हो रही है उस आत्मा-अनात्मा के अविवेक से ही जगत् मोहित हो रहा है।[1] ज्ञानस्वरुप आत्मा से प्रकाशित हुई बुद्धि अपने ही में ज्ञान मानती है और ऐसा समझती है कि मेरे से भिन्न कोई और बोद्धा नहीं है यह बुद्धि की भ्रान्ति ही है। बोध तो सर्वदा आत्मा का स्वरूप है। बुद्धि में तो उसका उपचार होता है।[2]

इस प्रकार साक्ष्य के साथ साक्षी का सम्बन्ध अपारमार्थिक है। 'मै साक्षी हूँ' यह ज्ञान चिदाभासविशिष्ट बुद्धि का ही निश्चय है, साक्षी का नहीं क्योंकि वह निर्विशेष है और उससे भिन्न कोई उसका द्रष्टा भी नहीं है।[3]

इस प्रकार साक्षिचैतन्य सम्बन्ध उपर्युक्त दृष्टिकोण से वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत ज्ञान के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक पद्धति का परिचय मिलता है। क्योंकि ज्ञान की विभिन्न स्थितियों को स्थितिबद्ध करने की समस्या एक महत्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या का निदान परम ज्ञानी शंकराचार्य ने कूटस्थचैतन्य, साक्षिचैतन्य एवं वृत्तिचैतन्य के स्वरूप निरूपण के आधार पर किया है। कूटस्थ चैतन्यनिष्ठज्ञान परमार्थ-ज्ञान, साक्षिचैतन्यनिष्ठज्ञान तटस्थज्ञान एवं वृत्तिज्ञान तद्-तद् विषयों का ज्ञान है। इस दृष्टि से वेदान्त के अन्तर्गत ज्ञान के सम्बन्ध में एक मौलिक दृष्टि का आविर्भाव देखने का मिलता है।यह आश्चर्य है कि भारतीय दर्शन के अन्वेषी विद्वान डा0 नन्दकिशोर देवराज ने यह कैसे कह दिया कि न आचार्य शंकर और न

---

[1] *चैतन्यप्रतिबिम्बेन व्याप्तो बोधे हि जायते।*
बुद्धेः शब्दादिभिर्भासस्तेन मोमुह्यते- जगत्।। उ0सा0 1/5/4

[2] *उ0सा0 1/16/60, 61*

[3] *अध्यक्षोऽहमिति ज्ञानं बुद्धेरेव विनिश्चयः ।*
नाध्यक्षस्याविशेषत्वान्न तस्यास्ति परो यतः ।। उ0सा0 1/18/159

पद्मपाद ने ही वृत्ति के सम्बन्ध में सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत किया है।[1] उन्होंने अपने मत की पुष्टि में डा0 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त को भी उद्धृत किया है। वृत्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के आधार पर देवराज जी का मत स्वतः धराशायी हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपदेशसाहस्री के अन्तर्गत अनेक स्थलों पर वृत्ति सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध होता है।[2]

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यथार्थ अनुभव प्रमा के संदर्भ में वृत्ति का स्वरूप क्या है।

यथार्थानुभव को ही प्रमा कहते है। स्मृति तो अनुभव ही नहीं है, इसलिए यथार्थ अथवा अयथार्थ कोई भी स्मृति प्रमा नहीं है। संशय और विपर्यय अनुभव तो है परन्तु यथार्थ नहीं है, इसलिए वे भी प्रमा नहीं हो सकते। अप्रमा ज्ञान मनोवृत्ति नहीं होता है, किन्तु अविद्या वृत्ति रूप होता है और उसका आश्रय साक्षी होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान वृत्ति रूप है। वृत्ति प्रमा और अप्रमा से दो प्रकार की है। अन्तःकरण प्रमावृत्ति है। अविद्या अप्रमा वृत्ति है, इस दशा में ज्ञान अहंकार का कार्य प्रमा रूप से ही होता है और अविद्या का कार्य अप्रमा रूप से। अविद्या कार्यता के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि प्रमा ज्ञान के अन्तःकरण के द्वारा अविद्या कार्य होने पर भी साक्षात् उसमें अविद्या कार्यता नही है। प्रमा रूप ज्ञान अहंकार का कार्य है।

अयथार्थ वक्ता से उच्चरित जो शब्द भ्रमात्मक ज्ञान होता है, वह अविद्या रूप ही है, ऐसा प्राचीन वेदान्ती स्वीकार करते हैं। यद्यपि उस

---

[1] *It is to be noted that the elaborate discussion of the Vrttis going out and enveloping or assuming the form of the object is to be found neither in Sankara nor in Padmapada.*
, *An Introduction to Sankara's Theory of Knowlege,* p. 96

[2] *उ0सा0 1/5/4, 1/13/6-8, 1/18/1 इत्यादि*

समय जागृत-अवस्था में अन्तःकरण विषयाकार के सदृश्य आकार को ग्रहण करने के योग्य है तथापि विषय के आकार के सदृश आकार को ग्रहण नहीं कर सकता है क्योंकि वहाँ पर प्रमात्व का अभाव प्रतिबन्धक है। इस प्रकार भ्रमात्मक समस्त ज्ञान अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है, किन्तु अविद्या की साक्षात् वृत्ति है। इसी प्रकार संशय और स्मृति ज्ञान भी प्रमा न होने से भ्रम ज्ञान की तरह अविद्यावृत्ति रूप हैं।

मधुसूदन सरस्वती ने "प्रमा का आश्रय प्रमाता को बताया है।"[1] प्रमाता की व्याख्या करते हुए अभ्यंकरोपह्ववासुदेव शास्त्री सिद्धान्त बिन्दु की *बिन्दु प्रपात* व्याख्या में लिखते है : शरीर को व्याप्त करके स्थित अन्तःकरण घटादि - ज्ञानकाल में गवाक्ष के खोल देने से दीपक से प्रकाश की तरह अपने आश्रय भूत शरीर को न त्यागता हुआ ही विकसित होकर नेत्रादि इन्द्रिय द्वारों से बाहर निकल कर सूक्ष्म तन्तु की तरह विषय देश में जाकर, विषय को व्याप्त करके विषयाकार से परिणत हो जाता है, वहाँ शरीर में स्थित अन्तःकरण का भाग "कर्ता" कहा जाता है। सूक्ष्म तन्तु की तरह शरीर और विषय के मध्य स्थित जो अन्तःकरण का भाग उससे उपहित चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहा जाता है। विषय के आकार के सदृश आकार से परिणत, विषय देश में स्थित, अन्तःकरण के भाग से उपहित चैतन्य प्रमिति चैतन्य कहा जाता है। घटादि विषयों से उपहित चैतन्य प्रमेय चैतन्य कहा जाता है। ये तदुपहित चैतन्य रूप प्रमाता आदि सभी व्यभिचारी हैं, क्योंकि उपाधि के होने पर उनका भाव और उपाधि के न होने पर उनका अभाव हो जाता है। परन्तु उन चारों का साक्षिभूत जो अनुपहित चैतन्य है, वह तो सदा सत्रूप से अब्यभिचारी ही है। जैसे प्रमेय के भाव और अभाव का साक्षी अन्य होता है, वैसे ही प्रमाता के भाव एवम् अभाव

---

[1] *प्रमाश्रयः प्रमाता....... सि०वि० पृ० 19*

का साक्षी अन्य है।[1] अतः "अबाधित विषयाकार अन्तःकरण वृत्ति को प्रमा कहते है, उसका आश्रय अन्तःकरण ही है, क्योंकि वह परिणामी है।" .... प्रमा ज्ञान विशेष है, अन्तःकरण की वृत्ति में जो प्रमात्व है, वह औपचारिक है, वास्तविक नहीं। क्योंकि ज्ञान चैतन्य ही है, इसलिए प्रमा चेतन का धर्म हो सकता है, अचेतन अन्तःकरण का नहीं।[2] ऐसी शंका करने पर मधुसूदन सरस्वती उत्तर देते है कि चैतन्य का आश्रय न होता हुआ भी अन्तःकरण चिति के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, इसलिए उसको चैतन्य का आश्रय कहते है। अथवा अचेतन अन्तःकरण का चेतन के साथ जो भेद है, उसका ज्ञान नहीं होता। इसलिए अन्तःकरण को चैतन्य का आश्रय कहते हैं। चैतन्य का आश्रय होना (प्रमातृत्व होना) है।[3] "अहंकार प्रमाणजन्य ज्ञान का आश्रय है - ऐसा नियम है। अहंकारजन्य ज्ञान प्रमा है, अविद्याजन्य ज्ञान अप्रमा है। प्रमा रूप ज्ञान ही अहंकारजन्य है।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त की ज्ञानमीमांसा दो ज्ञानों के अन्तर पर आधारित है मुख्य रूप से ज्ञान का तात्पर्य है साक्षी चैतन्य अर्थात आत्मा का निजी स्वभाव। अद्वैत-वेदान्त में आत्मा चैतन्य या ज्ञान स्वरूप है वह चैतन्य नित्य और अपरिवर्तनीय है । वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह वृत्ति ज्ञान है इसलिए अब हम साक्षी ज्ञान एवं वृत्ति ज्ञान का विवेचन करेंगे।

---

[1] *शरीरं व्याप्य सिथतमन्तः करणं...... .... तथा प्रमातुरपि भावाभावौ चेत्तत्साक्षात्कारेतदन्योपेक्ष्यतेबिन्दु प्रपात, व्याख्या हित सि0वि0, पृ0 19*

[2] *अबाधित विषयाकारान्तः करणवृत्तिार्हि प्रमेत्युच्यते। तदाश्रयमत्तः करणमेव। परिणामित्वात्। सि0वि0 पृ0 19*

[3] *प्रमा हि ज्ञान विशेषः । ... ... चैतन्याश्रयत्वमेव च तस्य प्रमाश्रयत्वम्। बिन्दु प्रपात व्याख्या सहित सि0वि0, पृ0 19*

[4] *अहड्.कारस्य च प्रमाणजन्य ज्ञानाश्रयत्वनियमात् प्रमात्वेनैव तत्कार्यतावच्छेदात्। अप्रमात्वावच्छेदेन चाविद्याया एव कारणत्वात्। वही*

ज्ञान के स्वरूप में साक्षी

साक्षी ज्ञान–

साक्षी स्वयंप्रकाश है एवं अपनी महिमा में स्थित है उसी के प्रकाश के स्वप्नादि तीनों अवस्थाओं की सिद्धि होती है, यही नहीं सुख दुख आदि का ज्ञान भी स्वयंप्रकाश साक्षी द्वारा होता है। प्रश्न उठता है कि जब साक्षी स्वयं प्रकाश है एवं ज्ञाता है तो उसका ज्ञान क्यों नहीं होता है? अथवा अन्तर्यामी साक्षी को क्यों नहीं जाना जाता है। *वृहदारण्यक उपनिषद*[1] में इसका उत्तर दिया गया है कि साक्षी को न जानने का कारण है उसका अदृष्टत्व, अश्रुतत्व आदि। जिसमें दृश्यत्व शक्ति है वही दृश्य होता है, साक्षी में यह शक्ति नहीं क्योंकि वह तो स्वयं निर्विकार दृष्टा है। *"अदृष्टो दृष्टाऽश्रुत"* इत्यादि श्रुति भी साक्षी में विषयत्व का निराकरण करती है। प्रमाता और प्रमाण का दृष्टा साक्षी स्वयं ज्ञानविषयता से रहित है, इसलिए दृश्य नहीं है।

पंचदशीकार[2] का मत है कि जीव संसार अर्थात् विषय सम्पादन आदि के ध्यान में मस्त होकर श्रुति विचार से पहले कभी भी अपने स्वरूप स्वयंप्रकाश कूटस्थ चैतन्य को नहीं जानता और उसका न जानना अज्ञान के कारण है। "कूटस्थ नहीं है" या "प्रतीत नहीं होता" – यह कहना अज्ञान का किया आवरण है। कूटस्थ की असत्ता तथा अप्रतीति के कथन की भाँति साक्षीकर्ता है, भोक्ता है– इस प्रकार कर्तव्य आदि का आरोप साक्षी के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अज्ञान द्वारा ही अज्ञान (मैं नहीं जानता इस रूप में) संस्फुरित होता हुआ साक्षी को विषय और

---

[1] *भूम्यादिदेवताः कस्मान्न स्वान्तर्यामिणं विदुः । अदृष्टोऽश्रुत इत्याह कारणं तदवेदने ।। मागोचरातिवर्तित्वाद् मातृमानादिसाक्षिणः। दृष्टुरन्यस्य चाऽभावान्न तं पश्यन्ति देवताः।।*
----वृहदारण्यक उपनिषद्, 3/24, 26

[2] *संसारासक्तचितः संश्चिदाभासः । स्वयं प्रकाशकूटस्थं स्वतत्वं नैच वेत्तययम् ।। न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसंगतः। कर्ता भोक्ताऽहस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यजते ।।*
पंचदशीकार का मत – सिद्धान्तलेश संग्रह

आश्रय बनाता है एवं ईश्वर, जीव और साक्षी के स्वरूप को ढक देता है। अज्ञान यद्यपि एक है फिर भी आवरण और विक्षेप शक्ति से आवरण और विक्षेप विविध रूपों में कार्य करता है। अज्ञान का नाश होने पर साक्षी के स्वयंप्रकाशित रूप की स्पष्ट अनुभूति होती है।

संक्षेप शारीरक[1] में उल्लिखित है कि जो अल्प परिच्छिन्न कर्तव्य आदि रूप है वही इस साक्षी के बंधन एवं अज्ञान का कारण है। यह बंधन अनर्थ है क्योंकि *"अनेन स्वच्छचैतन्य मूर्तिः प्रत्यगात्मा बद्ध"* अर्थात् इस बंधन में जकड़ा हुआ साक्षी स्वच्छ होने पर भी अस्वच्छ जैसा, विज्ञ होने पर भी अज्ञ जैसा, आनन्दरूप होने पर भी क्षुधादि अनन्त दुख की ज्वालाओं से जलता हुआ सा प्रतीत होता है। कूटस्थ असंग चिदात्मा के बंधन का कारण है – स्वात्माज्ञानम् अर्थात् स्वाश्रित तथा स्वविषयक अज्ञान। इसकी निवृति होती है – स्वात्मज्ञानम् अर्थात अपने विशुद्ध अद्वय आनंद विग्रह के ज्ञान से। बंधन के हट जाने पर स्वयंप्रकाश साक्षी का ज्ञान होता है।

ज्ञानी अज्ञानी सबके अन्तःकरण में संस्कार रहते हैं। हम जैसा देखते, सुनते, समझते आये हैं उसी के अनुसार इच्छा, संकल्प हमारे मन में उठते हैं। जब कोई बोलने लगता है तब सत्य में, उसके ज्ञान में संस्कार जुड़ जाते हैं तथा व्यक्ति सत्य को, ज्ञान को ही संस्कारयुक्त रूप में ही देखता है एवं संस्कारयुक्त ही सत्य का निरूपण करता है। संस्कार में मतभेद होते हैं वे सत्य एवं ज्ञान की दृष्टि से नहीं होते हैं। अन्तःकरण में जो संस्कार पड़े हैं उसके कारण यथार्थ ज्ञान नही होता।[1] अन्तःकरण शुद्धि के पश्चात् यथार्थ ज्ञान संभव है एवं यथार्थ ज्ञान के बाद परमात्मा का, साक्षी के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है।

---

[1] *अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा, बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्यमूर्तिः ।*
स्वज्ञात्माज्ञानं कारणं बन्धेऽस्य स्वात्मज्ञानातन्निवृत्तिश्च मुक्तिः ।।
---- संक्षेप शारीरक, 1/50

नित्य प्रति समस्त जगत को एवं उसके व्यवहार को देखने के पश्चात् स्पष्ट होता है कि हमारे अनुभव क्षेत्र में जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल पदार्थ आता है उसका कुछ न कुछ नामरूप, स्वभाव का गुण अवश्य होता है तथा अनुभव में आने के लिए वह अवश्य ही किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना, त्वक् तथा मन) के संपर्क में अवश्य आता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि इन सभी का मूल रूप तो तत्व है उनके नामरूप, गुण धर्म क्या है? एवं कैसे उनका ग्रहण हो सकता है? इसके संबंध में श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म का साक्षी रूप सभी धर्मो से रहित ही नहीं, अस्पृष्ट भी है तथा लोक में ये ज्ञान का साधन बनने वाले सभी उपायों का स्वयं चलाता हुआ भी उनकी पहुँच या पकड़ के बाहर है। अतः कह सकते हैं कि ज्ञान के साधनों द्वारा ब्रह्म के साक्षी स्वरूप का ज्ञान संभव नहीं।

सृष्टि से पहले षष्ठ प्रमाण आदि से दिख रहा यह जगत एक (सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदरहित) अद्वितीय और सत्य ब्रह्म स्वरूप होता है - इस श्रुति से जगत की उत्पत्ति से पूर्व जिस कारण सत् रूप अद्वितीय ब्रह्म का उपदेश किया जाता है वह ब्रह्म वाणी और मन का विषय नहीं है एवं उसे स्वयं ही नही जाना जा सकता वरन् उसके कार्यभूत पाँच भूतों के विवेक द्वारा उसका बोध होता है।[1] उसके बोध होते ही साक्षी का रूप बोध हो जाता है। "हमारे ज्ञान की प्रणाली यह होगी कि पहले साक्षी का अपरोक्ष ज्ञान होता है, जिसके साथ हम अभिन्न हो जाते हैं। जिससे हम एक नहीं होंगे उसका ज्ञान भी नहीं हो सकता। यहाँ तक कि जब हम घड़े को जानते हैं तब घड़े से एक हो जाते हैं। जब प्रमातावच्छिन्न चैतन्य, प्रमेयावच्छिन्न चैतन्य से एक होता है तब प्रमेय का

---

[1] *पंचदशी, 2/11*

ज्ञान होता है।"[1] जब हम साक्षी को अपरोक्ष रूप से जानते हैं तो उससे एक हो जाते हैं एवं उसके स्वयं प्रकाश स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पहले विषय का बाध किया जाता है उसके बाद आभास का बाध, उसके बाद कूटस्थ और ब्रह्म को एक जाना जा सकता है। साक्षी को इस प्रकार भी जाना जा सकता है - एक तो अपने शरीर को विवेक अलग कर लिया जाये और फिर शेष संसार का विवेक अलग कर लिया जाय। इसमें पंचकोष का विवेक करते हुये दृष्टारूप से साक्षी का विवेक होगा और पंचभूतों का साक्षी रूप से ब्रह्म का विवेक होगा और तब साक्षी का ज्ञान भी होगा।

साक्षी ज्ञान के साधनों द्वारा नहीं जा सकता क्योंकि वह ज्ञान का विषय नहीं है, वरन स्वयं ज्ञानस्वरूप है। अतः प्रश्न उठता है कि साक्षी का ज्ञान कैसे होगा? किन साधनों द्वारा साक्षी को जाना जा सकता है इस संबंध में *कल्पतरूपरिमल* ने कहा गया है अभिव्यक्त चैतन्य से अभिन्न होना अर्थ की अपरोक्षता है। वह अपरोक्षता नित्य अभिव्यक्ति तथा जीव चैतन्य से अभिन्न ब्रह्मरूप साक्षी में स्वाभाविक ही है, इसलिए श्रुति में "यत्साक्षात्परोक्षादब्रह्म" कहा है। वह स्वयं जीव में, सुखादि में तथा प्रकाशरूप नित्य अभिव्यक्त साक्षी चैतन्य में अनुगत होता हुआ स्वाभाविक है। साक्षी अपरोक्ष ज्ञान का विषय है, अतः अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ किसी कारण द्वारा ही साक्षी का साक्षात्कार हो सकता है।[2] पुनः कहा गया है कि *"मनसैतानकामान् पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके मनोऽस्य दैवं चक्षु"* तथा "मनसैवानुदृष्टव्यम्" इत्यादि श्रुतियों से अन्तःकरण में ऐसी

---

[1] *माण्डूक्य प्रवचन, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, पृ0 6*

[2] *अभिव्यक्तचैतन्याभिन्नत्वमर्थस्यापरोक्ष्यं, तत्तुनित्याभिव्यक्त जीव चैतन्याभिन्ने ब्रह्माणि स्वाभाविकम्। अतएव "यत्साक्षादपरोक्षादब्रह्मे" तिश्रुतिः ।*
घटादीनामपरोक्षचैतन्याभेदाध्यासोपाधिकं तदेव प्रत्यक्षोऽयं घटः प्रत्यक्षं घटं पश्यामीत्यादिव्याहारालम्बनम् । --- कल्पतरूपरिमल, पृ0 55

सामर्थ्य मानी गई है।[1] आत्म साक्षात्कार का हेतु अन्तःकरण ही शब्द जनित ब्रह्मात्मऐक्य भावना से तत्व पद के लक्ष्य ब्रह्मस्वरूप साक्षी का साक्षात्कार जीव को करा देता है।[2] शाब्दबोध अपरोक्ष आत्मक् है एवं इसके द्वारा ही वृति विशिष्ट चैतन्य, ब्रह्म स्वरूप साक्षी से अभेद होता है।

इसी अर्थ को सुरेश्वराचार्य ने *वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक*[3] में स्पष्ट किया है कि सम्यक् प्रयुक्त "तत्वमसि" आदि वेदान्त वाक्य से उत्थित होने वाले सम्यक् ज्ञान का उदय होते ही अन्तःकरण सहित अविद्या सर्वथा लुप्त हो जाती है एवं स्वयंप्रकाश स्वरूप साक्षी साक्षात् प्रकट हो जाता है क्योंकि अपरोक्षता उसमें स्वतः स्वरूपतः एवं स्वभावतः है।

साक्षी का श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है। *"आत्मा एवं अरे दृष्टव्य श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासित्वयः"* इस प्रकार श्रुति ने श्रवण आदि को आत्मदर्शन का साधन बताया है, इसके द्वारा साक्षी का ज्ञान होता है। साक्षी को देखने का उपाय यह है कि अपने से श्रेष्ठ पुरूष के पास जाकर श्रवण किया जाय कि उस श्रवण किये ज्ञान का मनन किया जाय और फिर उसका विचार किया जाय। अतः श्रवण मनन ओर निदिध्यासन द्वारा साक्षी का साक्षात्कार किया जा सकता है। श्रुति का कथन है कि अभी तुम सो रहे हो इसलिए नाना प्रकार के दृश्य देख रहे हो जो कि स्वप्न है, स्वप्न से जागो एवं साक्षी ज्ञान के लिए श्रेष्ठ पुरूषों के पास जाकर सुनो, उसको देखों एवं जानो। इसका अर्थ यह नहीं कि साक्षी ज्ञान का विषय है। साक्षी से अन्य जो कुछ भी है उसे एक बार पृथक कर दो एवं उसके जानने में जो कारण है उसे हटा

---

[1] *कल्पतरूपरिमल, पृ0 55*
[2] *कल्पतरूपरिमल, पृ0 55*
[3] *तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सहकार्येणनासीदस्ति भविष्यति।।*
-- वृ0 उप0 भाष्यवार्त्तिक, पृ0 58

दो तब साक्षी का ज्ञान होगा। जब तक अपने करण तथा करण के विषयों को पृथक नहीं किया जायेगा तब तक साक्षी ज्ञान नहीं हो पायेगा।

श्रुति के अनुसार शाब्द ज्ञान में गुरू स्वयं तत्व के साक्षात्कार की दशा में समर्थ शब्द के रूप में अर्थभूत तत्व का उपदेश शिष्य को देते हैं। शिष्य स्वयं मनन एवं निदिध्यासन द्वारा उस शब्द का विश्लेषण करते हुए उस शब्द से अर्थ का (साक्षी का) साक्षात्कार कर सकता है। साक्षात्कार होने में अनिवार्य कारण शब्द ही है, मनन और निदिध्यासन अन्तःकरण के सहकारी कारण है, इनसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है। गुरू से तत्व के बारेमें सुनने के पश्चात् शिष्य उस पर मनन करता है बार-बार मनन करने के पश्चात् वह ध्यान करता है और तब उसे तत्व का साक्षात्कार हो सकता है। यहॉं पर शंका होती है कि यदि वाक्य श्रवण से ही वास्तव में तत्व साक्षात्कार हो जाता है तो जिस व्यक्ति ने वेदान्त वाक्य सुन लिया है तब उसे तत्व के संबंध में किसी प्रकार का भ्रम नही होना चाहिए। इस शंका के समाधान में यह कहा जा सकता है कि श्रवण का स्तर प्रयोजक है तत्व ज्ञान में। शब्द अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता हुआ ही साक्षी में प्रमाण है। यदि वह परोक्ष ज्ञान उत्पन्न कर ले तो अयथार्थ ज्ञान होने से अप्रमाण ही होगा। अतः यह कहा जा सकता है कि शाब्दजन्य ज्ञान अपरोक्ष ही है। "वेदान्त वाक्य श्रवण भी ब्रह्म के साक्षी स्वरूप - साक्षात्कार का बीज है उसके सहकार्य मनन और निदिध्यासन है इसके अभाव में साक्षी ज्ञान असंभव है।"[1]

आचार्य गौड़पाद के अनुसार संसारी जीव अनादिकाल से तत्वाप्रतिबोध तथा अन्यथा ग्रहणरूपा बीजात्मिका महानिंद्रा के कारण स्वप्न एवं जाग्रत दोनों अवस्थाओं में "मैं" और "मेरा" तथा उनसे सम्बद्ध सुख

---

[1] *वेदार्थ संग्रह पृ0 96*

दुख, लाभहानि को देखता हुआ सो रहा है।[1] जब वेदान्त अर्थवक्ता या तत्ववक्ता द्वारा – "तुम ऐसे कार्यकारणरूप नहीं हो" वरन् "चिरजाग्रत आनन्द स्वरूप हो" – ऐसा समझाते हुए बताया जाता है तब उसे तत्व का बोध होता है एवं बाह्य अभ्यान्तर सभी भावविकारों से रहित अविद्या से सर्वथा अस्पृष्ट स्वयंप्रकाश ब्रह्म के साक्षी स्वरूप का बोध होता है।

इस प्रकार शब्द ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करके साक्षी के स्वप्रकाश स्वरूप का ज्ञान करा देता है। विवरण प्रस्थान में उपासना के द्वारा भी साक्षी ज्ञान का बोध होना स्वीकार किया गया है –

शब्द प्रमाण द्वारा साक्षी का साक्षात्कार किया जा सकता है किन्तु साक्षी साक्षात्कार में केवल शब्द ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है इसके साथ विवेक, उपासना आदि की भी आवश्यकता होती है। जैसा पंचदशी[2] में कहा है कि यद्यपि वेदांत में "तत्वमसि" आदि महावाक्यों से ब्रह्म का प्रत्यगात्मा रूप से अर्थात् साक्षी रूप से उपदेश किया है तथापि यह साक्षी रूप "तत् त्वं" पदार्थ के विवेक से रहित पुरूष के लिए दुर्बोध है इसलिए केवल विचार रहित वाक्य से साक्षी का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता। पुनः कहा गया है कि "कल्प सूत्रों में कर्मो का अनुष्ठान है तो ऋषिकृत ग्रंथो में उपासनाओं का अनुष्ठान है इसलिए विचार समर्थ पुरूष गुरूमुख से सुनकर उस उपासना का अनुष्ठान कर साक्षी का साक्षात्कार कर सकते हैं। मनुष्यों को साक्षात्कार विचार के बिना केवल आप्तोपदेश से कभी संभव नहीं है।"[3] अतः विचार भी आवश्यक है। अविचार तो विचार के बिना नहीं हट सकता। "तत् त्वं" पदों के अर्थो का भलीभाँति विचार करके भी यदि

---

[1] *पंचदशी, 7/91*

[2] *ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम्।*
महावाक्यैस्तथाप्येतद्दर्बोधमविचारिणः ।। — *पंचदशी, 9/20*

[3] — *पंचदशी, 9/28, 30*

साक्षी ज्ञान नहीं होता तब विचार ही अपरोक्ष ज्ञान का हेतु है यह मानकर बार–बार विचार करना चाहिए।"[1]

बार–बार विचार करने पर भी तीन प्रकार के प्रतिबंधों के होने से साक्षी का साक्षात्कार नहीं होता यह बात वार्तिककार ने भलीभाँति समझायी है। यह प्रतिबंध भूत, भावी एवं वर्तमान भेद से तीन प्रकार का है। इन प्रतिबंधों के हटने पर ही साक्षी का साक्षात्कार संभव है। "वर्तमान प्रतिबंध का स्वरूप चित्त की विषयों में आसक्ति होना है। शमदम आदि तथा श्रवणादि साधनों में जो जहाँ उचित है वहाँ उससे इस वर्तमान प्रतिबंध को हटा देने पर एवं प्रतिबंध के क्षीण होने पर ब्रह्म स्वरूप साक्षी का ज्ञान होता है। जन्मान्तर दिखाने वाला प्रारब्ध आगामी प्रतिबंध कहलाता है इसे हटाने के लिये आत्मविचार अत्यावश्यक है।"[2]

बुद्धि की अत्यन्त मन्दता के कारण सामग्री अर्थात् उपदेश देता गुरू के अभाव में यदि किसी को विचार करने का अवसर न मिले तो वह दिन रात उपासना करे। उपासना ज्ञान का साधन हो सकती है। उपासना नाम की विद्या एक ही है इसलिए भिन्न–भिन्न शाखाओं में वर्णित उपास्य के सब गुणों को उपासना में एकत्रकर उपासना करनी चाहिये। वेदांत सूत्र "सर्ववेदान्तप्रत्यमं चोदनाधविशेषात्" यह बताता है कि सब उपनिषदों से प्रतीयमान जो विज्ञान (उपासनाएं) हैं वह सब एकरूप है। उपासना की रीति यह है कि श्रुतियों में अखण्डैकरस जो आत्मा आनन्दमय आदि गुणों से लक्षित किया गया है उसका "मैं वही हूँ" इस रूप में उपासना की जाय।[3] जब उपासना परिपक्व हो जाती है तब साक्षी का यथार्थ ज्ञान करा देती है। जब तक चिन्त्य के स्वरूप का ज्ञान उपासक को न हो जाये

[1] *विचार्याप्यपरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत्।*
आपरोक्ष्यावसानत्वाभ्दूयो भूयो विचारयेत्।। — *पंचदशी, 9/32*

[2] — *पंचदशी, 9/43-45*

[3] — *पंचदशी, 9/67, 73*

तब तक चिन्तन करना चाहिए। उपासना सदैव करनी चाहिए क्योंकि उपासना को पुरूष अपनी इच्छानुसार कर सकता है। उपासक को सदा ध्यान में लगा रहना चाहिए क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान में ध्यान भी सहायक होता है।

पंचदशी[1] में उल्लिखित है कि उपवास से भिक्षा श्रेष्ठ है वैसे ही अन्य साधनों से उपासना श्रेष्ठ है। ज्यों-ज्यों विज्ञान की समीपता आती जाती है वैसे-वैसे श्रेष्ठता बढ़ती जाती है। यही नहीं र्निगुण उपासना तो ब्रह्मस्वरूप साक्षी का ज्ञान कराकर धीरे-धीरे ब्रह्म ज्ञान में परिणत हो जाती है। जैसे संवादी भ्रम फल मिलने के समय प्रमा ज्ञान बन जाता है वैसे ही उपासना भी अतिपाक होने पर मुक्ति काल में ब्रह्मज्ञान बन जाती है। उपासना दूसरे ज्ञान का कारण भी बन जाती है। निर्गुणोपासना निदिध्यासन रूप होकर वाक्य जन्य अपरोक्ष ज्ञान का कारण बन जाती है। पंचदशी में पुनः कहा गया है कि जो पुरूष परमपुरूष की उपासना करता है वह साक्षी, ईश्वर आदि का ज्ञान प्राप्त करता हुआ क्रम से ब्रह्म लोक में पहुँचाया जाता है।

वहां वह परम तत्व ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। उपासना अपरोक्ष ज्ञान का उपाय है, इसे दृष्टान्त द्वारा पंचदशी[2] में स्पष्ट किया है- जैसे भूमि में गड़े आगाध खजाने को प्राप्त करने के लिए खोदे बिना काम नहीं चलता, वैसे ही ब्रह्म स्वरूप साक्षी को प्राप्त करने के लिए स्वात्मा ध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। अनेक जन्मों में किये गये कर्मो को ब्रह्म में समर्पण रूप भजन करने से यह प्राणी स्वविचार द्वारा ब्रह्म के साक्षी स्वरूप को भी प्राप्त कर सकता है। स्वविचार

---

1 -- *पंचदशी, 9/121-124*

2 *यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं बिना।*
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्माचिन्ता मुक्त्वा न चापरः ।
-- पंचदशी, 9/153

से जनित ज्ञान द्वारा अपने अद्वयानन्दयादि रूप की आच्छादिका माया के निवृत हो जाने पर स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसका ज्ञान होने पर साक्षी का स्वतः ज्ञान हो जाता है। साक्षी का चिंतन करना, उसका ही कथन करना, उसमें एकनिष्ठ होकर रहना, इसको ज्ञानी लोग अभ्यास कहते हैं और इस ज्ञान अभ्यास द्वारा भी साक्षी का साक्षात्कार होता है। अनादिकाल की वासना दीर्घकाल, निरंतर और श्रद्धापूर्वक ज्ञानाभ्यास करने पर पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है और वासनाओं के नष्ट हो जाने पर कूटस्थ का ज्ञान होता है।

एक अन्तर्यामी साक्षी अपनी अविद्या से उत्पन्न बुद्धि आदि उपाधि से अनेक और भिन्न प्रकार का माना जाताा है कि उसका स्वरूप ही नहीं है वह तो एक, स्वयंप्रकाश है जिसका साक्षात्कार अपरोक्ष ज्ञान द्वारा संभव है। एक निर्विकारी साक्षी बुद्धि आदि उपाधियों से भिन्न-भिन्न एवं अनेक प्रकार का प्रतीत होता है। इस भ्रान्ति की निवृति के लिए श्रुतियों, वेदान्त शास्त्र, वचन है जो इनका हृदयंगम करते है उनका साक्षी के स्वरूप के संबंध में भ्रम मिट जाता है और एक चैतन्य रूप साक्षी का साक्षात्कार होता है।

"नामरूप से उपलक्षित दृश्य निखिल जगत का प्रतिषेध कर देने के पश्चात केवल साक्षी बचा रहता है क्योंकि साक्षी का प्रतिषेध नहीं हो सकता। यदि उसका भी प्रतिषेध कर दिया जाय तो साक्षी कौन होगा? असाक्षिक प्रतिषेध प्रामाणिक नहीं है। फिर स्वयंप्रतिषेध का वह स्वयं साक्षी नहीं हो सकता क्योंकि स्वयं सत्ता काल में स्वयं का प्रतिषेध नही हो सकता और प्रतिषेधकाल में स्वयंसत्ता नहीं हो सकती इसलिए वह स्वयंप्रकाश साक्षी जगत प्रतिषेध के बाद अवशिष्ट रहता है। वही इस दृश्य जगत का आत्मा है उसी से जगत आत्मावान माना जाता है इस साक्षी

को अपरोक्ष ज्ञान द्वारा जाना जाता है।[1] साक्षी ज्ञान विवेक द्वारा भी संभव है। यह विवेक पंचकोश का विवेक, पंचमहाभूत का विवेक, एक देह में होने वाली तीन अवस्थाओं का विवेक, स्थूल-सूक्ष्म कारण का विवेक, सत्व-रज-तम का विवेक है। विवेक करके उपाधि को पृथक कर दिया जाता है और उपाधि रहित परम तत्व स्वरूप साक्षी सर्वत्र एक ही है। विवेक द्वारा साक्षी की एकता को जानना ही उसका साक्षात्कार करना है। एकता के ज्ञान से अनेकता की भ्रान्ति मिट जाती है। एकता तो पहले से ही है सिर्फ अनेकता की भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति को दूर कर लेने पर साक्षी का साक्षात्कार होता है।"

साक्षी और ब्रह्म की एकता को अज्ञान ने आवृत्ति किया हुआ था उस अज्ञान को नष्ट करने के लिए वृत्ति द्वारा ब्रह्म की व्याप्ति आपेक्षित होती है। परन्तु साक्षी के स्वयंप्रकाश रूप होने के कारण उसका साक्षात्कार कराने के लिए चिदाभास की अपेक्षा नहीं रहती। साक्षी साक्षात्कार में चित्त निरोध भी इष्ट है क्योकि चित्त दोष के हटने पर ही अद्वितीयात्मक ज्ञान से जगत का मिथ्यात्व भलीभाँति देखा जा सकता है एवं साक्षी का स्वरूप भी दिखाई पड़ता है। श्रुति में बुद्धि उपाधि वाले भोक्ता से प्रारंभ कर अन्त में बुद्धि आदि की कल्पना के अधिष्ठानभूत साक्षी को शेष रखा जाता है तथा बुद्धि आदि समस्त अनात्म पदार्थो का निषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार श्रुति में केवल कूटस्थ (साक्षी) मात्र को सत्यरूप माना जाता है।[2] साक्षी साक्षात्कार के संबंध में आचार्य गौड्पादाचार्य का कथन है कि अनादि "मायया" अर्थात् जब अनादि माया से सोया हुआ जीव (तत्वमसि

---

[1] *इतिशब्देन निदिष्टे दृश्वे तस्मिन्नपोदिते। योऽवशिष्टः स आत्माऽस्य दृश्यस्याऽऽत्भावतोमतः।। -- वृहदाण्यक उपनिषद्, 3/9/37*

[2] *ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता। स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ।।*
तदिष्टमतेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात्। इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम्।।
उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते। ताद्रगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौः।।
-- पंचदशी, 7/92, 190, 197

आदि महावाक्यों द्वारा) जाग जाता है, अर्थात् तत्व ज्ञान लाभ करता है, तब उसे अनिन्द्र स्वप्नरहित स्वयं प्रकाश अद्वैत आत्म तत्व का बोध प्राप्त होता है, इस बोध के होने पर साक्षी का बोध स्वतः ही हो जाता है।

साक्षी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से भिन्न है। यही नही वह कृशत्व आदि शरीर धर्म, अन्धत्व कारणत्व आदि इन्द्रिय धर्म, संकल्प आदि मानव धर्म तथा शमदम आदि बुद्धि धर्म से परे है। अविवेकी को अध्यास द्वारा यह धर्म साक्षी में प्रतीत होते हैं इसके विपरीत विवेकी को अपने विवेक ज्ञान द्वारा उक्त धर्मो से शून्य साक्षी का ज्ञान होता है।[1] यद्यपि साक्षी के साक्षात्कार के लिए विभिन्न उपाय बताये गये हैं तो भी साक्षी के संबंध में श्रुति में कहा है- वह साक्षी स्वरूप अन्तर्यामी किसी पुरूष के दर्शन का विषय नहीं है किन्तु स्वयं दृष्टा है, वह किसी पुरूष के श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं है किन्तु स्वयं श्रोता है वह किसी के मन का विषय नहीं है, किन्तु स्वयं मन्ता (मननकर्ता) है, वह किसी के निश्चय का विषय नहीं है किन्तु स्वयं निश्चयकर्ता है। इस अन्तर्यामी को छोड़कर दूसरा दृष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता नहीं है।[2]

साक्षी प्रमाण का विषय नहीं है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि वह स्वयंप्रकाशमान है, फिर भी अज्ञानावरण के द्वारा जाना नहीं जाता है। कुछ विचारकों का मत है कि इसके ज्ञान के लिए योग की आवश्यकता होती है। संपूर्ण चित्त वृत्तियों का निरोध करने के पश्चात् यह अनुभव होता है कि मैं असंग द्रष्टा हूँ। इसके ज्ञान के लिए बार-बार चिंतन की आवश्यकता है। इसके साथ ही जीव की उपाधि अन्तःकरण में जो काम, क्रोधादि है उनकी निवृति के लिए धर्माचरण आवश्यक है क्योंकि दूषित चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र नही होती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान भी

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद, 3/5/89*

[2] *वृहदारण्यक उपनिषद, 3/7/23*

आवश्यक है जो कि अन्तःकरण शुद्धि के बाद ही ठीक रहता है। जैसे-जैसे चित्त की योग्यता बढ़ेगी वैसे-वैसे जानकारी भी बढ़ती जायेगी। अतः ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न बराबर करना चाहिये। यह सत्य है कि तत्व ज्ञान के बिना साक्षी प्राप्ति नहीं होती लेकिन सर्वप्रथम अन्तःकरण शुद्धि आवश्यक है। अज्ञान को निवृत्त करने के लिए अतिरिक्त ज्ञान का कोई दूसरा कार्य नहीं है जैसे घड़ा अंधकार में रखा है, प्रकाश से उस अंधकार का ज्ञान तो स्वतः हो जायेगा इसी प्रकार ज्ञान कोई वस्तु उत्पन्न नहीं करता वह केवल अज्ञान को दूर कर देता है। ज्ञान साक्षी ज्ञान उत्पन्न नहीं करता वरन् केवल साक्षी अज्ञान को दूर कर देता है अज्ञान के दूर हो जाने पर स्वयं प्रकाशवान साक्षी की स्पष्ट अनुभूति होती है। पंचदशी[1] में कहा है कि जीव जब अधिष्ठान सहित (कूटस्थ सहित) भ्रमांश का अवलंबन करता है तब "तब मैं संसारी हूँ" यह मानने लगता है और जब वह भ्रमांश का तिरस्कार कर देता है अर्थात् मिथ्या समझकर उसकी अपेक्षा नहीं करता और अधिष्ठान रूप कूटस्थ की प्रधानता को स्वीकार कर लेता है तब "मैं असंग हूँ" ऐसा जान लेता है।

शंकर का यह दृढ़ सिद्धांत है कि बिना निवृत्ति के ब्रह्म स्वरूप साक्षी का साक्षात्कार नहीं हो सकता और निवृत्ति प्रवृत्ति से उल्टी है। प्रश्न है कि प्रवृत्ति क्या है? तो हमारी हृदयस्थ चेतना मन में आयी और मन से नेत्रों से होकर बाहर आयी और बाहर आकर उसने कोई वस्तु देखी, इस प्रकार यह प्रवृत्ति हुई। अहम् का इदम् में आना प्रवृत्ति है। जहाँ अपने से भिन्न कोई ईश्वर है वहाँ प्रवृत्ति से ईश्वर प्राप्त हो सकता है किन्तु जहाँ हम स्वयं ही ब्रह्म स्वरूप है वहाँ प्रवृत्ति से उल्टे चलना होगा। विषय से इन्द्रियों में, इन्द्रियों से मन में, मन से बुद्धि में और बुद्धि से साक्षी रूप में जाकर स्थित हो जाओ, बाहर से भीतर लौटना यह

---

[1] *पंचदशी 7/7,8, 234, 237, 240*

निवृत्ति है। ज्ञान प्राप्ति के जितने साधन हैं सब निवृत्ति के अंग हैं जिनके द्वारा साक्षी साक्षात्कार किया जा सकता है।

पंचदशीकार[1] ने कहा है कि जिस-जिस प्रक्रिया से पुरूषों से अभिन्न साक्षी का ठीक ज्ञान हो जाये, वही-वहीं प्रक्रिया उनके लिए ठीक है। आत्मत्व तो एक है। बोध्य और बोध कराने वालों के "चित्तो" में विषमता है इसलिए बोध कराने की रीति भी भिन्न-भिन्न हो जाती है, असंग वस्तु की निरंतर भावना करते रहने से शास्त्रोक्त निर्विकारता, असंगता, नित्यता, स्वप्रकाशता, एकता और पूर्णता साक्षी के ये धर्म निर्विवाद रूप से तत्काल बुद्धि में बैठ जाते हैं और जीव साक्षी के स्वयं प्रकाश स्वरूप को जान लेता है।

इसप्रकार समस्त पदार्थो के अधिष्ठान रूप से साक्षी की कल्पना की गयी है। इसके अलावा वृत्तियाँ जड़ होने के कारण स्थूल और सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित नहीं कर सकती। उदय और नष्ट होती हुई वृत्तियों का भी प्रकाशन साक्षि चैतन्य द्वारा होता है, क्योकि उत्पन्न और नष्ट होने वाली वृत्तियाँ सदैव विद्यमान "अहं" भाव का प्रकाशन नहीं कर सकती। वृत्तियों की अनुपस्थिति में दोनों शरीरों (स्थूल और सूक्ष्म) का प्रकाशन साक्षी द्वारा होता है। अहंकारादि साक्षि चैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, इसलिए उनके विषय में कभी संशय नहीं होता। साक्षी सर्वज्ञ होते हुए भी प्रमाता नहीं है, वह एक और उदासीन है, इस तरह चैतन्य का शुद्ध रूप साक्षी कहा जाता है।

---

[1] *यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।*
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम्।। --- *पंचदशी 8/73*

वृत्तिज्ञान –

आचार्य शंकर ने वृत्तिज्ञान का उल्लेख करते हुए कहा है कि किसी भी सीमा में आकर तदाकार होना वृत्ति है। "अन्तःकरण की विशेष प्रकार से स्थिति या अवस्था विशेष वृत्ति है।"[1]

आचार्य सुरेश्वर ने बुद्धि (अन्तःकरण) का परिणाम वृत्ति माना है। परिणाम से अभिमत है बुद्धि के विषयोन्मुख होने पर तदनुकूल आकार लेना। बुद्धि परिणाम तथा शब्द, स्पर्श, सुख, दुःख आदि सभी विषयों के आकार वाली क्षणभंगुरा, आत्मा की अपेक्षा से ही विषयों को प्रकाशित करने वाली तथा सीमित होती है।[2] बुद्धि व उसकी वृत्तियाँ तप्ताय स्फुलिंग जैसी है, अग्नि स्थानीय है, चैतन्यरूपादि विषयभासा, चक्षुरादि के प्रति समाविता अन्तःकरण वृत्ति लौकिक दृष्टि है, वह क्रियामान है, अतः उसके जन्म–नाश इत्यादि विकार होते हैं। आत्मदृष्टि जन्मादि से रहित नित्य है। प्रत्यक् चिदाकार जीव चैतन्य में बुद्धि का बाह्य विषयादि तथा आभ्यान्तर सुख–दुःखादि हेतु निबन्धन, आगम, अपाय –धर्मवान् आकार उत्पन्न होता रहता है, वही वृत्ति ज्ञान है।

विद्यारण्य के अनुसार अन्तःस्था बुद्धि इन्द्रिय द्वारों से बारम्बार बाहर आती है, वही वृत्ति है।[3] आत्मा को विषय ज्ञान का रूप देने वाला अन्तःकरण का विषय ज्ञानानुकूल परिणाम वृत्ति है।[4]

---

1 *यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्धयनुलब्धीभव तस्तन्मनः। कामादयश्चास्य वृत्तयः कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा ... ब्र0सू0शा0भा0, 3/3/32*
सर्वार्थविषयं त्रैकाल्य वृत्ति मनोस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्, तदेववृत्तिभेदात् क्वचिद् भिन्नवद्व्यपदिश्यते– मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित चेत। ब्र0सू0शा0भ0, 3/3/32

2 *येनेवास्या भवेद्योगः ..... श्वेनाङ्कुरोयथा। नै0ंसि0, 2/81–82*

3 *अन्तःस्थाधी सहवाक्षेबीहर्याति पुनः पुनः। पं0द0, 10/7*

4 *ज्ञायते नेनेतिकरण व्युत्पत्तयाबुद्धिवृत्ति ज्ञानम्अध्यास परिनिष्पन्नान्ताकरणं सम्पिण्डित्रस्यआत्मनो जानाकारपरिणामोयुज्यते। वि0प्र0स0, पृ0 581*

मधुसूदन सरस्वती मानते है कि किसी भी प्रकार के विषय ज्ञान के लिए अन्तःकरण को अपने ही स्थान पर अथवा इन्द्रिय द्वारों से बाहर निकलकर विषय देश तक पहुँच कर (उसे व्याप्त करने तक) जो परिणाम होता है वही वृत्ति है।[1]

साक्षी का साक्षात्कार वृत्ति द्वारा भी किया जा सकता है। वृत्ति संसर्ग होने पर ही साक्षी विषय बनता है अन्यथा नहीं। यहाँ प्रश्न उठता है कि साक्षात्कार का विषय वृत्युपहित चैतन्य है, प्रश्न है कि वृत्ति-उपहित का क्या अभिप्राय है। वृत्ति से विशिष्ट या वृत्ति से उपलक्षित। यदि वृत्ति से विशिष्ट कहे तो चैतन्य तत्व अशुद्ध हो जायेगा एवं साक्षात्कार का विषय नहीं हो सकेगा। वृत्ति से उपहित मानने पर साक्षात्काररूपा वृत्ति में स्वविशेषता आती है। अतः कहा जा सकता है कि वृत्ति से तात्पर्य वृत्ति की सत्ता मात्र से है प्रतिभासिता से नहीं।

वृत्ति किस प्रकार साक्षी ज्ञान की व्यंजिका बनती है यह विचारणीय प्रश्न है। यदि लौकिक घट-पट आदि विषय ज्ञान को लें, तो अन्तःकरण वृत्ति तथा उसमें चित प्रतिबिंब दोनों ही घट को व्याप्त करते हैं। विषयगत अज्ञान का आवरण वृत्ति द्वारा नष्ट होता है तब चितप्रतिबंब द्वारा वह घट प्रकाशित होता है ऐसी प्रक्रिया होती है। ब्रह्म स्वरूप साक्षी ज्ञान में ऐसा होना संभव नही क्योकि साक्षी तो सर्वव्यापक है वह किसी सीमित वस्तु द्वारा व्याप्य कैसे होगा? और बुद्धि-वृत्ति में स्थित चिदाभास जैसे घट-पटादि को व्याप्त करके उनका स्फुरण कराता है वैसा ही साक्षी के प्रति भी होना अपेक्षित हो तो साक्षी में दृश्यत्व प्राप्त होगा और उसके द्वारा मिथ्यात्व भी क्योंकि साक्षी तो सर्वथा प्रमाणनिरपेक्ष, स्वयंप्रकश ज्योतिःस्वरूप माना गया है। अतः उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए

---

[1] *शरीरमध्ये स्थितः सर्वव्यापकः ... वृत्तिज्ञानाख्य ... सि0बि0, पृ0 56-57, अभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्री की व्याख्या सहित।*

किसी माध्यम की अपेक्षा क्यों है? यहाँ कहा गया है कि "साक्षी जब विषय होता है तब वृत्ति में स्थित चित्प्रतिबिंब उसे व्याप्त नहीं करता। जैसे दीपक के प्रकाश की सूर्य की अभिव्यक्ति में कोई सार्थकता नहीं होती है। साक्षी विषयक जीवगत अज्ञान के नाश के लिए साक्षी में भी वृत्तिव्याप्ति की अपेक्षा होती है जैसे सूर्य को देखने के लिए अपने बंद नेत्र खोलना आवश्यक है।"[1] बुद्धि में स्थित चिदाभास का नाम ही फल है। तत्वतः भले ही साक्षी स्वयं ज्योति है किन्तु व्यावहारिक दशा में अज्ञान से आवृत्त ही है। इस व्यवहारिक दशा को समाप्त करके पारमार्थिक वस्तु स्थिति में पहुँचने का उपाय चिंतन है। परमार्थ के प्रकाश के अवरोधक अज्ञान को हटाये बिना व्यावहारिक दशा रूप अंध-निशा समाप्त नहीं हो सकती है। अज्ञान के जो रूप व्यावहारिक दशा में अनुभव में आते हैं उनको हटाये बिना व्यवहार नहीं चल सकता। कार्य सहित मूल अज्ञान के हटे बिना ज्योतिस्वरूप साक्षी प्रकट नहीं हो सकता है।

साक्षी ज्योति स्वरूप होने पर भी अंधकार सम अज्ञान का विनाश इसलिए नहीं करता क्योकि स्वरूपतः यह अविद्या व उसके कार्यो का अधिष्ठान है एवं सभी कुछ का भासक है। "लौकिक ज्ञान प्रक्रिया से पारमार्थिक ज्ञान के उदय में इतना अंतर अवश्य है कि व्यावहारिक ज्ञान के लिए वृत्ति-चक्षु आदि इन्द्रिय या लौकिक ज्ञान के द्वारा बनती हैं। साक्षी साक्षात्कार के लिए अपेक्षित है - वेदांत वाक्य श्रंवण से मननादि द्वारा संस्कृत अन्तःकरण से उत्पन्न हुई साक्षी विषयिणीवृत्ति।"[2] लौकिक विषय ज्ञान में जो चिदाभास् (फल चैतन्य) घट को प्रकाशित करता है उसकी अपेक्षा साक्षीज्ञान में नहीं है। यही उसकी प्रमाणनिरपेक्षता व स्वयंप्रकाशता

---

[1] *पंचदशी, 7/90, 92*

[2] *ततः सर्वागनिष्ठस्य प्रत्यग्बह्मैगोचरा या वृत्तिमनिसी शुद्धा जायते वेदावाक्यतः*
तस्यां या चिदभिव्यक्तिः स्वतः सिद्धा च शांकरी। तदेव ब्रह्मविज्ञानं तदेवाज्ञाननाशनम्।।
--- विवरण प्रमेय संग्रह, पृ0 6

का परिचय है। साक्षी ज्ञान के लिए वृत्ति द्वारा ज्ञानावरण का नाश ही उपयोगी है चिदाभास की व्याप्ति की आवश्यकता इसलिए नहीं है क्योंकि आवरण हटते ही स्वयंप्रकाश वस्तु प्रकट हो ही जाती है।

लौकिक ज्ञान और साक्षी साक्षात्कार में अंतर स्पष्ट करते हुये माना जा सकता है कि लौकिक ज्ञान अर्थात् घट–पटादि के प्रत्यक्ष के लिए विषय इन्द्रियसन्निकर्ष, विषयाकारा–मनोवृत्ति, उस वृत्ति से आवरण नाश अथवा प्रमाता व प्रमेय चैतन्यों का संबंध, इस वृत्ति में स्थित चिदाभास या चित्प्रतिबिंब द्वारा विषय की व्याप्ति – इतनी सामग्री आपेक्षित है। घट–पटादि प्रत्यक्ष स्थलीय मनोवृत्ति साक्षी भास होने के कारण स्वयं प्रकाश नहीं कही जा सकती। इसके विपरीत साक्षी ज्ञान में "तत्वमसि" इत्यादि वाक्यों के श्रवण से उत्पन्न मनोवृत्ति उपयोगी है। यहाँ उक्त वृत्ति के उदित होते ही साक्षी को आवृत किया हुआ अज्ञान आवरण तत्काल ही नष्ट हो जाता है क्योंकि वृत्तिज्ञान अज्ञान का नाशक है। आवरण के हटते ही उस वृत्ति में अभिव्यक्त स्वयंप्रकाश ब्रह्मस्वरूप साक्षी चिदाभास के बिना स्वयंप्रकाशित हो जाता है। उसके प्रकाश के लिए साक्षी प्रतिभास की आवश्यकता नहीं। "तत्वमसि" आदि शाब्द रूप सामग्री से जो प्रत्यक्ब्रह्मकाररूप पूर्ण और अत्यंत सुदृढ़ मन की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका दृष्टा स्वतः प्रकाशमान साक्षी ही है अन्य कोई नहीं क्योकि उस वृत्ति में अपने स्वभावभूत ब्रह्म रूप से साक्षी ही अभिव्यक्त होता है।

यह अखण्डाकार वृत्ति ही प्रपंञ्च के हेतुभूत मूल अज्ञान की निवर्तिका है। प्रपंच विलय करती हुई यह अखण्ड स्वरूपभूत ब्रह्म ज्ञान में पर्यवसित होती है एवं ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय की त्रिपुटी विशुद्ध *"ज्ञा"* में विलीन हो जाती है। "वृत्ति पर उपारूढ़ चैतन्य अथवा चैतन्य के प्रतिबिंब

से युक्त वृत्ति ही अज्ञान की निवर्तिका है।"[1] अविद्या निवृत्ति वृत्तिरूपा ही है और इस वृत्ति की निवृत्ति आत्मरूप अर्थात् साक्षी स्वरूप है। इस प्रकार वृत्ति द्वारा साक्षी का साक्षात्कार हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लौकिक ज्ञान में वृत्ति की क्या भूमिका है? अद्वैत वेदान्त में ज्ञान से ताप्पर्य न तो केवल अन्तःकरण की वृत्ति से है और न केवल साक्षी से ही, वरन् साक्षी से प्रेरित वृत्ति से है। यहाँ पर वृत्ति तत्व ज्ञान का आपातिक अंश है तथा साक्षी तत्व ज्ञान का शाश्वत तत्व है। आत्मा जब अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तो वह परिवर्तनशील दिखाई देता है। वास्तविक रूप में आत्मा परिवर्तनशील नही है, परन्तु वृत्तियों के परिवर्तन के कारण अज्ञानवश वह अपने को परिवर्तनशील समझ बैठता है। जब साक्षी को साक्षी या विषयी के रूप में अपना ज्ञान होता है, तो उसे साक्षी ज्ञान कहते है। परन्तु जब साक्षी को वृत्ति के माध्यम से बाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, तो उसे वृत्ति ज्ञान कहते है। साक्षी का ज्ञान विषयी का ज्ञान है और वृत्तिज्ञान विषय का ज्ञान है।

अन्तःकरण के वृत्ति ज्ञान के अन्य परिणाम भी होते हैं। जैसे सुख–दुख का ज्ञान। सुख–दुख का भी ज्ञान वृत्तियों के द्वारा ही होता हैं, किन्तु उसके ज्ञान में वृत्ति को बाहर नही जाना पड़ता है। सुख–दुःख का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेणी में आता है। सुख दुःख में इन्द्रिय सन्निकर्ष नही होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष आवश्यक नही है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय जन्य होता है क्योकि वहाँ पर मन को भी इन्द्रिय माना जाता है। अद्वैत वेदान्त में मन बुद्धि अन्तःकरण के ही नाम है जो उसके विभिन्न कार्यो को प्रकट करते

---

[1] *अविद्यानिवर्तकं च यद्यपि न स्वप्रकाशब्रह्मरुपज्ञानमात्रम् तस्य तत्साधकत्वात्ः तथा श्रवणादि– साध्यापरोक्षवृत्तिसमारूढं तदेव । – अद्वैत सिद्धि, पृ0 885*

हैं। अन्तःकरण में जब 'मै स्त्री हूँ' 'मैं पुरूष हूँ' 'मैं गृहस्थ हूँ' इस प्रकार की निश्चयात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है, तब उस वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।[1] अन्तःकरण की वृत्ति के दो रूप होते हैं।

(क) निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि (ख) संशयात्मिका वृत्ति–मन

आन्तरिक भावनाओं की करणभूत इन्द्रिय में अन्तःकरण में जंब 'मैं देह हूँ', 'मैं चिद्रूप हूँ' इस प्रकार की संकल्प युक्त वृत्ति उत्पन्न होती है, अथवा 'मैं पढ़ूँ या न पढ़ूँ' 'मै जाऊँ या न जाऊँ'। इस प्रकार की विकल्पात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है, तो इसे मन कहते हैं।[2] विद्यारण्य स्वामी ने भी अन्तःकरण के वृत्ति भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विमर्शात्मक वृत्ति मन है, तथा निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि है।[3]

चित्त की वृत्ति स्मरणात्मक होती है और वह निश्चात्मक भी होती है। इसीलिए बुद्धि में चित्त का अर्न्तभाव हो जाता है।[4] इसी प्रकार अहंकार भी संकल्प स्वरूप होता है अतः अहंकार का मन में अर्न्तभाव हो जाता है। इसकी पुष्टि इस प्रसिद्ध कथन से भी हो जाती है – "अन्तःकरण आन्तरिक विषयों को ग्रहण करता है, जब इसमें अनुसंधानकर्त्री वृत्ति उत्पन्न होती है तो वह चित्त कहलाती है।"[5] अन्तःकरण में जब मैं बड़ा निपुण हूँ 'मैं बहुत योग्य हूँ' इस प्रकार की गर्वात्मक वृत्ति का प्रार्दुभाव होता है, तो वह वृत्ति अहंकार कही जाती है।[6]

---

1 *बुर्द्धिनाम निश्चयात्मिकान्तःकरण वृत्तिः। वेदान्तसार 63*
2 *मनोनाम संकल्प विकल्पात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। वेदान्तसार 64*
3 *तैरन्तःकरणम् सर्ववृत्ति भेदेन तद् द्विधा। मनो विमर्शरूपम् स्यात् बुद्धिः स्यात् निश्चयात्मिका।। पंचदशी पृ0 165*
4 *अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः। वेदान्तसार 67*
5 *अनुसंधानात्मिकान्तःकरणवृत्ति चित्तम्। वेदान्तसार 68*
6 *अभिमानात्मिकान्तः करण वृत्तिः अहंकारः। वेदान्तसार 69*

वृत्ति का विषयाकार हो जाना ही प्रत्यक्ष का कारण है। अद्वैत वेदान्त का यह निश्चित सिद्धान्त है कि ज्ञान निर्विषयक नही होता है, मिथ्या ज्ञान का भी विषय होता है। जब हमें ज्ञेय विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो ज्ञेय विषय की सत्ता अवश्य होती है। यद्यपि इसके लिए आवश्यक नही है कि ज्ञेय वस्तु का इन्द्रिय से ग्रहण हों। जीव का अपना स्वयं का प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए हम 'अहं प्रत्यय' को इन्द्रियों का विषय नही कह सकते हैं। जब हम स्वप्नावस्था में होते है, तब हमारा सूक्ष्म शरीर सक्रिय हो जाता है और उसका उस समय स्थूल शरीर संयोग छूट जाता है। स्थूल शरीर निष्क्रिय रहती है। स्वप्न के समय जो हमें प्रत्यक्ष होता है, उसमें भी ज्ञेय विषय की सत्ता बनी रहती है। यद्यपि यह सत्ता प्रातिभासिक होती है। सुषुप्ति दशा में सूक्ष्म शरीर का भी साथ छूट जाता है और कारण शरीर मात्र रह जाता है। सुषुप्ति दशा में साक्षी की अज्ञान युक्त उपाधि भी समाप्त हो जाती है। सूक्ष्म शरीर का अविद्या में लय हो जाता है। इस प्रकार साक्षी चैतन्य का सूक्ष्म शरीर से सम्बंध होना ही जीव की सत्ता का कारण है।

भामती प्रस्थान के अनुसार वास्तव में शाश्वत् चैतन्य केवल एक ही है जिसे ब्रह्म कहते है किन्तु उपाधियों के भेद के कारण वह अनेक प्रकार का होता है। उदाहरण स्वरूप घटादि विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य *विषय चैतन्य* है। अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य *प्रमाण चैतन्य* है। तथा स्वयं अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य *प्रमातृ चैतन्य* कहा जाता है।[1] इस पर वादी प्रश्न करता है कि अद्वैतियों के मत में चैतन्य का प्रमाण चैतन्य और विषय चैतन्य अर्थात् प्रमेय चैतन्य आदि भेद ही कैसे संभव है? और यदि वह असम्भव है तो 'प्रमाण चैतन्य और प्रमेय चैतन्य का

---

[1] *तत्र घटाद्यवच्छिन्नं चैतन्यम् विषयचैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्य वच्छिन्न चैतन्यम् प्रमाणचैतन्यं, अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम् प्रमातृ चैतन्यं। (वेदान्त परिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेद)* ।

अभेद' ही हमारे ज्ञान में प्राप्त प्रत्यक्ष का प्रयोजक है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

अद्वैत वेदान्तियों का उत्तर है कि यद्यपि अद्वैतवाद में एक अद्वितीय चैतन्य का भेद नही किया जा सकता है तथापि आकाश के घटाकाशादि भेदो की भाँति उस अद्वितीय चैतन्य का भी भेद होना संभव है। यह भेद मात्र औपाधिक है और यह तीन प्रकार से होता है। विषय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य और प्रमातृ चैतन्य। जितने स्थल में घटादि स्थित है, उतने स्थल में वर्तमान चैतन्य का नाम विषय चैतन्य है। अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में रहने वाले चैतन्य का नाम प्रमाण चैतन्य है। ऐसे ही जितने प्रदेश में अन्तःकरण स्थित है, उस प्रदेश की वृत्ति चैतन्य प्रमातृ चैतन्य के नाम से अभिहित है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्तियों ने आकाश के घटाकाश मठाकाश आदि औपाधिक भेदों की तरह चैतन्य का विषय, अन्तःकरण वृत्ति और अन्तःकरण इन तीनो उपाधियों के कारण त्रिविध भेद होता है। इस प्रकार के उत्तर देने पर पुनः शंका उत्पन्न होती है–

अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य प्रमाण चैतन्य होता है। यह आप कैसे कह सकते हैं ? क्योकि अन्तःकरण का परिमाण अणु है। अतः 'अणु' परिमाण वाले अन्तःकरण का वृत्ति होना संभव नही है। अन्तःकरण महत् परिमाण युक्त भी नही है क्योंकि वह प्राण शक्ति का आश्रय भूत है और उसी की गति सुनी जाती है। महत् परिमाण वाले आकाशादि पदार्थों में गति नही है। अन्तःकरण को मध्यम परिमाण वाला भी नही कह सकते हैं क्योकि शरीर की भाँति यदि हम उसका मध्यम परिमाण मानते है तो शरीर की ही भाँति उसकी गति भी मन्द माननी पड़ेगी। जिसके कारण वह विषय को एक क्षण में प्रकाशित नही कर सकेगा। परन्तु वह तो हजारो कोस दूर 'ध्रुव' को भी एक क्षण में

प्रकाशित कर देता हैं। इसके अलावा यदि उसे मध्यम परिमाण वाला मानते है तो वह शरीर के भीतर रहने के कारण बाहर निकल ही नही सकेगा। अतः अन्तःकरण का परिमाण 'अणु' है और अणु परिमाण युक्त पदार्थ की वृत्ति का होना संभव नही है। इस प्रकार 'अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न' चैतन्य प्रमाण चैतन्य यह कहना ठीक नही है।

अद्वैत वेदान्ती अन्तःकरण को मध्यम परिमाण युक्त मानते हैं। उनका मत है कि यदि हम अन्तःकरण को अणु परिमाण युक्त मानते है तो इस शरीर के द्वारा जो हमें सुख इत्यादि की प्राप्ति होती है उसकी उपपत्ति नही हो सकती है। इसीलिए मन को अणु परिमाण युक्त कहना उचित नही है। इसके अलावा अन्तःकरण प्राणशक्ति का आश्रयभूत होता है और यह सुदूर ध्रुव तक तभी जा सकता है जब इसके साथ उससे अवच्छिन्न हुआ जीव जाय। जिसके परिणाम स्वरूप देह निर्जीव हो जायेगा। इसलिए अन्तःकरण का परिमाण मध्यम मानना ही उचित है।[1] अन्तःकरण की 'मध्यमपरिमाणता वृत्ति' पर *वेदान्त परिभाषा* में दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार किसी तालाब या नदी का जल जब किसी नहर या स्वाभाविक मार्ग से बहकर खेत में जाता है, तो उसी स्वाभाविक त्रिकोण या चतुष्कोणादि आकार प्राप्त कर लेता है। ठीक उसी प्रकार जल के परिमाण के तरह ही *'तैजस्'* अन्तःकरण का परिणाम होता है। अन्तःकरण सत्वगुण[2] का कार्य है। सत्व को ही 'तेज' कहते हैं क्योकि वह प्रकाशक है। तैजस विशेषण के कारण ही अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ, बिरल, तेजोद्रव्य होता है। इसीलिये सूर्य की किरण तरह वह (अन्तःकरण) फैल सकता है। शीघ्र गमन करना उसका स्वभाव ही है। इस प्रकार जल की तरह ही 'तैजस मन' इन्द्रिय छिद्रोसे बाहर निकलकर जहाँ विषय हो, वही जाता है और विषय

---

[1] *वेदान्त ज्ञान मीमांसा पृ0 32*
[2] *सात्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः । वेदान्तसार पृ0 95*

के आकार का हो जाता है।[1] इन आकारों में होने वाला परिणाम ही अन्तःकरण की वृत्ति कही जाती है। जिस प्रकार खेत के आकार में परिणत हुआ जल तालाब के जल से पृथक् नही है, उसी प्रकार विषयाकार हुआ मन 'मूल मन' से पृथक् नही है। इसलिए स्वतः विकसित हुआ मन ही वृत्ति कहलाता है। वृत्ति उसका वास्तविक परिणाम नही है।

सभी जड़ पदार्थ अज्ञान से पूरी तरह से आवृत रहते है, जिसके कारण वे स्वतः प्रकाशमान नही होते। किन्तु जब पदार्थ विषयक वृत्ति के द्वारा अज्ञान का आवरण समाप्त हो जाता है, तब वे प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार घटादि बाह्य विषय जड़ हैं, उसी प्रकार अन्तःकरण वृत्ति भी जड़ है। अतः घटादि विषय जैसे वृत्ति के द्वारा प्रकाशित होते हैं वैसे ही वृत्ति भी दूसरी अन्तःकरण वृत्ति से प्रकाशित होनी चाहिए। क्योकि यदि वृत्ति जड़ है तो वह भी घट की तरह स्वयं प्रकाशित नही हो सकती है। इसलिए उस वृत्ति के आवरण भंग हेतु, वृत्ति विषयक दूसरी वृत्ति की पुनः आवश्यकता उत्पन्न होती है क्योकि जड़ पदार्थ का जब भी आवरण समाप्त होगा वह वृत्ति के द्वारा ही होगा। किन्तु एक वृत्ति के आवरण भंग के लिए दूसरी वृत्ति के मानने पर, पुनः उसके आवरण भंग के लिए तीसरी वृत्ति मानने पर और तीसरी वृत्ति के आवरण भंग के लिए चौथी वृत्ति मानने पर अनवस्था दोष की प्राप्ति हो जाती है और यदि हम वृत्ति को ही न माने तो बिना उसके जड़ वस्तु का भान होना संभव नही है।

यद्यपि यह सच है कि ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थ जड़ हैं, तथापि उन सभी जड़ पदार्थो का स्वभाव एक समान नही है। सभी में स्वभाव वैचित्र्य अवश्य है। जैसे घट और दीप दोनो ब्रह्म से भिन्न होने के कारण जड़ है, तथापि घट के लिए प्रकाश, इन्द्रिय से सन्निकर्ष की अपेक्षा रहती

---

[1] *तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मा केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाधाकारं भवति। तथा तैजसमन्तःकरणो अपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादि विषय देशं गत्वादि विषयाकारेण परिणमते। वेदान्त परिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेद ।*

है। किन्तु दीपक के लिए प्रकाश की आवश्यकता नही होती। दीपक, घट को प्रकाशित करते हुए अपने को भी प्रकाशित करता है। ठीक उसी प्रकार अन्तःकरण की वृत्ति भी जिस विषय को प्रकाशित करने के लिए पैदा हुई हो, उसे प्रकाशित करती हुई दूसरी वृत्ति की अपेक्षा किये बिना स्वयं अपने को प्रकाशित करती है। क्योकि हमें जो जड़ पदार्थो का अनुभव होता है उसके आधार पर यह स्पष्ट है कि कुछ जड़ पदार्थो में स्वभावगत विशेषताएं अवश्य होती हैं। एक वृत्ति को प्रकाशित करने वाली दूसरी वृत्ति विषयक वृत्ति अनवस्था दोष न उत्पन्न हो जाय, इसलिए नही मानी जाती है। फिर भी इस उदाहरण में 'मैं इस घट को जानता हूँ' स्वविषयत्व है, किन्तु अव्याप्ति नही है। इस प्रकार कोई भी वृत्ति अपने से भिन्न वृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न हुए चैतन्य से प्रकाशित नही होती है। वह सदैव अपने से ही अवच्छिन्न हुए चैतन्य से प्रकाशित होती है।[1]

इसी प्रकार अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मो को प्रकाशित करने योग्य केवल साक्षि विषयत्व के होते हुए भी वृत्ति विषयत्व को स्वीकार करने पर अव्याप्ति नही होती है।[2] श्री प्रकाश मुनि ने *'अहंकार टीका'* में स्पष्ट किया है कि अहं वृत्ति से अवच्छिन्न हुआ चैतन्य ही विषय भाव को प्राप्त होता है।[3] अन्तःकरण में विषय को करने वाली अहं कारक वृत्ति होती है। इस कारण अन्तःकरण और उसके कामादि धर्मो में वृत्ति विषयत्व को स्वीकार करने पर भी केवल साक्षि विषयत्व में विरोध नही होता है। सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार बुद्धि वृत्ति का अपना विषय होता है। इसे स्वविषयवृत्ति कहा जाता है। ज्ञान स्वप्रकाशक है, इसका किसी अन्य ज्ञान

---

[1] *वेदान्त परिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेद*

[2] *एवं चातःकरण तद्धर्मादीनां केवल साक्षि विषयत्वे अपि तत्तदाकार वृत्यभ्युपगमनेन उक्तलक्षणस्य तमापि सत्वान्नाव्याप्तिः। वेदान्त परिभाषा – प्रत्यक्ष परिच्छेद ।*

[3] *अहं वृत्यवच्छिन्नमेव अन्तःकरणं चैतन्यस्य विषयभावमापद्यते। अहंकार टीका, प्रथम वर्णक।*

से ज्ञान नही होता है। बुद्धिवृत्ति में केवल साक्षिवेद्यत्व होता है।[1] राधाकृष्णन के शब्दों में ज्ञान का ज्ञान नामक कोई वस्तु नही होती, क्योकि समस्त ज्ञान स्वयं प्रकाश होता है। ज्ञान की प्रक्रिया तथा इसके उपरान्त होने वाले ज्ञान के मध्य कोई भी मानसिक वृत्ति नही होती। ज्ञान का अपरोक्ष एवं साक्षात् अनुभव होता है। मानसिक वृत्ति की प्रतीति में अपरोक्षतः केवल साक्षिवेद्यत्व होता है।[2] अन्तःकरण और उसके धर्म केवल साक्षी के विषय हैं। उनके प्रत्यक्ष में किसी इन्द्रिय की जरूरत नही पड़ती है। स्वयं अंतःकरण जिसका व्यापार विशेष के कारण मन भी एक नाम है, इन्द्रिय नही है। जब कोई भी विषय किसी इन्द्रिय अथवा अनुमान आदि प्रमाण के व्यापार के बिना ही साक्षी का विषय होता है, तो वह केवल साक्षी द्वारा वेद्य या ज्ञेय होता है। अहं के आकार वाल अन्तःकरण की वृत्ति भी होती है। इस वृत्ति के द्वारा ही साक्षी अहंकारास्पद जीव का प्रत्यक्ष करता है।

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता -

यह ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से ज्ञान की उस अवस्था की खोज है, जहाँ ज्ञान का सत् उसके अर्न्तवस्तु के रूप में प्राप्त होता है और उसके स्वरूप की भावपरकता स्वतः प्रमाणित होती है। तत्वमीमांसीय दृष्टि से यह ज्ञान में आचरित एक ऐसा सन्दर्भ है, जो हमें बाह्य संसार के बंधन से सर्वथा मुक्त ही नहीं करता बल्कि उसकी आद्यनियामकता स्वयं ज्ञान में है, इसे अनिवार्य तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में तात्विक स्थिति प्रदान करता है।

भारतीय दर्शन में "ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" एवं उसकी तात्विक परिणति के विषय में पर्याप्त मतवैभिन्न्य है। यह मतवैभिन्न्य अन्ततः चेतना के स्वरूप विषयक मतभेद में परिलक्षित या पर्यवसित होता है। क्या

---

[1] *संक्षप शारीरक टीका ।*
[2] *भारतीय दर्शन भाग 2 पृ0 500*

"ज्ञान की स्वयंप्रकाशता" या "स्वसंवित्ति" इस विषयक मतभेद को एक निश्चित दिशा प्रदान कर सकती है, या यह स्वयं चेतना के तात्विक स्वरूप विषयक मतभेद की पृष्ठभूमि में अपनी संज्ञानात्मक भूमिका को प्राप्त करती है? वस्तुतः सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्विक पृष्ठभूमि होती है। हम इसी से प्रारम्भ करते हैं और अन्ततः हमें इसी में लौटना होता है। यदि मनुष्य इस संसार का अंग है या यह संसार स्वयं मानव मन की प्रागनुभविक संरचना है, तो दोनों ही स्थितियों में मानवीय संज्ञानात्मक प्रक्रिया में जाने-अनजाने तात्विक पूर्व कल्पना का पूर्वगामी होना "संसार में मनुष्य" होने की बाध्यता है। यह बाध्यता किसी विशेष तत्वमीमांसा का उद्घाटक है या तत्वमीमांसा सामान्य ही उपर्युक्त बाध्यता से विवक्षित है? ऐसे प्रश्न दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में अद्यतन विवादास्पद रहे हैं। तथापि, किसी भी दर्शन की ज्ञानमीमांसीय भूमि पर कुछ ऐसे सन्दर्भों को अवश्य प्राप्त होना चाहिए जो उस दर्शन की तत्वमीमांसा से संवाद या संसक्तता रखते हों। ऐसे संवाद या संसक्तता के अभाव में किसी दार्शनिक की वैचारिक योजना में स्ववचन व्याघात, स्व ज्ञान व्याघात और स्वक्रिया व्याघात[1] की सम्भावना सदैव बनी रहेगी। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति ज्ञान में आचरित एक ऐसा ही सन्दर्भ है। यह चेतना के किस तात्विक स्थिति को प्रस्तावित करता है, या इसकी तात्विक परिणति ज्ञानमीमांसा का अतार्किक विस्तार है अथवा जिसे हम तात्विक परिणति समझते हैं वह मात्र "लॉजिकल प्रीसपोजिशन् ऑफ नॉलेज" है?

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान को स्वयं प्रकाश माना गया है, क्योकि ज्ञान के ज्ञान को मानना नितान्त अविवेकपूर्ण लगता है। हम ज्ञान को ज्ञान के लिए विषय रूप में भी नही स्वीकार कर सकते हैं क्योकि विषय का स्वभाव अचेतन होता है। वैसे विषय और विषयी के स्वरूपों में भी

---

[1] *उदयन* – आत्मतत्तवविवेक-सं. और अनु.पं. केदारनाथ त्रिपाठी, पृ0 223-224

विभिन्नता बनी रहती है। विषय होना ज्ञान के स्वभाव के विपरीत है। ज्ञान कभी भी विषय के गुण को ग्रहण नही कर सकता है और विषय कभी भी विषयी नही हो सकता है। ज्ञान स्वभावतः चेतन होता है अतः उसका विषय बनना असंभव है और इसीलिए उसका स्वतः प्रकाशी होना आवश्यक है।

ज्ञान का स्वप्रकाशत्व

ज्ञान का स्वप्रकाशी होता हैं। इसका तात्पर्य हैं कि जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है, उस समय ज्ञान की क्रिया और वस्तु का ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई भी मध्यवर्ती मानसिक स्थिति नही होती है, ज्ञान की अनुभूति सीधे तौर पर अपरोक्ष रूप में बौद्धिक अनुभूति होती है। दूसरे विकल्प के रूप में यदि हम यह मानते है कि किसी भी वस्तु 'क' का ज्ञान दूसरे ज्ञान 'ख' के माध्यम से होता है, तो फिर 'ख' के ज्ञान हेतु 'ग' को मानना पड़ेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अतः चेतना के लिए स्वप्रकाश का सिद्धान्त ही परम सिद्धान्त है, इसलिए स्वयं के प्रकाशन में किसी अन्य माध्यम या किसी अन्य सिद्धान्त को मानना उपयुक्त नही है। वह प्रकाश जो स्वयं प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता है, स्वाभाविक रूप से यह ध्रुव सत्य है कि उसके प्रकाशन के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नही हो सकती है।

श्लोकवार्तिक में श्री हर्ष ने भी यह स्वीकार किया है कि चेतना के स्वप्रकाशत्व के संबंध दो प्रमुख आधार है, जिसके कारण इसे स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता हैं।

प्रथम – चेतना के संबंध में स्वप्रकाशत्व के अतिरिक्त अन्य किसी भी दृष्टिकोण से यदि ज्ञान के स्वरूप की व्याख्या की जाती है, तो वह दृष्टिकोण न तो आलोचना के समक्ष सही ठहरता है और न ही ज्ञान के तथ्य की पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत करने में समर्थ हो पाता है। अतः अन्यथानुपपत्ति की युक्ति से ज्ञान के स्वप्रकाशत्व की ही सिद्धि होती है।

द्वितीय – श्री हर्ष ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के मध्य भेद को नही मानते है। उनका मत है कि ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के मध्य सामान्य विभेद स्वीकार करना, वास्तव में ज्ञान के स्वज्ञान के विपरीत की स्थिति में ला देता है, जो कि सत्य नही है, क्योकि पारमार्थिक रूप से ज्ञाता और ज्ञेय, अथवा ज्ञान और ज्ञेय के मध्य कोई विभेद नही है। हमें इस दृष्टिकोण का परित्याग कर देना है कि ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है। ऐसा न करने पर "मैं जानता हूँ" का बोध, ज्ञान के ज्ञेय विषय होने पर भी संभव नही हो सकता है।

चित्सुखाचार्य ने *तत्व प्रदीपिका* स्वप्रकाशत्व की समस्या पर विचार किया है, उनका यह कहना है कि यदि ज्ञान स्वप्रकाशक न होता, तो हमारे सांसारिक जीवन की कोई भी व्यावहारिक क्रिया संभव नही हो सकती है, क्योकि हमारा सम्पूर्ण व्यवहार इस विश्वास पर टिका हुआ है कि जिसका हमें बोध होता है उसी का ज्ञान भी होता है। दोनों में कोई विरोध नही है। इस प्रकार ज्ञान या चेतना के विश्लेषण से एक नित्य कूटस्थ साक्षी स्वरूप चैतन्य तत्व की सत्ता को स्वीकार किये बिना हमारे ज्ञान या अनुभव की व्याख्या नही हो सकती है। हमारा सम्पूर्ण अनुभव एक स्वयं प्रकाश चेतन तत्व की अपेक्षा रखता है।

स्वयंप्रकाश ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका का समारम्भ इस सामान्य प्रश्न से होता है कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञान से प्रकाशित है। ज्ञान प्रकाश–मौलिक है। यह "प्रकाशों का प्रकाश" स्वयंप्रकाश है। इसे ज्ञात होने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं। इसलिये प्रत्येक ज्ञान का स्वज्ञान होना या प्रत्येक चेतना का स्वचेतन होना परिनिष्ठित है। यद्यपि ज्ञान को ज्ञात होना चाहिए, इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिकों की सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, तथापि यह कैसे होता है इसके बारे में दार्शनिकों के मध्य पारस्परिक मतभेद है। भारतीय दर्शन में इतिविषयक नैयायिकों को

"अनुव्यवसायवाद", मीमांसकों का "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" और "त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद", बौद्धों का "स्वसंवेदनवाद" या "विज्ञानस्वयंप्रकाशतावाद" एवं वेदान्तियों का "आत्म स्वयंप्रकाशतावाद" अतिप्रसिद्ध है। उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की सम्यक् व्याख्या यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी इनका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किये बिना अद्वैत-वेदान्त में साक्षी के स्वप्रकाशत्व का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता है।

अनुव्यवसायवाद

अनुव्यवसायवादी न्याय वैशेषिक दार्शनिक ज्ञान या चेतना को स्वप्रकाश नही मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान पर-प्रकाशक होता है। ज्ञान स्वभावतः अर्थ विषयक होता है तथा ज्ञान का कार्य अपने अतिरिक्त अन्य पदार्थो का प्रकाशन करना है।[1] जब हमें घट, पट आदि किसी वस्तु का ज्ञान होता है, तो पहले तो सिर्फ 'अयं घटः' इस रूप में वस्तु का ज्ञान होता है। इसके बाद यह घट ज्ञान रूपी ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय द्वारा होता है, जब हमें ज्ञान होता है तब उसी समय ज्ञान प्रकाशित नही होता है। अगले क्षण जब हम अपने ज्ञान का स्मरण करते हैं तो उस समय अनुव्यवसाय द्वारा ही उसका ग्रहण होता है। इस प्रकार घट ज्ञान रूप व्यवसाय से युक्त ज्ञान को अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष से जाना जाता है, जिसका स्वरूप 'अहं घटं जानामि' इस प्रकार का हो जाता है। यह वाद में होने वाला ज्ञान जिसे अनुव्यवसाय कहते है, वह व्यवसाय विषयक होता है। पुनः वस्तु के विषय में जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है, वह इसी से प्रकाशित होता है। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों के अनुससार ज्ञान स्वप्रकाश न होकर पर प्रकाश होता है तथा वह अनुव्यवसाय द्वारा ग्रहण होता है। वस्तु का ज्ञान और स्वयं ज्ञान का ज्ञान ये वस्तुतः दो है। जब

---

[1] *अर्थप्रकाशत्वमैवखलूपलम्भः।*
जयन्त भट्ट, न्यायमंजरी (तृतीय भाग) पृ0 5

ज्ञाता का विषय से सम्पर्क होता है, तो सर्वप्रथम वस्तु का ज्ञान होता है और उसके तुरन्त बाद इस ज्ञान का (जिसे कि नैयायिक व्यवसाय कहते है) ज्ञान दूसरे ज्ञान अनुव्यवसाय से होता है। यह अनुव्यवसाय व्यवसाय के तुरन्त बाद होता है अर्थात् वस्तु के ज्ञान के होते ही तुरन्त उस ज्ञान का भी ज्ञान हो जाता है। ये दोनो ज्ञान एक के बाद दूसरा अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक एवं स्वाभाविक रूप में हो जाता है कि ऐसा लगता है। जैसा कि स्वयं प्रभाकर समझ बैठते हैं कि यह एक ही ज्ञान है। परन्तु वस्तु का ज्ञान और उस ज्ञान का ज्ञान अर्थात् व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनो अलग-अलग ज्ञान हैं। ये दोनो ज्ञान एक दूसरे से भिन्न है। ये दोनो इतने झटित रूप से एक के बाद एक होते हैं कि लगता है ये दोनो एक ही ज्ञान हैं तथा ज्ञान केवल विषय को ही नही प्रकाशित कर रहा है, बल्कि स्वयं को भी प्रकाशित कर रहा है। परन्तु वस्तुतः विषय को व्यवसाय प्रकाशित करता है और उसके ज्ञान को अनुव्यवसाय प्रकाशित करता है। सामान्यतः हर ज्ञान का अनुव्यवसाय द्वारा ग्रहण होता है परन्तु यह अनिवार्य नही है कि प्रत्येक ज्ञान का ज्ञान हो।[1] नैयायिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि कई एक स्थितियों में यह संभव हो सकता है कि कोई ज्ञान उत्पन्न हो पर प्रतिकूल प्रतिबंधो के चलते उसका ग्रहण न होने पाये।

न्याय के इस अनुव्यवसायवाद की बौद्ध दार्शनिकों ने विस्तृत आलोचना की। ज्ञान का ज्ञान स्वतः न मानकर यदि अनुव्यवसाय रूप दूसरे ज्ञान से मानते हैं तो सहज ही यह आपत्ति उठती है कि अनुव्यवसाय स्वयं ज्ञान है, अतः इसके ज्ञान के लिए भी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होगी, अर्थात् ज्ञान का ज्ञान यदि दूसरे ज्ञान से माना जाये,

---

[1] *वित्तेरवश्यवेद्यत्वाभावेनानवस्था विगमात्।*
गंगेश तत्वाचिंतामणि, प्रत्यक्ष खण्ड, पृ0 798

तो फिर उस दूसरे ज्ञान के ज्ञान के लिए तीसरे और फिर उसके लिए चौथे की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। पुनः यदि ज्ञान की ज्ञान के लिए ज्ञानान्तर की कल्पना की जाये तो इसका अर्थ होगा कि ज्ञान अज्ञात है और अज्ञात ज्ञान वदतो व्याघात है। यदि ज्ञान को भी अन्य वस्तुओं की भाँति अप्रकाशरूप मान लिया जाय और वह भी ज्ञेय हो, तो फिर ज्ञान और अन्य वस्तुओं में अंतर नही रह जायगा। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञेय जगत को प्रकाशित करने वाला स्वयं ज्ञान यदि जड़ वस्तुओं की तरह अपने प्रकाश के लिए अन्य पर आश्रित होगा, तो फिर इस जगत में कुछ भी प्रकाशित नही होगा। जगत घोर अंधकार में लीन हो जायेगा और जगदान्ध प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

वस्तुतः नैयायिकों के मत में जो सर्वाधिक विवादास्पद है, वह यह है कि वे इस बात की सम्भावना को स्वीकार करते है कि 'क' को कोई ज्ञान हो और स्वयं 'क' इससे ज्ञान से अनजान रहे। अब यही व्याघाती स्थिति स्वप्रकाशवादियों के लिए सबसे बड़ा तर्क का रूप ले लेती है। बौद्ध दार्शनिक प्रश्न करते हैं कि यदि ज्ञान स्वयं ज्ञात नही हो तो वह अर्थ का प्रकाशन कैसे कर सकता है? अप्रत्यक्षभूत विज्ञान के द्वारा अर्थ का ज्ञान नही हों सकता है।[1] यदि अनुभव स्वयं अप्रकाशित हो या अप्रकट हो अर्थात् छिपा हो, तो भला विषय का प्रकाशन कैसे कर पायेगा? किसी भी वस्तु के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि उस ज्ञान का भी ज्ञान हो। बौद्धों का कहना है कि वास्तविक स्थिति यह है ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा होता हे कि वह केवल अर्थ को ही नही प्रकाशित करता है बल्कि स्वयं को भी प्रकाशित करता है। इसीलिए दिङ्.नाग *प्रमाण समुच्चय* में कहते है कि

---

[1] *अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति । धर्मकीर्ति के प्रमाणविनिश्चय की यह पंक्ति बौद्ध और बौद्धेत्तर परम्पराओं में उद्धरित होती है। न्यायभूषण, स0 स्वामीयोगीन्द्रानन्द, षडदर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी 1968 पृ0 133*

प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप में अर्थाभास और स्वाभास लिए होता है।[1] प्रत्येक ज्ञान के दो पक्ष होते हैं – विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना। वास्तव में सारे के सारे अनुभवों में यह समानता होती है कि वे स्वयं अपना मानस प्रत्यक्ष होते हैं। चित्त की कोई भी ऐसी अवस्था नही है, जिसका स्व-सम्वेदन प्रत्यक्ष न हो। सभी चित्त और चैत्तो का आत्म सम्वेदन होता है।[2] हमें जब भी किसी चीज का ज्ञान होता है, तो उस ज्ञान का भी ज्ञान होता है। जिस प्रकार दीपक प्रकाश स्वरूप होने के कारण अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अपने प्रकाशन के लिए अन्य दीपक की अपेक्षा नही रखता हे उसी प्रकार विज्ञान स्वयं अपना सम्बेदन करता है तथा अपने को जानने के लिए विज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य की अपेक्षा नही रखता हैं।

स्वसम्वेदनवाद –

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम विज्ञानवादी बौद्धों ने स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की संज्ञानात्मक भूमिका को उद्घाटित करने के लिए कुछ प्रबल तर्को को उपस्थापित किया है। प्रत्यक्ष विषयक सौत्रान्तिक अवधारणा की अव्याख्येयता और माध्यमिकों द्वारा चित्तमात्रतावाद के विरूद्ध उपस्थापित *"न हि चित्तं चित्तं पश्यति"*[3] का विप्रतिषेध ही वह कारण है, जिसके फलस्वरूप विज्ञानवादी बौद्धों ने दृढ़ता के साथ ज्ञान की स्वयंप्रकाशता को प्रस्तावित किया। इसे बौद्ध अपनी शब्दावली में "स्वसंवेदन" या "स्वसंवित्ति" कहते हैं। प्रायः सभी परवर्ती बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिक इसी का अनुगमन करते हुए प्रतीत होते हैं। स्वसंवित् ज्ञान के पक्ष में बौद्धों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क सम्पूर्ण ज्ञान

---

[1] *एम0 हट्टोरी, दिङ्.नाग आन परशेप्सन, कैम्ब्रिज, हार्वड यूनिवर्सिटी प्रेस 1968 पृ0 29-30*

[2] *सर्वचित्तचैत्तानायात्मसम्वेदनम्। धर्मकीर्ति न्याय बिन्दु 1/10*

[3] *उक्तं च लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति। – शान्तिदेव – बोधिचर्यावतार, 9.17*

की संरचना को ही प्रभावित करते हैं। यदि ज्ञान को स्वसंवित् न माना जाय तो ज्ञाता-ज्ञेय के ढाँचे में ज्ञेय की ज्ञानात्मक उपलब्धि सम्भव ही नहीं होगी। यह एक सार्वजनीन तथ्य है कि वह ज्ञान जिसके द्वारा किसी विषय की ज्ञेयोपलब्धि होती है, वह विषय की चेतना और उस चेतना की चेतना के द्वैविध्य में बँटा होता है। इसके लिए बौद्ध ग्रंथों में ग्राह्यकार-ग्राहकाकार, स्वाभास-अर्थाभास, ज्ञानाकार-अर्थाकार जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। इस दूसरे पक्ष के द्वारा न केवल विषयाकार चेतना होती है बल्कि विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना के ग्राहक रूप में स्वग्रहण भी होता है। यदि ऐसा स्वीकार न करते हुए यह स्वीकार किया जाय कि प्रत्येक ज्ञान का केवल एक ही पक्ष होता है, अर्थात वह अर्थावकार होता है या तो स्वाकार होता है, तब तो विषय की चेतना और विषय सारूप्य विशिष्ट चेतना की चेतना का भेद ही समाप्त हो जाने से ज्ञाता ज्ञेय का ज्ञान ढाँचा ही असंभव होगा और विषय की ज्ञात ज्ञेयोपलब्धि ही अनुपपन्न होगी। अतः प्रत्येक चेतना का द्वयपक्षात्मक होना ज्ञान की “स्वयंप्रकाशता” या “स्वसंवित्ति” को सिद्ध करता है।[1]

वस्तुतः चित्त की कोई ऐसी अवस्था नहीं है, जिसका स्वसंदेन प्रत्यक्ष न होता हो। सभी चित्त और चैत्तों की आत्मसंवित्ति अनुभव सिद्ध है।[2] यह विज्ञानवादी बौद्धों की वैचारिक योजना की दोषपूर्ण गौरव दृष्टि न होकर एक अपरिहार्य तथ्य है। चित्त वस्तुमात्र का ग्राहक होता है और चैत्त विशेष अवस्थाओं के ग्राहक होते हैं। बौद्ध शब्दावली में सुख-दुःखादि की वेदना कहे जाते हैं। सुखादि के स्फुट होने के कारण उनका स्वसंवेदन असंन्दिग्ध है। रूप आदि वस्तु दिखने पर उसी समय आन्तरिक सुखादि आकृति का संवेदन होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि नीलादि

---

[1] *एम0 हट्टोरी – दिग्नाग ऑन परसेप्सन, पृ0 229-30*

[2] *धर्मकीर्ति – न्या0बि0, 1.10, सर्वचित्त चैत्तानामात्मसंवदेनम्*

रूपाकृति का ग्रहण ही सौम्य रूप में होता है। क्योंकि, नीलादि रूपाकृति का ही सुख रूप से ग्रहण हो रहा है, ऐसा तद्विषयक निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होने से ही नीलादि को सौख्य रूप कहा जा सकता है। जिस रूप का प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार होता है, विकल्प उसी का अनुगमन करते हुए निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न करते हैं।[1] इस प्रकार उस रूप का प्रत्यक्ष व्यवहार होता है। नीलादि रूपाकृति का इस प्रकार निश्चय नहीं होता है। अतएव "यह नील है" के अनुभव काल में ही सुख-दुःख का अनुभव नीलादि वस्तुओं से भिन्न रूप में होता है। सुख-दुःखादि चैत्य वस्तुतः ज्ञान रूप है। ऐसे अनुभवों में किसी को यह संदेह नहीं होता कि उसे सुख का अनुभव हो रहा है या नहीं। इसलिए सुख-दुःखादि के अनुभव स्वसंवित् होते हैं।

इसके अतिरिक्त स्मृति एक ऐसा दृष्टान्त है जो स्वसंवित् अनुभव को सिद्ध करता है। स्मृति में केवल पूर्वानुभूत विषय की ही स्मृति नही होती, बल्कि पूर्वअनुभूत विषय की अनुभूति अनुभूत होती है। यदि ऐसा न स्वीकार किया जाय तो स्मृति ही असम्भव होगी और लोकव्यवहार अवरूद्ध हो जायेगा। चूँकि स्मृति स्थल पर पूर्व अनुभूत वस्तु की अनुपलब्धि होती है, इसलिए पूर्वानुभूत अनुभूति स्वसंवित् होकर ही स्मृति का सम्पादन करती है।[2]

इस प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध विभिन्न तर्कों के आधार पर ज्ञान की स्वसंवित्ति को सिद्ध करते हैं। वस्तुतः अनुभव प्रकाश के अभाव में समस्त संसार अन्धत्व की अवस्था में परिणत हो जायेगा। यदि संसार ज्ञान से

---

[1], *यस्मिन् रूपे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तत् प्रत्यक्षम्। न च नीलस्य सतादिरूपत्वमनुगम्यते। धर्मोत्तर – न्या0 बि0टी0 1.10*

[2], *स्मृतेरप्यात्मवित् सिद्धा ज्ञानस्याः अन्य वेदने। धर्मकीर्ति – प्रमा0 वा0 2.485*

प्रकाशित होता है तो ज्ञान का स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् होना अपरिहार्य है, चेतना की प्रकृति ही ऐसी है कि उसका स्वरूप उसके उपादानों से आवृत्त नहीं होता। जड़ वस्तुयें अपने उपादानों से ही स्वरूपतया आवृत्त होती हैं। इसलिए जड़ वस्तुओं को प्रकाशक की आवश्यकता है। चेतना के साथ ऐसी बात नहीं। चेतना विषयों से सम्बद्ध होकर उन्हें प्रकाशित करने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करती है। विषय सम्बद्ध स्थिति में चेतना पर-प्रकाशक नहीं होती लेकिन चेतना की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का अत्यन्तभाव नहीं होता है।

लिंगानुमेयवाद एवं त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद -

कुमारिल का मत है कि ज्ञान अपनी प्रकृति में स्वप्रकाश नहीं बल्कि सदैव पर प्रकाशक होता है। अपने प्रकाश के लिए ज्ञान एक परवर्ती क्रिया की अपेक्षा करता है। कुमारिल का पक्ष यह है कि "ज्ञान" एक क्रिया है। जिस प्रकार पाकज क्रिया के द्वारा भोज्य पदार्थो में "पाक" उत्पन्न होता है, उसी प्रकार जब हम घट नामक पदार्थ को देखते हैं और "यह घट है" के रूप में उसका व्यवहार करते हैं, तो घट नामक पदार्थ में "ज्ञातता" नामक एक अतिरिक्त धर्म उत्पन्न होता है। घट ज्ञान से पैदा होने वाली ज्ञातता केवल घट में ही होती है, पट में नही। इसलिए घट ज्ञान का विषय केवल घट ही होता है। यह ज्ञातता घट के आदि और अन्त में नहीं होती, बल्कि उसकी प्रतीति उस समय होती है जब हम "ज्ञातोमयाघटः" का व्यवहार करते हैं। "ज्ञातता" ही किसी विषय की परिच्छेदित विषयता को नियत करती है। यह ज्ञातता-रूप धर्म अपने कारण के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतएव "ज्ञातता अन्यथा अनुपपत्ति प्रसूत अर्थापत्ति"

से ज्ञातता की प्रतीति अनुगृहीत होती है। स्वसंवित् ज्ञान के बदले यही कुमारिल का "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" है, जिससे ज्ञान का ज्ञान होता है।[1]

शास्त्र दीपिका में इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार का भेद दो बाह्य पदार्थो के मध्य होता है, उसी प्रकार का भेद ज्ञान और ज्ञेय में विवक्षित नहीं है, ज्ञान और ज्ञेय का भेद केवल संगति का अभाव मात्र है।[2] इसलिए ज्ञान प्रसंग में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के पार्थक्य की व्यवस्था हम इसे आरोपित मान कर भी कर सकते हैं। वस्तुतः ज्ञान में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव कल्पित ही है। बोध की बोधरूपता से उत्पत्ति ही उसकी स्वसंवित्ति कहलाती है।[3] शान्तरक्षित कुमारिल को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि ज्ञान स्वयं क्रिया न होकर क्रियाफल है। यह सदैव जड़रूपों से अपनी पृथकता को ज्ञापित करते हुए अभिव्यक्त होता है। ज्ञान अचेतन होकर अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार से नहीं कर सकता। इसलिए यह स्वयंचेतन ही है।[4] पुनः ज्ञान को स्वसंवित् मानने से अपने आप में कर्ता और कर्म होने का विरोध नहीं है। क्योंकि संवेदन रूप व्यापार विज्ञान स्वरूप से भिन्न नहीं है।[5] स्वसंवित्ति का वास्तविक तात्पर्य न समझने के कारण ऐसा विरोध ऊपरी तौर पर परिलक्षित होता है। वस्तुतः विज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नही करता, फिर भी वह अप्रकाशित नहीं होता है।[6] यही स्वसंवित्ति की

---

[1] *पार्थसारथी मिश्र – शास्त्रदीपिका, पृ0 157-161*

[2] *प्रज्ञाकर गुप्त – प्रमाणवार्तिक भाष्य – प्रत्य0 परि0 2- तुरंगस्य न भेदेऽस्ति गवादेरूपभिन्नता।*

[3] *न्यायबिन्दुप्रकरणम् – सम्पा0स्वा0 द्वारिका दास शास्त्री, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला, पृ0 37-38- बोधस्य तु बोध रूपतयोत्पत्तिरेव स्वप्रकाशकत्वम्*

[4] *शान्तरक्षित – तत्वसं0 1919- विज्ञानं जड़रूपेभ्यो व्यावृत्तमुपजायते। इयमेवात्मसंवित्तिरस्य याऽजड़रूपता।।*

[5] *वहीं 2016 – ननु चार्थस्य संवित्तिर्ज्ञानमेवाभिधीयते। तस्यां तदात्मभूतायां को व्यापाराऽपरो भवेत्।।*

[6] *वही 2011- स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविदः।।*

स्वरूपस्थिति है। इतने पर भी यदि प्रतिपक्षी विरूद्ध धारणा रखते हैं तो स्वसंवित्ति के लिए स्वभाव हेतु पूर्वक अनुमान प्रमाण को प्रयुक्त करते हुए कहा जा सकता है कि जिसका प्रकट होना जिसके अधीन होता है, वह उसके प्रकट होने से ही प्रकट होता है। यथा–दण्डी, जिसका ज्ञान दण्ड के अधीन है। इसी प्रकार रूपादि विषयों का प्राकट्य ज्ञान के प्रकट होने पर निर्भर है। इस अनुमान का इन्द्रियों में व्यभिचार दिखाते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों को अभिव्यक्ति प्रदान करते हुए स्वयं अनभिव्यक्त ही रहती हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूपादि विषयों को प्रकाशित करते हुए स्वयं अप्रकाशित ही होता है। वास्तव में ऐसा व्यभिचार प्रदर्शन उपमावैदृश्य के कारण अनुचित है। अन्त में कुमारिल की यह उपस्थापना कि प्रतिबन्धकाभाव के कारण उत्पत्ति क्षण में ही ज्ञान ग्रहण की बात निरर्थक है, क्योंकि उत्पत्ति काल में ज्ञान ग्रहण विशिष्ट कारणों के अभाव से ही प्रतिरूद्ध होता है – अनुचित है। यह आक्षेप निराकार ज्ञानवाद के संदर्भ में सही है, लेकिन साकार ज्ञानवाद के संदर्भ में यह अनुपपन्न है।[1] साकार ज्ञानवाद विज्ञानवादी बौद्धों का सिद्धान्त पक्ष है। साकारज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि विज्ञान अपने में अन्तर्निहित विषयाकारों को लिए हुए ही उत्पन्न होता है। इसलिए ग्रहण–विशिष्ट कारणों का अभाव भी नहीं होता और वे सप्रतिबन्धक स्वरूप भी नहीं होते हैं।

यदि कुमारिल के स्वपक्ष पर विचार किया जाय तो उनका "ज्ञाततालिंगानुमेयवाद" भी कतिपय दोषों से ग्रसित है। प्रथमतः अनवस्था दोष की उद्भावना करते हुए कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान क्रिया विषय में "ज्ञातता" नामक धर्म उत्पन्न करती है और जब ज्ञान स्वयं

---

[1] *वहीं – 2019 न हि तत्र परस्यास्ति प्रत्यासत्तिर्निबन्धनम्। यथा साकारविज्ञानपक्षेऽर्थप्रतिबिम्बकम्।।*

परवर्ती क्रिया के द्वारा अनुगृहीत होता है, तो कुमारिल ज्ञान में “ज्ञातता” की उत्पत्ति क्यों नही स्वीकार करते है? काव्यप्रकाशकार की इतिविषयक टिप्पणी उचित प्रतीत होती है कि नैयायिकों और मीमांसकों में केवल इतना ही अन्तर है कि एक आत्मा में तो दूसरा विषय में “ज्ञातता” की उत्पत्ति को स्वीकार करता है। इसलिए एक के लिए ज्ञान का ग्रहण परवर्ती मानस प्रत्यक्ष से होता है, तो दूसरे में ज्ञान का ग्रहण अनुमानपूर्वक होता है। द्वितीयतः कुमारिल द्वारा स्वतःप्रामाण्यवाद का समर्थन और ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति का खण्डन परस्पर विरोधी आग्रह प्रतीत होता है। ये दोनों बातें एक साथ स्वीकार नहीं की जा सकती। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता ज्ञाननिष्ठ स्वतः प्रमाणता का पूर्वापेक्षी है। यदि इनमें तादात्म्य नहीं तो भी ये परस्पर उपकारी अवश्य हैं। स्वतःप्रमाणत्व कुछ और हो सकता है, लेकिन स्वतः ज्ञानत्व उसमें अवश्य होना चाहिए। जिस प्रकार किस वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसकी प्रमाणता पर कोई संदेह नही करता कि उसे उस वस्तु का प्रत्यक्ष हुआ या नहीं, उसी प्रकार ज्ञान के संदर्भ में भी किसी को यह संदेह नही होता कि उसे ज्ञान हुआ या नहीं। जिस प्रकार स्वतः प्रामाण्य का इतना ही मतलब है कि ज्ञान अपनी प्रमाणता के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता है, उसी प्रकार स्वसंवित् ज्ञान का भी इतना ही मतलब है कि वह अपने प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है। जिस प्रकार परतः प्रामाण्यवाद में अनवस्था दिखाई जाती है, उसी प्रकार परतः प्रकाश में भी अनवस्था आसन्न होती है। वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य को स्वयंज्ञात होना चाहिए। एक ओर अज्ञातप्रमाणता की बात निरर्थक है, तो किसी परवर्ती क्रिया के अधीन उसकी स्थापना नहीं हो सकती है। इसलिए ज्ञाननिष्ठ स्वतः प्रमाणता और स्वसंवित्ति एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् परस्परपूरक सिद्धान्त हैं। यहाँ

यह विचारणीय हो जाता है कि क्या जो लोग ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति को स्वीकार करते हैं, उनके लिए स्वतःप्रमाण्यवाद को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में इस निष्कर्ष का सामान्यीकरण नही किया जा सकता, तथापि कहा जा सकता है कि यह इस बात पर निर्भर करता है कि किस दर्शन में प्रामाण्य ज्ञान का क्या निकर्ष अपनाया गया है। बौद्धों और वेदान्तियों ने अन्ततः "प्रमाण्यं व्यवहारेण" का ही निष्कर्ष स्वीकार किया है। इसलिए "प्रवृत्तिसाफल्य" को प्रमाणता का निष्कर्ष स्वीकार कर वे ज्ञान को स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् मानते हुए भी व्यवहारत्वेन प्रामाण्य को व्याख्या कर सकते हैं। जहाँ तक प्रवृत्ति-साफल्य से परे और पृथक् स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् ज्ञान की प्रामाणता का प्रश्न है तो वह स्वनिष्ठ ही है। अतएव ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता जैसा कि कुमारिल स्वीकार करते हैं, तो स्वसंवित्ति उनके लिए पूर्वपेक्षित है। वस्तुतः यह कुमारिल का वेदों के प्रति अतिशय अनुराग और बौद्धों के प्रति अतिशय द्वेष ही है, जिसके चलते वे इस अन्तर्विरोध में पड़ जाते हैं। शायद इसी अन्तर्विरोध को मद्देनजर रखते हुए प्रभाकर ने ज्ञाननिष्ठ प्रमाणता के लिए स्वसंवित्ति की उपयुक्तता और उसके विज्ञानवादी निष्पत्ति के मध्य अपने "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" का प्रतिपादन किया है। प्रभाकर ने स्वसंवित्ति के तत्वमीमांसीय लंगर को काटते हुए यह स्वीकार किया है कि विषय और विषयी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, जो समान रूप से विषय को विषयी के लिए प्रकाशित करता है।[1] प्रभाकर का "त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद" ज्ञान की स्वयंप्रकाशता विषयक अ-तत्वमीमांसीय सिद्धांत के रूप में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

---

[1] *शालिकनाथ – प्रकरणपंचिका – का0हि0वि0वि0 पृ0 168 सर्वत्र प्रमातृ प्रमिति प्रमेयेषु त्रिषु संविदेकैव।*

साक्षी

स्वयं प्रकाशतावाद के सन्दर्भ में इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का यह कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है कि यदि स्वयंप्रकाश ज्ञान को नित्य, साक्षी, सर्वात्मा, ब्रह्मस्वरूप माना जाय तो अद्वैत वेदान्त सिद्ध होता है और क्षणिक माना जाय तो क्षणिक विज्ञानवाद सिद्ध होता है।[1] शंकराचार्य की दृष्टि में नैयायिक और बौद्ध दोनों ही ज्ञान को वेद्य मानते हैं। यद्यपि ज्ञान की वेद्यता की प्रक्रिय दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न है तथापि ज्ञान चाहे स्वविषयक हो या परविषयक हो, दोनों ही स्थितियों में "विषयता" का समावेश हो ही जाता है। इसलिए ज्ञान की वेद्यता के खण्डन से शंकराचार्य को उभयविध मतों का खण्डन अभिप्रेत है। *प्रश्नोपनिषद्* भाष्य में शंकराचार्य बौद्धों को ध्यान में रखते हुए कहते हैं कि यदि विज्ञान स्वयं के द्वारा नहीं जाना जाता है, तो वह स्वयंप्रकाश नहीं हो सकता, लेकिन यदि विज्ञान वेद्य है तो वह स्वयं का वेद्यक कैसे हो सकता है? यह किसी दूसरे विज्ञान से ही वेद्य हो सकता है, तब बौद्धाभिमत अनवस्था दोष से ग्रसित हो जायगा।[2] पुनः यदि विज्ञान स्वयमेव अनुभूत होता है तो बौद्धाभिमत में कर्तृ-कर्म विरोध की उपपत्ति होगी।[3] इस तरह बौद्धों की स्वयंप्रकाशता से अनुभव प्रकाश की व्याख्या नहीं हो सकती है। ज्ञान में आचरित विषय बोध और प्रतिबोधित स्वयंबोध के लिए दोनों का *साक्षी* स्वयंप्रकाश, स्वयंसिद्ध आत्मतत्व को स्वीकार करना होगा, जिसकी समस्त प्रतीतियाँ विषय होती हैं, जो समस्त बोधों के समय जाना जाता ऐसे साक्षी चैतन्य की पृष्ठभूमि में ही समस्त ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय व्यवहार

---

[1] *श्रीहर्ष - खण्डनखण्डखाद्यम् - हिन्दी व्याख्या - स्वा० श्रीहनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्भा प्रका०, पृ० 45*

[2] *- अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम्। स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या। प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य 4.2*

[3] *- न चार्थ व्यतिरिक्तमपि विज्ञानं स्वयमेवानुभूयते त्वात्मनि किया विरोधदेव। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2.2.28*

फलित होते हैं। इसलिए जब कोई ज्ञान होता है तो न ही तद्विषयक कोई संदेह रहता है और न तो उसके साक्षी को जानने की आवश्यकता होती है। क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मा सभी प्रतीतियों का नित्य साक्षी है। बौद्धों का क्षणिक विज्ञान स्वयं अपने ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी नहीं हो सकता, तो वह सर्वसाक्षी क्या होगा। इस प्रकार अद्वैत वेदान्ती स्वसंवित्ति विषयक बौद्धाभिमत को आत्मा की स्वयंप्रकाशता में रूपान्तरित कर देते है।

शंकराचार्यकृत उपर्युक्त आलोचनाओं की समीक्षा करते हुए कहा जा सकता है कि एक ओर शंकराचार्य बौद्धों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव बलात् ही आरोपित कर अनवस्था दिखाते हैं, तो दूसरी ओर वहीं कर्तृ–कर्म विरोध भी उपस्थापित करते है। एक ही प्रतिज्ञा में उपर्युक्त दोनों प्रकार के दोषों की उद्भावना स्वयं में विरोधग्रस्त है। यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में विषयता भाव के कारण अनवस्था उपपन्न है, तो वहाँ कर्तृ–कर्म विरोध नहीं हो सकता; लेकिन यदि विज्ञानों की स्वसंवित्ति में कर्त कर्म विरोध नहीं है तो वहाँ अनवस्था प्रसंग नहीं होगा। बौद्ध इन दोनों दोषों से मुक्त है।

शान्तरक्षित ने स्वसंवित्ति की परिभाषा करते हुए *"स्वरूपवेदनायान्यद् वेदकं न व्यपेक्षते। न चाविदितमस्तीदमित्यर्थोऽयं स्वसंविदः।।"* कहा है चित्सुखाचार्य ने अद्वैतमतेन *"अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार योग्यत्वम्"* के रूप में स्वयंप्रकाशता का सर्वदोषमुक्त लक्षण प्रस्तुत किया है। इन दोनों परिभाषाओं में वेद्यत्व की अवस्थिति एक समान है, लेकिन दोनों परिभाषायें अपनी परम्परा की दार्शनिक योजना में चेतना के जिस तात्विक स्वरूप को प्रस्तावित करते हैं, वह नितान्त भिन्न है। इतिविषयक विज्ञानवादी बौद्ध और अद्वैतवेदान्तियों की पारस्परिक ईर्ष्याजनक स्थिति दोनों का अपना–अपना गौरव है। जहाँ तक साक्षी का प्रश्न है, तो स्वसंवित् क्षणिक

विज्ञान अपनी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साक्षी कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक विज्ञान त्रिविध उपक्षणों में विभाजित ही नहीं है, तथापि जिस प्रकार अद्वैतमत में स्वयंप्रकाश आत्म तत्व को किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं होती है, उसी प्रकार बौद्धों का क्षणिक विज्ञान भी स्वयं साक्षी तो हो ही सकता हैं। साक्षी को "सर्वसाक्षी" के रूप में स्वीकार करना अद्वैतवादियों का अपना गौरव है। इस गौरव भेद की ख़ाई को पाटने में ज्ञान की स्वयंप्रकाशता या स्वसंवित्ति की कोई महत्वपूर्ण मध्यस्थ भूमिका हो सकती है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

अद्वैत वेदान्त में साक्षी के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि साक्षी स्वयंप्रकाशमान है तो उसका ज्ञान क्यों नही होता? या वह क्यों नहीं दिखाई देता? इसका कारण है अज्ञान अथवा अविद्या। यद्यपि स्वयं प्रकाश साक्षी अविद्या का साधक है फिर भी अविद्या उसको आवृत कर लेती हे, जिससे स्वयंप्रकाश होते हुए भी साक्षी का ज्ञान नहीं होता। साक्षी और अविद्या का जो संबंध है वह कल्पित है वास्तविक नहीं। अतः अविद्या से आवृत होने पर ही साक्षी का लोप नहीं होता और न ही उसमें कोई विकार आता है क्योंकि आरोपित पदार्थ से अधिष्ठान में कुछ भी विकार नहीं आता जैसे मरू भूमि आरोपित जल से आर्द्र नहीं होती। यहाँ शंका होती है कि "स्वतः शुद्ध स्वतः बुद्ध और स्वतः मुक्त, अतः नित्य शुद्ध - बुद्ध - मुक्त स्वभाव साक्षी में अविचारित संसिद्धि अविद्या कैसे रह सकती है? क्योंकि सत् और असत् का संबंध नहीं हो सकता। यहाँ पर आत्म स्वरूप के विचार द्वारा एतादृश्य अविद्या की निवृत्ति के लिए साक्षी ही स्वयं ज्योतिमान है जो कि स्वप्न (जब इन्द्रियों स्वकारण में लीन हो जाती है) सुषुप्ति (जब मन भी लीन हो जाता है) में भी स्वयंप्रकाशमान होता हैं

यहाँ अन्य प्रकाशक भी नहीं है, अतः साक्षी स्वयं ज्योति एवं प्रकाशमान सिद्ध होता है।"[1]

वृहदारण्यक उपनिषद्[2] में कहा है कि संसार दशा में जब तक अविद्या रहती है। तभी तक साक्षी का ज्ञान नहीं होता। जब आत्म तत्व के साक्षात्कार करने के बाद निःशेष अविद्या का ध्वंस होने पर साक्षी में ज्योतिष्ट (स्वयंप्रकाशता) की स्फुट अभिव्यक्ति होती हैं ज्योति, संवित, चिति और प्रत्यगात्मा इत्यादि शब्दों से साक्षी का ही व्यवहार होता है। साक्षी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में स्वस्वरूप से प्रकाशमान रहता है जिसकी सन्निधि से अर्थात् जिसके सामीप्य से अचेतन बुद्धि आदि चेतन के समान लक्षित होते है। यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नम लोकमिमरविः – इत्यादि गीता वचन को भी एक ही आत्म ज्योति संसार मात्र की भासक है यह ज्ञात होता है। जैसे मरकतमणि को दूध में छोड़ने से दूध सम्पूर्ण मरकतमणि के सामान श्यामवर्ण का हो जाता है उसी प्रकार स्वयंप्रकाश साक्षी के सम्बन्ध में अनात्मा बुद्धि आदि सम्पूर्ण जड़ पदार्थ चैतन्य की छाया से चेतन से प्रतीत होते है। साक्षी के भान से ही सम्पूर्ण जगत का भान होता है। "उसी के भान से सबका भान होता है" इति अर्थक श्रुति से साक्षी में स्वयं ज्योति स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। साक्षी सर्वअवभासक है "नित्योऽनितव्ययानाम्" इत्यादि कठ् श्रुति भी इसमें प्रमाण है। यह नित्य अविनाशी अर्थात् नाशवानों में अविनाशी है एवं स्वयं

---

[1] स्वतोबुद्धं स्वतः शुद्धं स्वतोमुक्तं निरात्मिका। अविचारितसंसिद्धिरविद्यालिंगते कथम्।। भास्यं स्वप्नसुषुप्तवादि यस्मिन्भाने प्रकप्पितम्।। तद्भानं तत्स्वरूपत्वादात्मशब्देन भण्यते।। ---- वृहदारण्यक उपनिषद् 4/3/30,32

[2] जडं वुद्ध्याधुपादानं तमस्तस्याऽवभासकम्। सकृद्धिभातं चिन्मात्रं ज्योतिरात्मेति भण्डयते।। अचेतनोऽपि बुद्धादिरेतनावानिवेक्ष्यते। यस्य सन्निधितस्तस्य चिज्जयोतिष्ट्रमतिस्फुटम।। ---- वृहदारण्यक उपनिषद्, 4/3/99,100

प्रकाशमान है।[1]

विभिन्न स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति अवस्थओं का प्रकाशक साक्षी स्वयं प्रकाशवान है। उसे किसी प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी सिद्धि के लिए जितने भी प्रमाण दिये जाते है वह उन सबसे परे है एवं सबका अवभासक निर्विकार द्रष्टा है। यही नही वह अपने संपर्क में आने वाले सभी कुछ को स्पष्ट एवं ज्ञानगम्य बना देता है। उसकी स्वप्रकाशिता के संबंध में विभिन्न विचारकों ने अपने मत व्यक्त किए हैं विभिन्न श्रुतियाँ भी उसकी स्वयं प्रकाशता में प्रमाण हैं। यद्यपि साक्षी स्वयंप्रकाशवान है तथापि अविद्या द्वारा आवृत्त होने के कारण उसका ज्ञान नहीं होता है। आत्मतत्व का साक्षात्कार कर लेने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है तब साक्षी की ज्योति स्फुट प्रकाशित होती है और कोई संशय नहीं रह जाता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय ज्ञान एवं व्यवहार की व्याख्या के लिए एक नित्य कूटस्थ चैतन्य रूप साक्षी तत्व को स्वीकार करना होगा। यहाँ यह ध्यातव्य है कि न्याय-वैशेषिक मीमांसा प्रभृति दूसरे दर्शन भी बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना करते हुए नित्य स्थायी आत्मा की सत्ता को आवश्यक बताते हैं। पर यदि ज्ञान आत्मा का स्वरूप न होकर उसका गुण या धर्म है जैसा कि वे मानते हैं तो फिर 'आत्मा' उनके दर्शन में अनावश्यक कोटि विस्तार हो जाता है। और सही स्थिति तो यह है कि न्यायवैशेषिक-मीमांसा दर्शनों के और बौद्ध दर्शन के 'ज्ञान' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जहाँ बौद्ध ज्ञान को एक क्षण रहने वाला मानते हैं वहाँ न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसा उसे तीन या चार क्षण स्थायी मानते हैं। ज्ञान का स्वरूप दोनों में अनित्य और क्षणस्थायी ही रहता है।

---

[1] आत्मच्छायं पयोऽशेषं यथा मरकतोमणि। परीक्षणाय प्रक्षिप्तः कुर्यादात्मा तथैव हि।।
तमेव भान्तमात्मानमनुभाव्यखिलं जगत्। इति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमुक्तं ज्योतिष्ट्रमात्मेनः।।
---वही -- 4/3/101,104

अब यहीं अद्वैतियों का इनसे वैमत्य है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान व्यवहार नित्य चेतना की अपेक्षा रखता है। चेतना अनित्य न होकर नित्य है। अलग-अलग अनेक क्षणिक पारमाणिक संवेदनों के द्वारा मानवीय ज्ञान और व्यवहार की व्याख्या नहीं हो सकती, इसके लिये उसके आधार में नित्य कूटस्थ चेतना को मानना होगा। ज्ञानाधिकरण रूप नित्य और स्थायी आत्मा यह प्रयोजन पूरा नहीं कर सकता है। ज्ञान (चेतना) और आत्मा को गुण-गुणी 'माडल' पर नहीं समझा जा सकता। ऐसा मानने पर अन्ततः चेतना गौण और आत्मा अचेतन होकर सामने आता है। वास्तव में चेतना स्वयं मौलिक है। पारिभाषिक अर्थो में भले ही वह द्रव्य न हो पर उसे गुण या धर्म के रूप में समझना अतार्किक होगा। वास्तव में अद्वैतियों के सामने समस्या दोहरी है। एक तरफ जहाँ उन्हें बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद का खण्डन करना है वहीं न्यायवैशेषिक-मीमांसा परम्परा में पोषित हो रहे इस मत का कि ज्ञान या चेतना मौलिक न होकर गौण है। ज्ञान या चेतना अपने आश्रय रूप से अपने से पृथक् किसी स्थायी आत्मा की अपेक्षा नहीं रखता। अद्वैतियों का कहना है कि सही स्थिति तो यह है स्वयं चेतना ही आत्मा है। आत्मा, चेतना, ज्ञान, संवित्, अनुभव ये सबके सब एक दूसरे के पर्याय हैं। चेतना या ज्ञान आत्मा का गुण न होकर उसका स्वरूप है। ज्ञान या चेतना से पृथक् उसके आश्रय के रूप में नित्य स्थायी आत्मा को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से अद्वैती बौद्धों से एकमत हैं कि चेतना स्वयं में मौलिक है, उसे अपने से पृथक् अपने आश्रय के रूप में किसी अन्य तत्व की अपेक्षा नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि चेतना जहाँ बौद्धों में क्षणिक, संवेदन रूप और असंख्य है अद्वेतियों के अनुसार यह नित्य, एक कूटस्थ स्वरूप है। ज्ञान से पृथक् किसी ज्ञाता आत्मा को मानने की जरूरत नहीं है। ज्ञान और ज्ञाता में तादात्म्य है। जो द्रष्टा है वह दृष्टि स्वरूप ही है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। वह नित्य कूटस्थ चेतन है। जिस तरह सूर्य और उसके प्रकाश में कोई

अन्तर नहीं होनें पर भी सूर्य को प्रकाशक कहा जाता है और सूर्य का प्रकाश ऐसा भाषिक व्यवहार होता है उसी प्रकार आत्मा ज्ञान या अनुभव स्वरूप होकर भी अनुभाविता या ज्ञाता कहलाता है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञान या संवित् में अभेद है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है।

यह ज्ञान का चेतना अद्वैतियों के अनुसार नित्य, अखण्ड और स्वयं प्रकाश है। विभिन्न घट ज्ञान, पटज्ञान, रूप-स्पर्श-शब्द ज्ञानादि में ज्ञान या संवित् एक ही है, घट, पट, रूप स्पर्शादि ज्ञान के विषय हैं ज्ञान नहीं। इसी तरह जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं में भिन्नता होने पर भी इनमें रहने वाली संविद् अभिन्न है। काल से संविद् का भेद नहीं सिद्ध होता बल्कि स्वयं कालभेद संविद् से ही सिद्ध होता है। काल के सूर्य प्रकाश में और आज के सूर्य प्रकाश में जैसे अन्तर नहीं होता वैसे ही कल की चेतना और आज की चेतना वस्तुतः एक है। दिन, पक्ष, वर्ष, मास, आज, कल, अतीत, अनागत आदि काल का भेद भले ही हो पर उनके बोधों में कोई भेद नहीं है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान इत्यादि भी ज्ञान के भेद नहीं है, ये भेद वस्तुतः बुद्धिगत हैं। चिद् रूप संवित् तो सम्यग्ज्ञान, संशय, मिथ्या आदि सभी ज्ञानों में समान है। एक अनन्त आकाश के समान संवित् या चेतना भी अनन्त एवं एक है। जैसे एक अनन्त आकाश में घटादि उपाधि के भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही घट, पटादि, शब्द-स्पर्शादि विषय एवं तदाकारित बुद्धिवृत्तियों के भेद से ही संवित् में भेद हैं, वास्तव में उनमें कोई भेद नहीं है। न केवल संवित् या चेतना अखण्ड और एक है अपितु वह अनादि और नित्य भी है। यदि संवित् अनित्य और जायमान होता तो इसका प्रागभाव होता। पर हमें संवित् के प्रागभाव का बोध नहीं होता है। यदि यह बोध हो तब तो उससे संवित् का भाव ही सिद्ध होता है अभाव नहीं। चूंकि संवित में भेद नहीं है अतः एक संवित् का अभाव दूसरे से नहीं सिद्ध किया जा सकता। यह

[या चेतना साक्षात् अपरोक्ष है। नित्य प्रकाशस्वरूप होने के कारण
ो सत्ता में कभी संदेह नहीं होता। इस संसार में जो कुछ भी है
के प्रकाश से वह प्रकाशित होता है। समस्त जगत् को प्रकाशित करने
यह संवित् भी यदि घट, पटादि वस्तुओं के समान अपने प्रकाश के
अन्य पर निर्भर हो तो इस जगत् में कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा।

इस प्रकार अद्वैतियों के अनुसार ज्ञान नित्य, अखण्ड, एक
प्रकाश रूप चैतन्य तत्व है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान
मौलिक स्वरूप में ऐसा है तो घट, पट आदि अलग-अलग विषयों
उत्पत्ति विनाश से युक्त विच्छिन्न क्रमिक और खण्डरूप में ज्ञान की
5 जीवन जो प्रतीति होती है उसकी व्याख्या कैसे होगी? इस पर
ियों का कहना है कि जैसे एक अखण्ड आकाश में घट-पटादि के
भेद से भेद प्रतीत होता है वैसे ही आकाशवत् अनन्त, अखण्ड
ज्ञान में घट, पट आदि विषय एवं तदाकारित बुद्धि वृत्ति आदि उपाधि
भेद प्रतीत होता है। ज्ञान में दिखने वाला सादित्व, सान्तत्व और
त्व बुद्धिवृत्तियों की उपाधि के कारण होता है जो वस्तुतः औपाधिक
। स्वभावतः तो चेतना जन्मादि विकार से रहित स्वप्रकाश, नित्य और
ड है। यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैती ज्ञान शब्द के द्विविध अर्थों में भेद
हैं।[1] ज्ञान शब्द का मुख्य अर्थ चैतन्य मात्र है जो वस्तुतः आत्मा का
प है। यह नित्य, अजन्य, अखण्ड और स्वयं प्रकाश है। अपने मुख्य
में ऐसा प्रयुक्त होने पर भी ज्ञान व्यवहार में घट, पट आदि
-पृथक् विषयों के खण्ड और अनितय ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता
घट, पटादि के जायमान अनित्य ज्ञान को वृत्ति ज्ञान भी कहा जाता

ष्टिरहित द्विविधा भवति-लौकिकी पारमार्थिकी चेतिः तत्र लौकिकी चक्षुसंयुक्ता
न्तःकरणावृत्तिः, सा क्रियत इति जायते विनश्यति च, या त्वामनो दृष्टिः
ग्न्युष्णप्रकाशादि वत्, सा चव द्रष्टुः स्वरुवान्न जायते न विनश्यति च।
शङ्कराचार्य, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य 3/4/2

है। अद्वैतियों के अनुसार अन्तःकरण जो कि तैजस द्रव्य है वह इन्द्रियादि द्वारों से बाहर निकलकर घट, पट आदि विषयों के पास जाकर तद् तद् आकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की यह विषयाकार परिणति ही वृत्ति है। घट, पटादि के अनित्य जायमान ज्ञान का अर्थ है इन घट, पटादि के आकार में आकारित अन्तःकरण वृत्ति में ज्ञान का प्रतिबिम्बित होना। अब चूँकि बुद्धिवृतियाँ उत्पन्न नष्ट होती रहती हैं और उनके विषय बदलते रहते हैं अतः ज्ञान में सादित्व, सान्तत्व और वैभिन्न होता है। गौण या उपचरित अर्थ में ही ज्ञान कहे जाने वाले इस अनित्य, खण्ड या वृत्ति ज्ञान का एक विषय होता है और एक आश्रय होता है। उत्पत्ति-विनाशशील और अन्तःकरण का परिणाम होने से विक्रिया रूप इस ज्ञान का आश्रय न तो चैतन्य रूप आत्मा हो सकता है जो कि निर्गुण निष्क्रिय और अविकारी है और न अन्तःकरण जो कि जड़ है। चैतन्य आत्मा और अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास से आकलित चिदचिद्-ग्रन्थि रूप अहमर्थ जीव ही क्रियाविशेषपरक ज्ञान का आश्रय है। सारा ज्ञान इसी जीव को होता है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता या जीव है। विषय के आकार में आकारित अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञान या प्रमाण है। अब यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों जिसके प्रकाश से प्रकाशित होते हैं वही *साक्षिचैतन्य* है। यह अन्तःकरण, उसकी वृत्तियों और विषयों को एक साथ भासित करता है। यह प्रमाता का भी प्रमाता और ज्ञान का भी ग्रहीता है।

प्रमाता जीव जिसके ज्योति से यावत् प्रमेय जगत् को प्रकाशित करता है वह उसका मूलभूत तत्व उसका प्रत्यगात्म रूप साक्षिचैतन्य तत्व है। अपने अधिष्ठानभूत इसी स्वयं प्रकाश साक्षिचैतन्य पर अध्यस्त हो प्रमाता अपनी प्रमाणवृत्तियों से प्रमेय रूप जागतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् न तो प्रमाता में और न प्रमाण में स्वयं की ज्योति

है। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञान, बुद्धि और बुद्धिवृत्तियाँ, प्रत्ययी और
य ये सबके सब चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। बुद्धि और
वृत्तियाँ स्वयं में जड़ हैं, चिदाभासहीन बुद्धि से घटादि में ज्ञातता नहीं
न्न हो सकती। चैतन्य के परस्पराध्यास से ही बुद्धि में ज्ञातृत्व आता है
बुद्धिवृत्तियाँ उसके प्रतिबिम्ब से युक्त हो घट आदि में ज्ञातता उत्पन्न
ो में समर्थ होती हैं।

यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है। न्याय-वैशेषिक-मीमांसा-बौद्ध आदि के
ीत अद्वैत चिन्तकों ने चेतना के सम्बन्ध में इस महत्वपूर्ण तथ्य का
ाटन किया कि चेतना बुद्धि से भी सूक्ष्म तत्व है और कि बुद्धि में
ना प्रकाशकत्व नहीं है। चैतन्याभास से युक्त होकर ही बुद्धिवृत्तियाँ
य प्रकाशन में समर्थ होती हैं। अर्थात् जहाँ अद्वैत (सांख्य भी) इतर
परा में बुद्धि, ज्ञान, संवित् चेतना ये समानार्थक हैं। अद्वैत चिन्तकों ने
महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया कि चेतना और बुद्धि भिन्न-भिन्न
वास्तविक अर्थों में ज्ञान बुद्धि से अलग है। बुद्धि का भी ग्राहक और
शक जो तत्व है और जिसके प्रकाश से बुद्धि तदवत् (चेतन) प्रतीत
है वह चैतन्य तत्व भिन्न है। वास्तविक ज्ञान शुद्ध चैतन्य है।
भासयुक्त बुद्धि में ज्ञान शब्द प्रयोग उपचारतः ही होता है। जैसे जल
सूर्य का बिम्ब एवं उष्णता प्रतीत होने पर भी वह जल का धर्म नहीं है
ही बुद्धि में बोध या स्फुरण प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वह आत्मा का
स्वरूप है।

प्रमाता का स्वयं सिद्ध अस्तित्व भी इस *साक्षी* की सत्ता को सिद्ध
ा है। प्रमाता स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में कभी भी संदेह, विपर्यय
ः से युक्त नहीं होता। हम कभी भी स्वयं अपने अस्तित्व के बारे में
ः से युक्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि अहंकारात्मक वृत्ति
चैतन्य के प्रकाश से निरन्तर प्रकाशित होती रहती है। प्रमाता को

साक्षिचेतना द्वारा भासित मानने से और साक्षिचेतना को स्वयं प्रकाश मानकर अद्वैती बौद्धमत में प्रसक्त होने वाले अनवस्था और जगदान्ध्य प्रसड्.ग के दोष से बच निकलते हैं। प्रमाता को अवभासित करने वाले साक्षी का ज्ञान कैसे होता है? यह प्रश्न नहीं किया जा सकता है क्योंकि साक्षी स्वयंसिद्ध, स्वयंप्रकाश, स्वयंज्योति रूप है। जिसके प्रकाश से सभी कुछ प्रकाशित होता है उसे भला कैसे प्रकाशित किया जा सकता है। जो दृष्टि का भी द्रष्टा, श्रुति का भी श्रोता और मति का भी मन्ता है उसे भला कैसे देखा, सुना जा सकता है।[1] अद्वैती चेतना के इस महत्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि यह शुद्ध द्रष्टा या विषयी रूप है। चेतना स्वयं को विषयतया नहीं जान सकती। यदि वह ऐसा प्रयास करती है तो भी विषयीतया वह अवशिष्ट ही रहती है। चेतना यद्यपि विषयतया वेद्य नहीं होती है पर देखा जाए तो इस तरह जाने जाने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि अवेद्य होने के बावजूद वह नितान्त अपरोक्ष है। वह अपनी सत्ता में कभी भी प्रकाश से विरहित नहीं होती। वह शाश्वत अपरोक्ष है और इसीलिए स्वयंप्रकाश है।

न केवल प्रमाता के प्रकाशन के लिए अपितु प्रमाता की अवस्थाभूत ज्ञान, सुख-दुख, इच्छा, द्वेष आदि में होने वाली नित्य अपरोक्षता की व्याख्या के लिए भी हमें प्रमाता के अन्तर्भूत एक स्वयंप्रकाश साक्षिचैतन्य तत्व को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। न केवल ज्ञान अपितु सुख-दुख, इच्छा आदि के ज्ञान की व्याख्या के लिए भी साक्षी को मानना होगा। नैयायिक सुख, दुख, इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा का गुण मानते हैं। ज्ञान भी उनके अनुसार आत्मा का गुण है। तब आत्मगत ज्ञान से भला आत्मगत सुख, दुख इच्छा आदि कैसे विदित हो सकते हैं? सुख एवं

---

[1] *न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। – बृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/2*

दोनों आत्मा में एक काल में समवेत नहीं हो सकते क्योंकि आत्म संयोग दोनों का ही हेतु है। एक असमवायिकारण आत्म मनःसंयोग से ही कार्य उत्पन्न हो सकता है। सुख के असमायिकारण आत्म संयोग के नाश से सुख का नाश होगा। संयोगान्तर से जन्य ज्ञान उसका ग्रहण कथमपि नहीं बन सकेगा। एक आत्म मनःसंयोग से ात् अनेक कार्यो की उत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञान और सुख दोनों ात् हो नहीं सकते। वस्तुतः एक आश्रय वालों का विषय-विषयिभाव बन सकता है अतः आत्माश्रित सुख का आत्माश्रित ज्ञान से ग्रहण हो सकता।

वास्तव में प्रमाता और उसकी अवस्थाभूत सुख, दुख, इच्छा, द्वेष का ग्रहण स्वयं प्रमाता द्वारा नहीं हो सकता। प्रमाता और उसकी ःथाओं को अवभासित करने वाला कोई और तत्व ही होना चाहिए। साक्षी है। अद्वैतियों के अनुसार ज्ञान, सुख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा र्म न होकर अन्तःकरण के धर्म हैं। काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, द्धा, धृति, अधृति, लज्जा, धी, ये सभी अन्तःकरण के ही रूप कहे गये *कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येत्सर्व मन* जब भी हमे किसी घट, पट आदि का ज्ञान होता है, हमें कोई सुख न्न होता है या कोई इच्छा उत्पन्न होती है तो इस ज्ञान, सुख, इच्छा ग्रहण के लिए किसी अन्य बुद्धिवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। इनके के लिए किसी अन्य इन्द्रिय, लिङ्.ग ज्ञान आदि प्रमाण व्यापारों की नहीं होती, बिना इनकी अपेक्षा के ही ये सीधे साक्षी द्वारा भासित हैं। इस प्रकार अन्तःकरण और उसके परिणाम सीधे साक्षी द्वारा शित होते हैं। साक्षिचेतना द्वारा प्रकाशित होने से ही उनके प्रति

ृदारण्यक उपनिषद्, 3/4/2

अपरोक्षता का भाव रहता है। न तो सुख, दुख आदि और न ही (घट पटादि का) ज्ञान स्वयंप्रकाश है, जैसा कि बौद्ध समझते हैं। ये चूँकि साक्षिचेतना द्वारा निरन्तर भासित होते रहते हैं इसीलिये ये नियत प्रत्यक्ष होते हैं। घट, पट आदि ब्राह्य विषयों के विपरीत ज्ञान, सुख आदि मानसिक हैं और मन एवं मानसिक अवस्थाओं की यह विशेषता होती है कि वे नियत प्रत्यक्ष होते हैं। ज्ञान कभी भी अज्ञात नहीं रहता। सुख कभी भी अननुभूत नहीं होता। हमें दर्द हो और उसकी अनुभूति न हो, यह असम्भव है। ये नित्य अपरोक्ष हैं और ऐसा इसलिए है क्योंकि अन्तःकरण सात्विक और तैजस स्वभाव का होता है। सात्विक और तैजस होने से वह इतना स्वच्छ होता है कि साक्षिचेतना के प्रतिबिम्ब से नियत युक्त ही रहता। साक्षि चेतना असंग होने के बावजूद अन्तःकरण से सम्बन्धित रहती है। अतः साक्षिचेतना के प्रकाश से विरहित न होने के कारण अन्तःकरण और उसकी वृत्तियाँ सर्वदा भासित रहते हैं।

प्रमाता जीव का अन्तर्भूत उसके समस्त व्यापारों को प्रतिपल प्रकाशित करने वाले साक्षी की सत्ता एक अन्य दृष्टि से भी सिद्ध होती है। प्रमाता को हमेशा किसी न किसी विषय का ज्ञान होता रहता है। एक के बाद दूसरा और फिर तीसरा चौथा – इस तरह उसे विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता रहता है। पर कई एक स्थिति में पाते हैं कि आवश्यक नहीं कि किसी विषय का ज्ञान ज्ञाता को हो ही। अब ऐसे स्थिति में क्या ज्ञाता ज्ञान शून्य हो ज़ाता है? ज्ञान को आत्मा का गुण मानने वाले न्यायवैशेषिक, पूर्व मीमांसा प्रभृति दर्शनों के लिए यह समस्या इतनी गम्भीर होकर आती है जिसका समाधान देने में वे अन्ततः असफल ही रहते हैं। इस सम्बन्ध में अद्वैतियों का कहना है कि ऐसे समय भी प्रमाता अचेतन नहीं रहता। साक्षी चैतन्य उसे प्रकाशित करता रहता है। जब हमें घट, पट आदि विशेष ज्ञान नहीं होता, बुद्धि वृत्तियाँ नहीं होती ऐसे समय

भी अर्थात् बुद्धिवृत्तियों के अन्तराल में भी स्वयंप्रकाश बोध रूप सामान्य चैतन्य अपने नित्य प्रकाश के साथ जैविक संस्थान को प्रकाशित करता हुआ रहता ही है। यह न केवल बुद्धिवृत्तियों का अपितु उनकी संधियों और अन्तरालों को भी भासित करता है। यही बुद्धिवृत्तियों की उत्पत्ति और विनाश को भी प्रकाशित करता है। बुद्धिवृत्तियाँ तो उत्पन्न होती है और नष्ट हो जाती हैं। हम देखते हैं कि कभी हमें घट ज्ञान होता है तो कभी पट ज्ञान। कभी किसी विषय का ज्ञान होता है तो कभी किसी विषय का। घट, पटादि वृत्ति ज्ञानों के उत्पन्न नष्ट होने का तथ्य स्पष्टतः अनुभूत होता है। अब यह तथ्य सिद्ध करता है कि कोई स्वयंप्रकाश बोध रूप नित्य चैतन्य साक्षी है जो हमारे ज्ञान को उत्पन्न नष्ट होते देखता है। वृत्ति ज्ञान के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को कोई नित्य साक्षी स्वरूप चैतन्य तत्व ही प्रकाशित कर सकता है।

यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि जाग्रत काल में बुद्धिवृत्तियों में अन्तराल भले ही हो पर बुद्धिवृत्तियों का सर्वथा अभाव नहीं होता। लेकिन सुषुप्ति में तो बुद्धिवृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाता है। अब बुद्धिवृत्तियों के इस अभाव को प्रकाशित करने वाला कोई स्वयंप्रकाश सामान्य बोध रूप चैतन्य होना चाहिए। जो इन बुद्धिवृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करे। बुद्धिवृत्तियों के अभाव को प्रकाशित करने वाला साक्षीचेतना है। इस साक्षिचैतन्य के सामान्यानुभव का कभी अभाव नहीं होता। यदि सुषुप्ति में साक्षिचेतन रूप सामान्य बोध का भी अभाव हो तो सुप्तोत्थित को मैंने कुछ नहीं जाना इस तरह का विमर्श ही नहीं हो पाएगा। सुषुप्ति में घट, पटादि के विशेष अनुभव का ही अभाव होता है। साक्षि रूप सामान्यानुभव का अभाव नहीं होता। विशेषानुभव के अभाव को भासित करने वाला तत्व साक्षि चेतना है। यह चेतना नित्य कूटस्थ है। इसका कभी अभाव नहीं होता। ज्ञाता की स्वरूपभूता ज्ञप्ति नित्य है। जैसे नृत्यशालास्थित दीपक प्रमुख प्रेक्षक, सभा

व नृत्यकारों को एक साथ प्रकाशित करता है और उनके अभाव में स्वयं प्रकाशित होता है उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, बुद्धि एवं सभी विषयों को प्रकाशित करता है और उनके न रहने पर उनके अभाव को प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है। अद्वैतियों के अनुसार सुषुप्ति अनुभवों का अभावों का अभाव नहीं है अपितु यह स्वयं एक अनुभव है। सुषुप्ति का तथ्य एक नित्य साक्षी चेतना के अस्तित्व को सिद्ध करता है। सोकर जागने के पश्चात् सुप्तोत्थित प्राणी को सुषुप्ति अवस्था के सुख और अज्ञान का स्मरण होता है तभी वह सुखमहस्वाप्सम्, नाहं किंचिदवेदिषम् इस तरह का कथन करता है। अब चूँकि स्मृति अनुभवपूर्वक ही होती है अतः सुषुप्तिकाल में सुख एवं अज्ञान का अनुभव मानना उचित ही होगा। अब प्रश्न है सुषुप्तिकालीन सुख तथा अज्ञान का भासक कौन है। यह प्रमाता तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो सोया हुआ रहता है। साक्षी अविद्यावृत्ति से सुषुप्ति में इन दोनों का ग्रहण करता है। सुषुप्ति में अहम् का बोध नहीं होता, पर इसका अर्थ नहीं है कि वहाँ चेतना नहीं रहती । अहम् प्रतीति के न रहने के कारण यह है कि चेतना की उपाधिभूत अन्तःकरण अपने कारणभूत अज्ञान में लय हो जाता है। उपाधिभूत अज्ञान अब भी साक्ष्य रूप में बना रहता है इसी कारण सुषुप्तिकालीन चेतना निरुपाधिक नहीं होती। अन्तःकरण के कारणभूत भावरूप अज्ञान को भासित करते हुए साक्षिचेतना सुषुप्ति में अपने स्वरूप में स्थित रहती है।

साक्षी जैसे वस्तुओं के ज्ञान का भासक है वैसे ही अज्ञान भी साक्षी द्वारा ही भासित होता है। मैने कुछ भी नहीं जाना इस तरह का विमर्श अज्ञान के ज्ञान का सूचक है। अब अज्ञान का ज्ञान प्रमाता जीव को सम्भव नहीं है क्योंकि प्रमाता तो वृत्तियों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता है और समस्या यह है कि वृत्ति एवं अज्ञान दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते क्योंकि वृत्ति तो अज्ञानावरण नष्ट करता है। इसीलिए अज्ञान को सीधे

साक्षी द्वारा भासित मानना पड़ता है। यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि साक्षी रूप चेतना तो विज्ञान स्वरूप है वह भला अज्ञान का भासक कैसे हो सकता है? अज्ञान और ज्ञान जो कि तमः प्रकाशवत् एक दूसरे के विरोधी हैं वे भला एक साथ कैसे हो सकते हैं। भावरूप अज्ञान ज्ञानस्वरूप आत्मचेतना पर आश्रित हुई कैसे रह सकती है? इस पर अद्वैतियों का कहना है कि अज्ञान का विरोध विशुद्ध ज्ञान से न होकर वृत्ति ज्ञान से ही है। अज्ञान का शुद्ध चेतना से कोई विरोध नहीं है। वास्तव में चेतना जब अज्ञान को भासित करती हुयी अपनी ज्योति में प्रकाशित होती है तो यही चेतना साक्षिचेतना कहलाती है। अज्ञान के संदर्भ में देखी जाती हुई चेतना ही साक्षिचेतना है। इस संदर्भ से परे तो वह विशुद्ध आत्मा या ब्रह्म है। इसलिए साक्षी को अद्वैती अज्ञानोपहित चेतना कहते हैं।

चूँकि साक्षी अज्ञान का भासक है अतः अज्ञानावृत्त यावत् वस्तुएँ साक्षी द्वारा भासित होती हैं। अर्थात् अज्ञात वस्तुएँ भी साक्षी द्वारा प्रकाशित होती हैं। जब कोई वस्तु चिदाभासयुक्त बुद्धिवृत्ति से व्याप्त होता है तो वह ज्ञात कहलाता है। ज्ञात होने से पहले वस्तुओं पर अज्ञानावरण पड़ा होता है और वे अज्ञात होती हैं। साक्षी अज्ञात रूप में भी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसीलिए कहा जाता है कि साक्षि चेतना द्वारा ज्ञात-अज्ञात सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं- *सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षितचैतन्यस्य विषय एव।*[1] चूँकि साक्षिचेतना रूप सामान्यानुभव द्वारा वस्तुएँ अज्ञातावस्था में भी प्रकाशित होती रहती है इसीलिए जब उनका प्रमाता को ज्ञान होता है तब उसे ऐसा नहीं लगता कि वह उनको उत्पन्न कर रहा है। वास्तव में हमारा समस्त व्यवहार चाहे वह ज्ञान परक हो या अन्य, एक तरह के वस्तु वादी विश्वास को लेकर चलता है। हम जब

---

[1] *प्रकाशात्मन्, पञ्चपादिकाविवरणम्, मद्रास, पृ0 83-84*

किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं तो हमें इस बात का स्पष्ट भान होता है कि हम उसको उत्पन्न नहीं कर रहे हैं और कि हमारे ज्ञान से पूर्व भी वस्तु अज्ञात रूप में विद्यमान थीं। किसी वस्तु के ज्ञात होने का तात्पर्य पहले से ही विद्यमान वस्तु का अज्ञात से ज्ञात होना है। इस तरह ज्ञान कोई नई सृष्टि नहीं है, वह सिद्धवस्तु विषयक होता है। अब ज्ञान का यह स्वरूप यह सिद्ध करता है कि वस्तुएँ ज्ञात रहने से पूर्व अज्ञात रूप में विद्यमान रहती हैं वस्तुओं के इसी अज्ञातता को प्रकाशित करने वाला चैतन्य साक्षी चेतना है जो न केवल वस्तुओं की ज्ञातता को अपितु उनकी अज्ञातता को भी प्रकाशित करता है। प्रमाता द्वारा अज्ञात वस्तुएँ भी चूँकि साक्षी को प्रकाशित होती रहती हैं, इसलिए जब प्रमाता को उनका ज्ञान होता है तो उसे ऐसा नहीं लगता कि वह वस्तुओं को उत्पन्न कर रहा है। अद्वैतियों का तर्क बहुत स्पष्ट है। हमारा समस्त प्रमाण प्रमेय व्यवहार चाहे वह लौकिक हो या वैदिक एक तरह की वस्तुवादी मान्यता को लेकर चलता है। वस्तु वाद की यह मूल मान्यता है कि वस्तुओं की ज्ञातावस्था से अतिरिक्त उसकी अज्ञातावस्था भी होती है। अब इस अज्ञातावस्था का प्रमाता को ज्ञान नहीं होता, जिसके आधार पर विज्ञानवादी सोचते हैं कि वस्तुओं की कोई अज्ञातावस्था है ही नहीं। सही स्थिति यह है कि एक स्वयंसिद्ध स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप साक्षी तत्व है जो वस्तुओं की अज्ञातावस्था को भी प्रकाशित करता है।

इस प्रकार स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता हुआ ही अनेक कर्त्ता, भोक्ता से युक्त विभिन्न वस्तुओं, वनस्पतियों और प्राणियों वाला यह सकल संसार सिद्ध होता है। ज्ञात-अज्ञात, भाव-अभाव यावत् वस्तुएँ, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण, नाम रूप में अभिव्यक्त होने वाला यह सकल जगत् साक्षी का साक्ष्य होते हुए भी सिद्ध है। सभी कुछ को साक्ष्य प्रदान करता हुआ यह साक्षी स्वयं अपनी सिद्धि के लिए अन्य पर आश्रित

नहीं होता। यह स्वतः सिद्ध एवं स्वयं प्रकाश है। यदि वह स्वतःसिद्ध और स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप साक्षी न हो तो इस जगत् में किसी चीज की सिद्धि नहीं हो पाएगी और जगत् घोर अन्धकार में विलीन हो जाएगा।

सप्तम–अध्याय

साक्षी–विमर्शत्व –

हमारा जीवन और जगत् तमस से आच्छादित सर्वथा अन्ध अवस्था नहीं बल्कि ज्ञानमय प्रकाश से प्रकाशित है। इस ज्ञानमय प्रकाश के मूल श्रोत की जिज्ञासा में आर्ष प्रज्ञा एक ज्योतिर्मय तत्व की प्रतिष्ठा में उपशान्त होती है। श्रुतियों का उद्घोष है – *'तमेवभान्तमनुभाति सर्व तस्यमाया सर्वमिदं विभाति'*। यही ज्योतिर्मय स्वयंप्रकाश तत्व अपनी लोक भूमिका में सम्पूर्ण जगत का साक्षी है। सम्पूर्ण लोक प्रदर्शन का मूल सन्दर्भ होना ही स्वयंप्रकाश तत्व का साक्षित्व है। साक्षी शब्द का साधारण अर्थ साक्षात् द्रष्टा होता है। सीमित सन्दर्भों में हम सभी साक्षात् द्रष्टा कहे जा सकते हैं। परञ्च, साक्षात् द्रष्टा के रूप में साक्षी की संकल्पना का कुछ विशेष अर्थ है। इसकी विशिष्टता इस भाव में निहित है कि यह सम्पूर्ण जगत को अद्यतन एवं अद्यावधि अपना साक्षित्व प्रदान करते हुए स्वयं नितान्त असङ्.ग एवं अतिक्रामी बना रहता है। यह सीमित सन्दर्भो में घटित होने वाले और साथ ही अघटित द्रष्टा, दृश्य और दर्शन की आवश्यक पूर्व मान्यता है। ऐसी पूर्व मान्यता जिसका स्वरूप मात्र तार्किक आकार का न होकर तात्विक भी है। उपनिषदों में इति विषयक अनेक सूत्र यत्र–तत्र बिखरे हुए रूप में मिलते हैं। परवर्ती दार्शनिक साहित्य में विभिन्न तत्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय प्रवृत्तियों के अनुरूप साक्षी की संकल्पना का विनियोग हुआ है। कतिपय विरोधी एवं समानान्तर सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये गये है। अन्ततः इस अवधारणा का चूडान्त विकास अद्वैत वेदान्त की परम्परा में देखने को मिलता है। वास्तव में साक्षी की

संकल्पना का सर्वाधिक महत्व इसी परम्परा के लिए है। अद्वैती तत्वमीमांसा की आन्तरिक आश्यकता के रूप में इसके अनेक आयाम सामने आये तथापि सम्प्रदायगत एवं ब्राह्य विवादों की संख्या भी कम नहीं है।

उपनिषदों में ब्रह्म, कूटस्थ, ईश्वर, अन्तर्यामी, अन्तरात्मा, स्वयं ज्योति, आत्मज्योति, प्राज्ञ, द्रष्टा और विज्ञाता जैसे अनेक पद साक्षी के समानार्थी एवं समानान्तर रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे सभी पदों को ऐकार्थक नहीं कहा जा सकता। इनके वास्तविक तात्पर्य एवं पारस्परिक सम्बन्ध को तत्वमीमांसा की उस पृष्टभूमि में निर्धारित करने का प्रयास किया जाय जिसका विकास उपनिषदों से लेकर अद्वैत वेदान्त तक हुआ है तो भी किसी एक बिन्दु पर स्थिर होना कठिन है। स्वयं अद्वैत वेदान्त के शांकर पूर्व एवं शांकरोत्तर व्याख्याकारों ने एक ही चैतन्य तत्व की विभिन्न स्थितियों को साक्षी के रूप में निरूपित किया है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त की मूलभूत समस्या एक ही चैतन्य तत्व के सन्दर्भ में सम्पूर्ण वैविध्य की सुसंगत व्याख्या करना रहा है। इस आलोक में साक्षी विषयक मतवैभिन्नको एक अन्तर अवधारणात्मक योजना में समायोजित किया जा सकता है। साक्षी विषयक अधिकांश आकर स्थल चैतन्य वैविध्य को दर्शाते हुए एकत्व को प्रस्तावित करते हुए प्रतीत होते हैं। इसके लिए एक ही चैतन्य तत्व का स्तरीकरण एवं श्रेणीबद्ध विन्यास आवश्यक है। अद्वैत वेदान्त में अविद्या एवं अविद्यामूलक उपाधि की अवधारणा इसी प्रयोजन को पूरा करती हैं। एक ही चैतन्य तत्व के अविद्योपहित स्तरीकरण एवं श्रेणीबद्ध वैविध्य में उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका अलग-अलग हो सकती है, लेकिन ध्यातव्य है कि उसका स्वयं प्रकाशतत्व सभी स्थितियों में अक्षुण्ण ही रहता है। अतः स्वयं प्रकाशत्व को चैतन्य वैविध्य में व्याप्त एक अन्तर अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जा

सकता है। यही साक्षी की संकल्पना का मूलाधार भी है, क्योंकि चैतन्य वैविध्य का विन्यास ही पर्याप्त नहीं, उसे प्रकाशित भी होना चाहिए। इसके लिए साक्षी की अन्यान्य स्थितियों की कल्पना की जा सकती है। वह व्यष्टि एवं समष्टि साक्षी दोनों हो सकता है, लेकिन सब कुछ होते हुए भी उसका स्वयं प्रकाश होना अपरिहार्य है। चैतन्य तत्व की विभिन्न स्थितियां तो उपाधि मात्र हैं जबकि स्वयंप्रकाशत्व तो उसका स्वरूप ही है। उपाधियों के द्वारा किसी वस्तु का स्वरूप उस अर्थ में सीमित नहीं होता जिस अर्थ में विशेषण किसी वस्तु को सीमित कर देते हैं। यही कारण है कि चैतन्य तत्व वैविध्य में प्रदर्शित होते हुए उसे प्रकाशित भी करता है। वस्तुतः उपनिषदों से लेकर अद्वैत वेदान्त पर्यन्त जिस तत्व मीमांसा का विकास हुआ है, उसकी मूलभूत मान्यता यह रहीं है कि परिवर्तनशील समस्त अनुभवों की पृष्ठभूमि एक शाश्वत् स्वयं प्रकाश तत्व को स्वीकार किये बिना अनुभव प्रकाश की व्याख्या नहीं हो सकती। साक्षी की अवधारणा का निहितार्थ भी समस्त अनुभवों के प्रकाशन में निहित है। यही अद्वैत वेदान्त में जानने की प्रक्रिया का मौलिक अधिष्ठान भी है।

अद्वैत वेदान्त की परमतत्ववादी तत्वमीमांसा और वस्तुवादी ज्ञानमीमांसा में साक्षी की अवधारणा को वस्तुनिष्ठता के व्यापक सिद्धान्त के रूप में भी समझा जा सकता है। आनुभविक स्तर पर देश-काल और परिस्थिति विशेष में किसी वस्तु का ज्ञान होना, उस वस्तु की ज्ञात और अज्ञात नामक द्विविध स्थितियों को प्रस्तावित करता है। इस सन्दर्भ में बहुत सी दार्शनिक समस्यायें उपस्थापित होती हैं। क्या ज्ञान से प्रकाशित होने के पूर्व वस्तु की सत्ता नहीं रहती है। क्या कोई वस्तु ज्ञात होने के साथ ही अस्तित्व में आती है! यदि नहीं, तो अज्ञात स्थिति में भी वस्तु-सत्ता का साक्षी होना चाहिए। वास्तव में वस्तु की सत्ता को उसके अज्ञात स्थिति में सिद्ध करना कोई आसान कार्य नहीं है। अज्ञात स्थिति में

वस्तुओं की सत्ता के विरोध में न केवल प्रश्न बल्कि युक्तियों का भी संग्रह किया जा सकता है। इतिविषयक युक्तियों का जितना भी प्रतिवाद क्यों न किया जाय, कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि अज्ञात स्थिति में वस्तु-सत्ता का निषेध और विधान समान रूप से एक ही तार्किक कठिनाई से ग्रसित है। इस कठिनाई से बाहर निकलकर वस्तुसत्ता का विधान करने के लिए ज्ञान की वस्तुतंत्रता का प्रस्ताव ही पर्याप्त नहीं है। सम्पूर्ण जगत की वस्तुनिष्ठ स्वीकृति के लिए उसके ज्ञात और अज्ञात स्थिति का प्रकाशन आवश्यक है। ऐसा प्रकाशन किसी आनुभविक ज्ञाता के द्वारा नहीं हो सकता जो ज्ञान की प्रक्रिया में संलग्न रहते हुए स्वयं एक पक्ष होता है। अनेक ज्ञाता और ज्ञान परम्परा तथा ज्ञान की अज्ञात अवस्था के सन्दर्भ में भी इस समस्या का अन्तिम समाधान सम्भव नहीं है। इसके लिए एक उच्चस्तरीय ज्ञाता की आवश्यकता है। ऐसा ज्ञाता जिसे साधारण अर्थो में ज्ञाता कहना भी उचित नहीं है, उसे नित्य द्रष्टा या साक्षी कहा जा सकता है। प्रमाता किसी वस्तु को ज्ञाता रूप में ही जानता है जबकि साक्षी के द्वारा उस वस्तु के ज्ञात और अज्ञात दोनों ही पक्ष प्रकाशित होते हैं। इसीलिए प्रमाता के ज्ञान में द्विगुण प्रकाश माना जाता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त सम्मत् साक्षी की अवधारणा वस्तुनिष्ठता का व्यापक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। इसे वस्तुनिष्ठता का ज्ञाता सापेक्ष सिद्धान्त के रूप में नहीं समझा जा सकता। वस्तु-सत्ता सापेक्ष साक्षी नहीं है, वह तो वस्तुओं का उदासीन द्रष्टामात्र है। हमारे समस्त अनुभव जिसके प्रकाश में प्रकाशित होते हैं, उसी अनुमान्य की वस्तुनिष्ठता का व्यापक आधार और साक्षी हो सकता है।

अद्वैत वेदान्त में साक्षी की अवधारणा का सर्वाधिक महत्व अनुभव को प्रकाशित करने वाले सिद्धान्त के रूप में है। अनुभविता और अनुमान्य के ढांचे में जिस अनुभव के द्वारा जागतिक वस्तुयें प्रकाशित होती हैं, उस

अनुभव को भी अभिज्ञात होना चाहिए। किसी वस्तु का अनुभव करते हुए इस बात से बिलकुल अनभिज्ञ रहना कि मुझे अनुभव हो रहा है, कुछ भी अनुभव न करने के बराबर है। अतएव अनुभव को अवश्य ही अभिज्ञात होना चाहिए। इसे एक सीमा तक सभी दार्शनिक सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं। परञ्च, यह कैसे ज्ञात होता है? इस प्रश्न को लेकर दार्शनिकों के बीच नितान्त मतभेद है। यह बात अनुभव सिद्ध है कि हम अपने आप को कभी वस्तु के रूप में नहीं जानते है। अतएव विषय का ज्ञान सदैव पर रूप से होता है। अब यदि ज्ञान को भी अभिज्ञात होना चाहिए तो ज्ञान का ज्ञान भी क्या पर रूप से होना आवश्यक है। इस प्रसंग में केवल विज्ञानवादी बौद्ध ही स्पष्ट रूप से ज्ञान का स्वसंवेदन स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक चेतना की स्वचेतना होना एक अनिवार्य स्थिति है। इसे नहीं स्वीकार करने पर जगदान्ध प्रसंग की प्रसक्ति और साथ ही साथ विषयान्तर संञ्चार की आसक्ति अवश्यम्भावी है। वस्तुतः साकार विज्ञानवाद की अनुमत सीमा में चित्त की उपलब्धि सदैव स्वसंवित् रूप में ही होती है। निराकार विज्ञान चेतना की मानो अनुपलब्ध अवस्था है, जहां चित्त अचित्त सा हो जाता है। नैयायिक और भाट्टमीमांसक यह स्वीकार करते हैं कि जहां तक ज्ञेयता का प्रश्न है, चाहें वह वस्तु हो या ज्ञान, उसे पररूपेण ही वेद्य होना चाहिए। नैयायिकों के लिए ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होने वाला आगन्तुक गुण है, अतएव उसका ग्रहण अनुव्यवसाय रूप मानस प्रत्यक्ष से हो जाता है। भाट्टमीमांसक ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति विषय में स्वीकार करते हैं, अतएव ज्ञान का ग्रहण परोक्षतः होता है। त्रिपुटी प्रत्यक्षवादी प्रभाकर ज्ञान का ग्रहण संवेद्यतमा नहीं बल्कि संवित्तय स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्ती इन सभी अभ्यूपगमों से पृथक एवं परे ज्ञान को साक्षी वेद्य बताते हैं।

साक्षी–प्रयोजनत्व –

साक्षी का अस्तित्व व्यावहारिक दृष्टिकोण से है परमार्थतः ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। व्यावहारिक रूप से साक्षी का अस्तित्व तब तक है जब तक अविद्या है, माया है। ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही साक्षी का ब्रह्म में विलय हो जाता है। साक्षी उतना ही सत्य है जितना जीव, जगत और ईश्वर। चैतन्य की ये विविध प्रतीतियाँ व्यावहारिक हैं परमार्थतः ब्रह्म में ही इनका समाहार हो जाता है। ब्रह्म से अतिरिक्त इनकी कोई तात्विक सत्ता नहीं है। आत्मा के सम्बंध में जब वेदान्त में ब्रह्म को *'अयमात्मा ब्रह्म'* कहकर पर्यायवाची कहा जाता है, तो प्रश्न है कि ब्रह्म निरूपण के अतिरिक्त आत्मा के विवेचन की क्या आवश्यकता है?

इसके समाधान में यह बात सर्वथा स्वीकार्य है कि आत्मा एवं ब्रह्म पर्यायवाची ही हैं। आत्म तत्व का सविस्तार विवेचन उपनिषदों में उपलब्ध है। यह विवेचन निरर्थक कदापि नहीं है। पूर्ण एवं व्यापक सत्ता के रूप में ब्रह्म का बोध होने पर भी मुमुक्षु जीव को जीवत्वेन आत्मतत्व का अनुभव होता है तथा इस अनुभव की स्थिति जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति से ऊपर है। इस प्रकार जीव का आत्मबोध या आत्मानुभव ही आत्मतत्व के स्वतंत्र प्रतिपादन की आवश्यकता का अनुभव कराता है। अत : ब्रह्म तत्व का व्यष्टि रूप से अनुभव आत्मानुभव है तथा सर्वव्यापक सत्ता के रूप उसी आत्मतत्व का अनुभव ब्रह्मानुभव है।

आत्मा की कूटस्थता, साक्षित्व एवं कर्तृत्व अद्वैत वेदान्त की प्रमुख उपलब्धि है। साक्षी के रूप में आत्मा जीव के समस्त क्रियाकलापों का साक्षात् द्रष्टा है तथा कूटस्थ रूप में समस्त का अधिष्ठान। अद्वैत वेदान्त में कूटस्थ चैतन्य, साक्षी चैतन्य एवं वृत्ति चैतन्य के रूप में त्रिविध चैतन्य

का भी निरूपण हुआ है, किन्तु इस त्रिविध चैतन्य का आधार आत्म तत्व ही है, केवल कार्य एवं स्थिति भेद के कारण त्रिविध चैतन्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। एक ही आत्मा साक्षित्वेन साक्षी चैतन्य, वृत्ति के द्वारा तद् तद्विषयों का बोद्धा होकर वृत्ति चैतन्य है। यद्यपि वृत्ति अन्तःकरण का व्यापार है, किन्तु उसके पृष्ठाधार के रूप में अन्तःकरण की वर्तमानता है। कूटस्थ चैतन्य उपाधि शून्य चैतन्य तत्व है। यही आत्मा की ब्रह्मता है, जहाँ तक उसके कर्तृत्व का प्रश्न है उसका कारण अविद्या ही है। अवच्छेदवाद के प्रवर्तक वाचस्पति मिश्र अविद्या अर्थात् अज्ञान से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं, जिस प्रकार एक ही सार्वभौम आकाश घट एवं मठ की उपाधि से अवच्छिन्न आकाश, घटाकाश एवं मठाकाश की संज्ञा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक ही चैतन्य अविद्यावच्छिन्न होकर जीव की संज्ञा को प्राप्त होता है।

जीवात्मा जब अनात्म वस्तुओं शरीर, मन, इन्द्रिय, देहादि से अपना तादात्म्य बना लेता है तो उसका जो स्वाभाविक स्वरूप है वह बादलों की ओट में छिपे सूरज की तरह अस्तित्वविहीन सा लगने लगता है। शंकर का जीव कर्मों से बंधा है, वह कर्म करता है एवं कर्म फल का उपयोग करता है यही उसकी नियति है। कर्म जड़ होने के कारण स्वयं फल प्रदान करने में असमर्थ है। अतः कर्मों के फल के प्रदाता के रूप में एक सत्ता की आवश्यकता होती है इसके लिए शंकर ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, जो विभिन्न जीवों को उनके कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। ईश्वर जीवों को उनके कर्मों का फल तभी प्रदान कर सकता है जब वह समस्त जीवों के कर्मों को निर्विकार रूप से जानता हो। यहाँ प्रश्न है कि ईश्वर कैसे या किस रूप में जीवों के कर्म का साक्षी बनता है?

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्य शंकर ने साक्षी की अवधारणा को स्वीकार किया है जो ईश्वर का ही एक रूप है तथा

अन्तःकरण की उपाधि से युक्त है परन्तु अन्तःकरण से उसका काई संबंध नहीं है। साक्षी का अन्तःकरण से वही संबंध है जो घटाकाश का घट की दीवारों से है। घटान्तर्भूत आकाश जिस प्रकार दीवारों के गुण दोष से बिन्दु मात्र भी प्रभावित नहीं होता, ठीक उसी तरह साक्षी भी अन्तःकरण के गुण दोषों से निष्प्रभावित रहता है। साक्षी जीवों के समस्त सुकृत्यों, दुष्कृत्यों को निरपेक्ष अनासक्त भाव से देखता रहता है और इसी के साक्षित्व को प्रमाण मानकर ईश्वर जीवों के कर्मफल का विधान करता है। सूक्ष्म और स्थूल जीव तथा शरीर दोनों को अवभासित (प्रकाशित) होने के लिए साक्षी की आवश्यकता पड़ती है। जीव और शरीर दोनों अज्ञानजन्य होने के कारण अप्रकाश स्वरूप या अंधकार स्वरूप है। इन दोनों को प्रकाशित करने के लिए साक्षी रूप स्वयंप्रकाश चैतन्य को स्वीकार किया जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि अन्तःकरण की वृत्तियों के प्रकाश स्वरूप होने के कारण ही जीव और देह का अवभासित होना सिद्ध होता है। अतः साक्षी को स्वीकार करने का क्या अर्थ है?

अद्वैत वेदान्ती इसका समाधान करते हैं कि अन्तःकरण के जड़ होने के कारण अन्तःकरण की वृत्तियाँ और अन्तःकरण का परिणाम भी जड़ ही है और जड़ होने के कारण अंधकार स्वरूप अन्तःकरण की वृत्तियाँ स्वयं प्रकाशित होने में असमर्थ हैं। वे अपने को प्रकाशित करने के लिए चैतन्य की अपेक्षा रखती हैं इसलिए जीव के स्थूल और सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित करने के लिए साक्षी को स्वीकार किया जाता है। विद्यारण्य का मत है "जड़" स्वरूप अन्तःकरण की वृत्ति जीव और शरीर के समान ही अन्तःकरण के धर्म सुख दुखादि को भी प्रकाशित नहीं कर सकती है, अतः सुख दुःख के अवभास के लिए साक्षी को स्वीकार करना आवश्यक है। फिर अन्तःकरण की वृत्ति और करण के धर्मभूत सुख दुखादि साक्षी के

विषय हैं, अन्तःकरण की वृत्तियों एवं इन्द्रियों के विषय नहीं है।[1] अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी वृत्ति के अनुरूप विकृत नहीं होता। यदि वह विकृत होता, तो अवश्य दुःखी होता, क्योंकि जो विकृत होता है वह दुःखी होता है। यदि साक्षी दुःखी होगा तो दुःखीपन का साक्षी कौन होगा? इस प्रकार यह अनवस्था दोष उपस्थित करता है। इसलिए साक्षी कभी दुःख का विषय विकारी नहीं हो सकता। वह स्वयं अविकृत होते हुए बुद्धि वृत्तियों के सहस्रो विकारों का साक्षी है। बुद्धि की वृत्तियों के कार्य-व्यापारों तथा उनके फलो सुख दुःखादि से असम्पृक्त यह साक्षी उन्हें इस प्रकार देखता रहता है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं दण्डहीन होते हुए भी दण्ड युक्त बधिक को देखता है। जिस प्रकार घट का द्रष्टा, घट विचार और घट वस्तु से भिन्न होता है उसी प्रकार साक्षी भी अहं, बुद्धि और दुःखित्व अनुभव करने वाले जीव से भिन्न होता है।

अतः स्पष्ट है कि अन्तःकरण की वृत्तियाँ साक्षी चैतन्य के आलोक से आलोकित होकर सत्य की तरह प्रकाशित होती हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों में जब चैतन्य तत्व का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है तब चैतन्य के प्रतिबिम्ब से प्रकाशित हुई अन्तःकरण की वृत्तियाँ जड़ होते हुए भी प्रकाशात्मिकता की तरह प्रतीत होती है। साथ ही अपने विषयों को भी प्रकाशित करती है। इस वृत्ति के प्रकाशक स्वयं प्रकाश साक्षी चैतन्य को स्वीकार करना आवश्यक है अन्यथा अचेतन अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा वृत्तिगत विषयों का, स्वयं उनका प्रकाशित होना संभव नहीं होगा।

प्रमा या अप्रमा रूप ज्ञान साक्षी द्वारा ही प्रकाशित होता है। वह दूसरे प्रत्यक्ष से प्रकाशित नहीं हो सकता क्योंकि दूसरा प्रत्यक्ष प्रकाशमान नहीं है। यदि उसका प्रकाशक कोई अन्य प्रत्यक्ष होगा तो उस प्रत्यक्ष का प्रकाशक भी कोई अन्य प्रत्यक्ष स्वीकार करना होगा, इस प्रकार से

---

[1] *सिद्धांत लेश संग्रह, प्रथम परिच्छेद।*

अनवस्था दोष प्रसक्त होगा। यदि नेत्र प्रभृति जैसे अप्रकाशमान को प्रकाशक स्वीकार करे, तो विषय आदि को भी प्रकाशक मानना पड़ेगा क्योंकि दोनों ही समान रूप से अप्रकाशमान हैं। यहाँ इन्द्रियों का प्रकाशक होना स्वीकार नहीं है, नहीं तो एक इन्द्रियात्मा मानना पड़ेगा। इसलिए यह सब अप्रकाशक है और इनके प्रकाशक के रूप में साक्षी को स्वीकार करना ही पड़ता है। *वृहदारण्यक उपनिषद्*[1] में कहा है कि अज्ञात वस्तु किसी भी प्रकार से प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। वैसे ही मिथ्या ज्ञान और संशय की सिद्धि भी प्रमाण से नहीं हो सकती। प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण ज्ञात और अज्ञात को सिद्ध नहीं कर सकता तथा घटादि जड़ पदार्थ स्वयं प्रकाशमान नहीं है। इसलिए सब पदार्थों के प्रकाश के लिए, मिथ्या ज्ञान की सिद्धि के लिए सर्वप्रकाशक *साक्षी* को स्वीकार करना ही पड़ेगा। "जैसे घट का ज्ञान होने पर घट का स्पष्ट अनुभव होता है वैसे ही साक्षी से अज्ञानादि का स्पष्ट अनुभव होता है।"[2] *वृहदारण्यक उपनिषद्* में पुनः कहा गया है प्रत्यक् रूप साक्षी के बिना जब अभाव की भी सिद्धि नहीं होती, तब भाव के विषय में क्या कहा जाये। भाव सिद्धि के लिए साक्षी को स्वीकार करना आवश्यक है। देश, काल आदि भी जड़ है अतः उनकी भी स्वतः सिद्धि नहीं हो सकती उनकी सिद्धि केण लिए भी साक्षी को स्वीकार करना पड़ेगा।[3]

अतः स्पष्ट है कि साक्षी को स्वीकार करने पर ही जीवों के अहंत्वाभिमान का नित्य प्रकाश उत्पन्न होता है। जैसे "मैं हूँ अथवा नहीं", "मैं प्राणवान हूँ या नहीं" – ऐसा संशय किसी जीव को नहीं होता क्योंकि "य एव हि निराकर्ता तदैव तस्य स्वरूपम्" इस प्रकार अहन्ता का नित्य

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/273, 274*
[2] *वृहदारण्यक उपनिषद् 1/4/280*
[3] *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/72*

बोध सिद्ध है। "इस अहं प्रत्यय का आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है जो स्वप्न, जाग्रत, सुषप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पंचकोशातीत है, वही साक्षी है।[1] जैसा कि *विवेक चूड़ामणि*[2] मे कहा है "जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में स्पष्टतया प्रत्यक् रूप से प्रकाशित होता हुआ सदा "अहं-इदं" रूप से अनेक प्रकार स्फुरित होता है तथा अहंकार से लेकर प्रकृति के इन नाना विकारों को साक्षी रूप से देखता हुआ नित्य चिदानन्द रूप से स्फुरित होता है, वही साक्षी है।" *पंचदशी* में भी कहा है कि जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में आने जाने (उत्तर अवस्था का आगमन और पूर्व अवस्था की निवृत्ति) की प्रतीति नित्य चैतन्य रूप साक्षी से होती है वह स्वचिद्रूप आत्मा है।[3] *वृहदारण्यक उपनिषद्*[4] में इसे और अधिक स्पष्ट रूप से बताया गया है सुषुप्ति में अन्य इन्द्रिय आदि का विलय होने से तथा प्रमातृत्व की निवृत्ति होने के कारण वहाँ यदि साक्षी भी नहीं रहेगा तो जाग्रत अवस्था में व्यक्ति को जो "मैं सुखपूर्वक सोया", तथा किसी भी विषय का भान उस समय मुझे नहीं हुआ" यह स्मरण होता है, वह नहीं हो सकेगा। स्मरण अनुभव जनित वासना के बिना नहीं होता। अज्ञान के अनुभव के बिना वासना नहीं हो सकती, वासना के बिना स्मरण असंभव है अतः स्वप्न के बाद जाग्रत अवस्था में स्वप्न दशा का स्मरण के लिए उक्त काल में साक्षी को मानना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं के प्रकाशक के रूप में साक्षी अत्यन्त आवश्यक है।

---

[1] *अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहं प्रत्यय लम्बनः अवस्थात्रय साक्षी सन्पंचकोश विलक्षणः। ---- विवेक चूड़ामणि, 127*

[2] *-------वही------- 219*

[3] *जागरस्वप्न प्रसुप्ती नामागमापायभासनम्। यतो भवत्य सावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः।। पंचदशी, 12/58*

[4] *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/70*

यदि साक्षी को न माना जाये तो मन या अन्तःकरण बाह्य एवं आंतर विषयों का प्रकाशक नहीं हो सकेगा। कोई भी अनुभव जिसके द्वारा किया जाता है, वह उसी के साक्षीत्व में होता है बिना अनुभव किये हुए पदार्थ का कोई भी साक्षी नहीं कहा जा सकता।[2] यह साक्षी मन और अहंकार रूप विकारों तथा देह, इन्द्रिय और प्राण की क्रियाओं का ज्ञाता है तथा तपाये हुए लौहपिण्ड के समान उनका अनुवर्तन करता हुआ भी, न कुछ चेष्टा करता है न ही विकार को प्राप्त होता है।[3] आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न शुद्ध ज्ञान स्वरूप वह निर्विशेष परमात्मा सत् असत् सबको प्रकाशित करता हुआ जाग्रत आदि अवस्थाओं में अहं भाव से स्फुरित होता हुआ बुद्धि के साक्षी रूप में साक्षात् विराजमान है।[1] युक्तियों द्वारा पाँचों कोशों का निषेध कर देने पर भी उनके निषेध की अवधि रूप बोध स्वरूप साक्षी की ही सत्ता शेष रहती है। तत्व शुद्धि में भी कहा गया है इस साक्षी को माने बिना व्यवहार संभव नहीं है।

अतः स्वाभाविक प्रश्न बनता है कि साक्षी तत्व किसलिए स्वीकार्य है? इस सम्बन्ध में *वृहदारण्यक उपनिषद भाष्य वार्तिक* में सुरेश्वर ने कहा है कि भाव या अभाव सभी वस्तुएं, प्रमेय, प्रमाण या प्रमाता तथा नाम रूप आदि से अभिव्यक्त होने वाला समस्त जगत् साक्षी का साक्ष्य होते हुए ही सिद्ध है क्योंकि समस्त साक्ष्य स्वतः स्फूर्तिहीन है, सदा समान रूप से स्फुरित रहने वाला सत्य अध्यक्ष ही इन सबके पृथक-पृथक स्फुरण का आधार है वही चिदात्मा है, साक्षी है। उसे अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य साक्षी की अपेक्षा नहीं है, उसका साक्षित्व स्वतः सिद्ध है। अपने से

---

[1] *वृहदारण्यक उपनिषद् 3/4/70*

[2] *तत्साक्षिकं भवेन्तन्तद्यद्येनानुभूयते। कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्जयते।। विवेक चूड़ामणि, 217*

[3] *------वही---- 135*

भिन्न किसी प्रकाश द्वारा प्रकाशित होने वाले सभी आविद्यक सर्वदा साक्षी का विषय है यही साक्ष्य होने का अर्थ है। साक्षी जैसे वस्तुओं का प्रकाशक भी है वैसे द्रष्टा भी है। लौकिक ज्ञान में जो प्रमेय एवं प्रमाता आदि को विषय करता है वह साक्षी को विषय नहीं करता क्योंकि साक्षी उन प्रमाता आदि से विलक्षण है तथा प्रमाण परक् जो बहिप्रवण है वे प्रत्यक् अन्तर दिशा में नहीं आते हैं। अतः साक्षी में अन्य पदार्थो की तरह साक्षि-साक्ष्य अभिसम्बन्ध नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि जहाँ कर्म फल का विधान करने के लिए साक्षी आवश्यक है, वहाँ स्थूल एवं सूक्ष्म, जीव और शरीर दोनों को प्रकाशित करने के लिए साक्षी का आवश्यकता है। पुनः अन्तःकरण की वृत्तियों, अन्तःकरण के धर्म तथा सुख-दुखादि अन्तःकरण के विषयों को अवभासित होने के लिए साक्षी आवश्यक है। यह साक्षी स्वयं प्रकाशवान है। यहाँ प्रश्न उठता है कि साक्षी निर्विशेष शुद्ध बोध स्वभाव होता हुआ सबको प्रकाशित करता है इसके लिए क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है "साक्षी प्रमाणों का मूल है। वह स्वयं अपने आपसे ही अनुभव किया जाता है। इससे परे अन्य कोई इसका साक्षी नहीं है।"[2] अतः साक्षी स्वयं प्रकाशवान एवं अन्य सबका प्रकाशित करने वाला है।

संक्षेप में कहा जा सकता है मानवीय व्यक्तित्व का जब हम विश्लेषण करते हैं तो मानवीय अनुभवों को देखते हुए हमें पता चलता है कि बाल्यावस्था से वृद्धावस्था पर्यन्त, स्वप्न से जाग्रत अवस्था तक एक "मैं" की सर्वदा अविच्छिन्न अनुभूति हम लोगों में रहती है। इस अनुभव का अवभासक कोई एक विशुद्ध चैतन्य है, वही साक्षी चैतन्य है जो

---

[1] *------वही----- 137*

[2] *असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते अतो परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः।। विवेक चूड़ामणि, 218*

निर्विशेष बोध एवं निर्विकार द्रष्टा है जिसे स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

साक्षी–प्रासंगिकत्व –

अद्वैत-वेदान्त में व्यक्ति स्वरूपतः ब्रह्म ही है। साक्षीरूप व्यक्ति ब्रह्म या शुद्ध चैतन्य है। सुख–दुःखादि द्वन्द्वों से मुक्त संसार से निर्लिप्त एवं तटस्थ द्रष्टारूप व्यक्ति ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति है। जन्म–मृत्यु सुख–दुखादि में लिप्त अहंभाव युक्त व्यक्ति प्रतीति मात्र है। ब्रह्म ही सत् है, अद्वैत है। अतः ब्रह्म या शुद्धचैतन्य से अन्यथा प्रतीत जों कुछ भी है – सब अन्तःकरण के कारण प्रतीति है। इस प्रतीति को सत्यासत्य की कोटियों में रखा नहीं जा सकता। यह इसकी विलक्षणता है। इसी से इसे मिथ्या कहा जाता है। सृष्टिकर्ता कौन है, सृष्टि क्यों हुई या सृष्टिकर्ता कोई है भी या नहीं, आदि प्रश्न व्यर्थ हैं क्योंकि इनके उत्तर एक ऐसे उत्तरदाता की अपेक्षा रखते हैं जो स्वयं सृष्टि से पूर्व और परे हो। जहाँ तक दार्शनिक जिज्ञासा का संबंध है, अपनी पूर्वमान्यताओं के अनुरूप कोई भी संतोषजनक उत्तर स्वीकार कर सकते हैं, लेकिन यह संतोष, उत्तरों की संगतता के कारण नहीं बल्कि बुद्धि की क्षमता की सीमा के कारण होगा। लेकिन अद्वैत वेदान्त के लिए ये प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं–केवल परम्परा का निर्वहण और मोक्ष–शास्त्र की पृष्ठभूमि मात्र है। अद्वैत वेदान्त का संबंध व्यक्ति के जीवन में मृत्यु–भय, दुःख और अतृप्ति से भरे अनवरत संघर्ष से मुक्ति हेतु मार्ग–प्रशस्ति से है। समस्त बौद्धिक ज्ञान, अहंकारजन्य व्यवहार, अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में अविद्याजन्य है। विद्या ब्रह्मज्ञान को माना गया है और ब्रह्म बुद्धि से अचिंत्य है। अतः अविद्या का अर्थ बौद्धिक

ज्ञान ही होगा। मुक्ति, चूँकि ब्रह्मसाक्षात्कार है, अतः अविद्यानाश या, मुक्त होना ही जीवन में व्यक्ति का एक मात्र साध्य है।

अद्वैत-वेदान्त का जो स्वरूप हमने स्वीकार किया है तदनुसार ब्रह्म ही सत् है, सब कुछ ब्रह्म ही है, शेष सब जो ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है -मिथ्या है, व्यर्थ है। इस स्वीकृत अर्थ में शांकरवेदान्त में में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं रह जाता है क्योंकि इसमें व्यक्तिगतता को भी मिथ्या माना गया है। अतः ऐसा सिद्धान्त व्यक्ति को कोई संतोषजनक स्थान नहीं प्रदान करता है, जबकि व्यक्ति निर्गुण और उदासीन न होकर क्रियाशील और सृजनशील है न कि माया के हाथों नाचने वाला असहाय प्राणी।

मानव, जगत् में अपने महत्व प्रतिपादन हेतु बड़ा ही सजग रहता है और यह सजगता केवल अहंकारवश ही होती है। प्रायः यह मान लिया जाता है कि जगत् में 'मानव व्यक्ति' विशेष महत्व रखता है, उसमें रचनात्मकता अथवा सृजनशीलता है। मान्य उपलब्धियों के आधार पर यह माना जाता है कि व्यक्ति में स्वतंत्रतः अपने अस्तित्व को बनाये रखने और विभिन्न प्रतीकों में स्वयं को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। प्रमाणस्वरूप मानव समाज का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रायः मानव व्यक्ति के महत्व प्रतिपादन में मानवाहंकार ने युगों से अनेक प्रयास किये हैं और ऐसे शब्दों का निर्माण किया है जिनसे उसके अहंकार की अभिव्यक्ति होती है, प्रगति, विकास, उच्च, निम्न आदि भावनायें आज संस्कारों के रूप में प्राप्त हो रही है और स्थिति यह है कि मानव की धारणायें, मान्यताएँ और उसके शब्द सभी अर्थवान् हैं, स्वीकृत हैं। इनके मिथ्यात्व को स्पष्ट करने हेतु वे ही शब्द हैं। सदियों से चली आ रही मानवाहंकारजन्य निर्धारित और स्वीकृत भ्रान्त विश्वासों का निराकरण कठिन है।

मानव व्यक्ति का महत्व निर्धारित मानवाहंकारजन्य व्यामोह का परिणाम है। इससे किसी शाश्वत मूल्य की प्राप्ति संभव नहीं है। लेकिन मूल्य की शाश्वतता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जब तक, व्यक्ति सीमित है, अहंकारयुक्त है, शाश्वतता की खोज से स्वयं को वह मुक्त नहीं रख सकता है। यह उसकी नियति है। "सहज में चेतना अपने को अविद्या और भव में ही पाती है वही उसका उपलब्ध रूप भी है किन्तु साथ ही वह इस उपलब्ध रूप से मुक्त होने को प्रयत्नशील भी रहती है।"[1] व्यक्ति को अतिक्रमण की प्रेरणा मिलती है शाश्वत होने की इच्छा से लेकिन कर्मों से प्राप्त फल उसे शाश्वतता की ओर नहीं ले जाते। कर्म, अविद्या या अज्ञानप्रेरित है। कर्मक्षेत्र जहाँ अविद्या का क्षेत्र है वहीं मोक्ष उससे निवृत्ति है। अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए सीमाओं से परे जाना होगा, अहंकार और व्यक्तित्व से परे जाना होगा। व्यक्तित्व का नाश किये बिना स्वरूप को जाना नहीं जा सकता। संभवतः इसीलिए मोक्ष को प्रेयस् न कहकर श्रेयस् कहा गया है। श्रेयस् का चयन करने के लिए व्यक्ति बाध्य है। अज्ञानवश प्रेयस् समझकर ही वह उनका चयन करता है जो प्रिय तो है किन्तु उनका महत्व क्षणिक् और अपूर्ण है। अहंबोध, कर्तव्य और अपनी श्रेष्ठता को जब तक व्यक्ति स्वीकार किये रहता है, तब तक वह भेद और अनेकता में सापेक्ष व्यक्तित्व ही निर्मित कर पाता है। व्यवहार में वह अपनी संकीर्णताओं से मुक्त नहीं हो सकता है। अधिक से अधिक एक प्रकार की संकीर्णता से निकलकर अन्य किसी प्रकार की संकीर्णता में फंस सकता है। स्वरूपतः व्यक्ति शुद्धचिन्मय ब्रह्म ही है। शरीर आदि उपाधियों के कारण स्वयं को मनुष्य बुद्धिमान, कर्ता-भोक्ता, आदि अर्थों में समझता और व्यक्ति होता है। इस तरह व्यक्त होना व्यक्ति है। अविद्या नष्ट होते ही वह निष्काम, *अकर्ता-साक्षी* ही रह जाता है। बुद्धिजीवी, मूर्ख, कर्मठ

---

[1] *मूल्य तत्वमीमांसा - पृ0 169*

और पापी आदि सभी सापेक्ष मान्यताएँ हैं, व्यक्तित्व के रूप हैं जो अहंकार के बाह्य विषयों के सम्बन्ध में निर्मित होते हैं। व्यक्ति का मानव रूप अविद्याजन्य भेद-दृष्टि से उत्पन्न प्रतीति है। व्यक्ति का निर्माण होता है कर्म से। कर्म अविद्याजन्य है, अविद्या बन्ध की जननी है। अतः व्यक्तित्व ही व्यक्ति का बंधन है।

अद्वैत-वेदान्त में व्यक्ति के महत्व दो अर्थों में समझा जा सकता है। प्रथमतः अद्वैत-वेदान्त में व्यक्ति को कितना महत्व दिया गया है और द्वितीयतः इसमें व्यक्ति के स्वीकृत स्वरूप का जगत् में क्या महत्व है। प्रथम अर्थ में यही कहा जा सकता है कि अद्वैत-वेदान्त केवल व्यक्ति का ही दर्शन है। यह मान लेना कि वह मायावाद या ब्रह्मवाद ही है, व्यक्ति की चर्चा प्रसंगवश और गौण है, उचित नहीं है। ब्रह्म, ईश्वर, जगत्, माया और अविद्या आदि धारणाएँ केवल व्यक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही प्रस्तुत हुई है। ब्रह्मवाद या मायावाद उक्त दर्शन में परमतत्व के स्वरूप और उससे उत्पन्न जगत् के स्वरूप के आधार पर दी गई उपमायें हैं। शांकर वेदान्त का लक्ष्य ब्रह्म की संख्या या ब्रह्म का तार्किक निरूपण अथवा जगत् की खोज करना नहीं बल्कि जगत् में व्यक्ति को समस्याओं का मूलभूत कारण तथा उसका बंधन दूर करना ही है । इसके लिए व्यक्ति के बौद्धिक और आनुभविक पक्षों का विश्लेषण करते हुए व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप की खोज की गई है। इस तरह खोज के पश्चात व्यक्ति, जिसे व्यवहार में सुख-दुखादि में फँसा हुआ माना जाता है, को पूर्ण आप्तकाम और निरपेक्ष सत्ता के रूप में उपलब्ध कराया जाता है। इसे हम व्यक्तिवाद कहते हैं क्योंकि इस दर्शन में प्रारम्भ से अन्त तक व्यक्ति ही प्रधान है। जगन्मिथ्यात्व प्रतिपादन का उद्देश्य है मिथ्यात्व या असारत्व के ज्ञाता रूप व्यक्ति की सत्ता को निरूपित करना है। 'जीव मिथ्यात्व' का उद्देश्य यह बताना है कि स्वरूपतः व्यक्ति संसार-चक्र में अनवरत

संघर्षरत सीमित प्राणिमात्र नहीं बल्कि वास्तव में चिन्मयानन्द है। ब्रह्म की चर्चा का उद्देश्य किसी तत्वमीमांसा का निर्माण करना या बुद्धिविलास मात्र नहीं है, बल्कि यह दर्शाना है कि व्यक्ति जीवनभर जिसे पाने के लिए व्याकुल रहता है, निरंतर संघर्ष करता है, वह उसका ही स्वरूप है जो शाश्वत है, जिसे पाने के उपरान्त अन्य कुछ भी पाने योग्य नहीं रह जाता है। समस्त इच्छाओं की पूर्णता के साथ व्यक्ति के अतिक्रमण का विराम हो जाता है। व्यक्ति का मुक्त स्वरूप अपने आप में स्तर या प्राकारिक भेद से परे होता है, लेकिन उसका जीवन बद्ध अपने आप में स्तर या प्राकारिक भेद से परे होता है, लेकिन उसका जीवन बद्ध जीव व्यक्ति के लिए आदर्श होता है यही उसका महत्व है। जगत् में मुक्त व्यक्ति का स्थान बद्ध व्यक्ति की अपेक्षा से और बद्ध व्यक्ति की दृष्टि में ही है।

मानव के महत्व-निर्धारण में या तत्संबंधी विचार करते समय जिस बात का विशेष आग्रह प्रायः विद्वानों में पाया जाता है, वह है स्वातंन्त्र्य । जगत् में मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा मानव को, विशिष्ट श्रेष्ठ इसीलिए माना जाता है कि वह बुद्धिमान है, केवल मूल प्रवृत्तियों से नियंत्रित न होकर विवेक के प्रयोग में स्वतंत्र होता है। कर्म-स्वातंन्त्र्य प्रायः अनेक दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत मत है। ऐसे समस्त दर्शन-सम्प्रदाय जो मानव के कर्तव्य को स्वाभाविक स्वीकार करते हैं - स्वतंत्रता और परतंत्रता पर विचार कर सकते हैं और यह असंगत भी नहीं होगा, लेकिन अद्वैत-वेदान्त में अविद्याजन्य जीव में स्वतंत्रता या परतंत्रता को मानना असंगत प्रतीत होता है।

आचार्य शंकर जीव को स्वतंत्र कर्ता मानते हैं। उनके अनुसार यदि जीव स्वतंत्र कर्ता नहीं है तब शास्त्रों के उपदेश व्यर्थ सिद्ध होंगे। अतः

जीव को स्वतंत्र स्वीकार करना पड़ता है।[1] *बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य* में वे कहते है कि पुरूष यथारुचि कार्य करते हैं।[2] लेकिन यह कहकर कि जीव के कर्म ईश्वर ही करता है, ईश्वर नियंतृत्व और जीव के कर्तृव्य को भी मिथ्या और अविद्याजन्य कहकर वे असंगति से स्वयं को मुक्त कर लेते हैं। उनके अनुसार जीव अविद्याजन्य होने से कर्म करने को विवश है। जब तक अविद्याग्रस्तता है तब तक जीव परतंत्र है। परतंत्रता में वह अहंकारवश स्वतंत्रता की कल्पना कर लेता है। स्वतंत्र शब्द का अर्थ होगा स्व के तंत्र में आबद्ध है। यद्यपि महत्व शाब्दिक अर्थ के बजाय व्यवहृत अर्थ का होता है, तथापि इस शब्द के अर्थ की सुनिश्चितता न होने से 'स्व के तंत्र में आबद्धता' से ही प्रारम्भ उचित। तंत्र शब्द यहाँ व्यवस्था के अर्थ में स्वीकार किया गया है और हमारे विचार से इसमें अधिक विवाद के लिए स्थान नहीं। विवाद है तो केवल स्व के अर्थ पर । "स्व" जिसके तंत्र या व्यवस्था में आबद्धता अभिप्रेम है, का व्यवहार जड़चेतनयुक्त प्राणि द्वारा किया जाता है 'मैं' के रूप में। सामान्य व्यवहार में इसी अर्थ में स्वतंत्रता शब्द की सार्थकता है। इच्छा-स्वातंत्र्य आदि प्रयोग ही प्रायः स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। 'मैं' के जिस अर्थ में "मैं दुखी हूँ, कर्ता हूँ, मोटा हूँ, विचार करता हूँ, जानता हूँ" आदि प्रयोग होते हैं उसी अर्थ में प्रायः 'स्व' को स्वीकार किया जाता है। स्वतंत्रता के अर्थ को समझने के लिए इन्हीं अर्थों में स्व को स्वीकार करना हेगा।

क्या यह स्व कोई वस्तु है जिसे हम जानते हों या कोई सत्ता है जो किसी व्यवस्था का निर्माण करता है? हमारे विचार से स्व न कोई वस्तु है और नही कोई सत्ता। स्व अपनी अभिव्यक्ति हेतु पूर्णतः शरीर पर आश्रित होता है। ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें स्व हो, पर

---

[1] *शारीरक भाष्य 2/3/39*
[2] *बृहदारण्यक भाष्य 2/1/10*

शरीर न हो। इसका कारण यह है कि स्व शरीर, अन्तःकरण और चैतन्य का मिथुनीकृत हमारी अन्य जड़ प्रतीतियों की भाँति एक प्रतीति है। लेकिन स्व के तंत्र को या व्यवस्था को अभिव्यक्त करने का एकमात्र माध्यम भी वही है। शरीर परिवर्तनशील, नाशवान् और प्रतीत जगत् का ही एक अंश है। उसी की सीमाएँ जगत् के साथ बँधी हुई हैं। अतः स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति इसी बंधन चेतना के जगद्भाव की सीमा में होगी। डॉ0 राधाकृष्णन् कहते हैं – "मानवीय स्व विश्व की प्रक्रिया का एक उद्बुद्ध पहलू है। यह स्वयं इस प्रक्रिया से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है। – मानवीय स्व विभिन्न भागों से बनी हुई स्वीकृत रचना है। मानवीय स्व का यह उद्बोधन मानवकृत नहीं बल्कि विश्व-प्रक्रिया का ही उद्बोधन है।"[1] इसमें मानव के लिए गर्व करने का कोई कारण नहीं। जिस तरह एक पत्थर का अचेष्ट रहना विश्व-प्रक्रिया का एक प्रतीत तथ्य है उसी तरह मानव का सचेष्ट होना भी प्रक्रिया का एक प्रतीत तथ्य है लेकिन यह भेद किसी तरह मानवीय स्व के श्रेष्ठता का परिचायक नहीं है। यह तो अहंकार है जो इसे श्रेष्ठ समझता है। अद्वैत-वेदान्त में स्व, 'मैं' या *साक्षी* को अकर्ता, अभोक्ता माना जाता है। प्रमातृत्व को ही स्व या 'मैं' मान लेना अविद्यावश चैतन्य पर अन्तःकरण का अध्यारोपण है। अतः स्वतंत्रता मात्र अविद्याजन्य ही होगी, सत्य नहीं। ब्रह्म निर्गुण है अतः उसमें अविद्या अकल्पनीय है। अविद्या के विषय में उठाई जाने वाले शंकायें अविद्याजन्य हैं। जब तक अविद्या है तब तक इन प्रश्नों का उत्तर समझ में नहीं आता है और अविद्या निवृत्ति हो जाये तो प्रश्न ही नही रह जाता। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता-परतंत्रता जैसे शब्द व्यर्थ की कल्पनायें होंगी। जीव दशा में सम्पन्न समस्त व्यवहार अविद्या कल्पित है। स्वयं जीव भी अविद्या कल्पित

---

[1] *जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि – पृ0 207*

है। अतः जीव का स्वयं को स्वतंत्र समझना अविद्या कल्पित मात्र या ब्रह्म की लीला मात्र है।

जिस तरह स्वतंत्रता की अवधारणा प्रमाता और साक्षी दोनों के लिए व्यर्थ और असंगत है, उसी तरह परतंत्रता की अवधारणा भी असंगत है। परतंत्रता तब संगत होती है जब व्यक्ति से परे या अन्य कोई व्यक्ति वस्तु या सत्ता होती है जो उसके कर्म, इच्छा आदि पर नियंत्रण रखती हो। सृष्टि का एक अंग जिस तरह व्यक्ति है उसी तरह सृष्टि का वह पक्ष जिसके अधीन या जिससे स्वयं को संबंधित मानता समझता है – भी सृष्टि का ही अंश है। किसी पूर्ण का एक अंश, किसी अन्य अंश के अधीन नहीं होता है। सृष्टि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसका अंश न हो और जिसका व्यक्ति पर आधिपत्य हो। सृष्टि स्वयं में एक सत्ता नहीं है, बल्कि सत् की अभिव्यक्ति है और यह अभिव्यक्ति भी प्रतीति है। इसी उसी तरह सृष्टि को जानने का प्रयास करने वाला व्यक्ति भी प्रतीत अभिव्यक्ति है।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार सब कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में जितना महत्व पत्थर, वृक्ष, पशु आदि का है; उतना ही महत्त्व मानव का भी है। शंकर तो बड़े साहस के साथ स्वीकार करते हैं कि *"समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाण प्रमेय व्यवहारः"*[1] । व्यापक अर्थ में व्यक्ति एक सत्ता नहीं, व्यक्त होने की प्रक्रिया है। व्यक्ति के प्रति अहंकार भी अभिव्यक्ति ही है। समस्त प्रतीत अभिव्यक्तियों का आधारभूत तत्व शाश्वत होने से मानव व्यक्ति का अहंकार भी शाश्वत प्रतीत होता है। संभवतः यही कारण है कि वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय जीव को अज मानते हैं। हमारे विचार से जीव मिथ्या होने से उसका 'आदि' विषयक ज्ञान संभव नहीं होता है। आदि के इस अगम्यता की स्वीकृति ही अनादि

मानने की अपेक्षा संगत होगी। जिस तरह सृष्टि अचिंत्य है, उसी तरह व्यक्ति या जीव भी अचिंत्य है। सृष्टि में वस्तुतः मैं और मेरा या अस्मद् युष्मद का प्रश्न असंगत है। सभी कुछ ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति होने से व्यक्ति में से एक स्वयं को अलग समझे और किसी को मेरा कहें, इसके लिए स्थान नहीं है। लेकिन अविद्याजन्य अहंकारवश ऐसा माना जाता है। जिस तरह मैं–मेरा के लिए स्थान नहीं है फिर भी माना जाता है इसी तरह अविद्या और उसके आश्रय के लिए भी स्थान नहीं है। फिर भी अहंकारवश जीव की अविद्या कही जाती है। अभिप्राय यह है कि जो कुछ बुद्धि जान पाती है उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जिस आधार पर किसी को श्रेष्ठ, किसी को निम्न अथवा शासक और शासित कहा जा सकता सके। सब अविद्यावश प्रतीति है। प्रतीति के रूप में मानव, और अजीव पदार्थों में कोई स्तर–भेद नहीं है। अहंकारवश मानव उनसे अपने सम्बन्धों को अर्थ देता है। यह भी अज्ञानवश ही होता है। जगत् परिवर्तनशील है, मानव में परिवर्तन हो रहे हैं। मानव भाषा में कुछ परिवर्तन कर्म कहलाते हैं, कुछ इच्छा और कुछ विकास । ये शब्द मानव प्रदत्त हैं। इसी तरह संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि मानवेतर प्राणियों की भाषा में भी ऐसे ही कुछ संकेत होंगे। मानवाहंकार जिन परिवर्तनों को स्वयं से जोड़ लेता है, उन्हें वह अपना कर्म या भोग समझ लेता है, लेकिन कर्म, कर्ता, भोग, भोग्य आदि सभी भेद अविद्याजन्य होने से उसका व्यवहार न तो उसकी स्वतंत्रता है, न ही परतंत्रता। यह मात्र विश्व की प्रतीत–प्रक्रिया का सहज रूप है। विश्व की इस प्रक्रिया का एक अंतिम स्थल या विराम जिसे पूर्णता कहते हैं – तो हो सकता है, लेकिन प्रक्रिया के अर्थों में स्वतंत्रता या परतंत्रता संभव नहीं।

---

[1] *शा० भा० उपोद्घात्*

व्यक्ति के समस्त व्यापारों का लक्ष्य है शाश्वत होना। यही उसकी नियति है। शाश्वतता की ओर उन्मुखता को हम नियति इसलिए कहते हैं क्योंकि शाश्वतता व्यक्तित्व निर्मित या अर्जित लक्ष्य नहीं वरन् व्यक्ति से परे ब्रह्मत्व का लक्षण है। इसे स्वीकार करने या न करने का विकल्प नहीं है। जबकि स्वतंत्रता की अवधारणा के मूल में तंत्रों के विकल्पों की अनिवार्यता निहित है। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने जीवन में न कहीं स्वतंत्र है और न कहीं परतंत्र । सहज रूप से व्यक्ति अपने शाश्वत स्वरूप में न कहीं स्वतंत्र है और न कहीं परतंत्र। सहज रूप से व्यक्ति अपने शाश्वत स्वरूप को पाने का प्रयास करता है। जो व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है वह फिर केवल तटस्थ होकर परिवर्तन का द्रष्टा बन जाता है लेकिन अज्ञानवश जो यह नहीं जानता है वह अपने व्यापार का तात्कालिक लक्ष्य मानकर लक्ष्यों को अनेकता में स्वयं को जकड़ा हुआ अनुभव करता है, यही बंधन है। तो, बंधन केवल व्यक्ति के अज्ञान के कारण ही प्रतीत होता है। वास्तव में बंधन तो कभी होता ही नहीं, व्यक्ति नित्यमुक्त है।

व्यक्ति अज्ञान और आत्मविस्मृति के कारण ही सहज रूप से होने वाले कार्यों को अपनी विवशता मान लेता है। प्रतीत तात्कालिक लक्ष्यों में भटकते हुए व्यक्ति वाँछित परिणाम न पाकर भाग्य, ईश्वरकृपा आदि धारणाओं का पोषण करने लगता है। यद्यपि जो कुछ होता है वह केवल इसीलिए होता है क्योंकि उसे होना था, लेकिन उस 'होनी' से अपने संबंध को न समझ पाने के कारण और अपनी सीमित क्षमता के कारण यह उन्हें आकस्मिक मान लेता है, तथापि आकस्मिक कुछ भी नहीं होता है। सृष्टि की इस महज प्रक्रिया में सब कुछ सहज भाव से ही होता है। लेकिन चूँकि अपनी वास्तविकता का ही व्यक्ति को ज्ञान नहीं रहता है, अतः सहजता में भी उसे आकस्मिकता दिखाई पडती है। सृष्टि की कुछ घटनाओं को जिन्हें वह स्वयं से नहीं जोड पाता है, व्यक्ति आकस्मिक

मान लेता है, यथा सृष्टि की घटना। वास्तव में सृष्टि हुई या नहीं, और हुई भी तो क्यों हुई ये सभी व्यर्थ के प्रश्न हैं। लेकिन इनके उत्तर तरह-तरह से दिये जाते हैं।

अद्वैतवेदान्तपरम्परा यह मानती है कि यह प्रतीत सृष्टि ईश्वर की माया है, लीला है। ऐसा ही ईश्वरवादी अन्य सम्प्रदाय भी मानते हैं। यदि हम इन समाधानों की गहराई में विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये केवल आकस्मिकता की स्वीकृति-सूत्रक ही है। जगत् में प्रतीत विषमता अविद्याजन्य व्यक्ति को आकस्मिक और निष्प्रयोजन ही प्रतीत होगी। लेकिन बुद्धिजीवी होने के कारण अहंकारवश आकस्मिकता और प्रयोजनहीनता को स्वीकार करना व्यक्ति के लिए कठिन होता है। साथ ही प्रयोजन और कारण को जान पाना बुद्धि के लिए संभव नहीं। अतः लीला, माया आदि शब्दों द्वारा और बौद्धिक संतोष प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। लेकिन निरीश्वरवादी लीला या माया जैसे शब्दों के बजाय आकस्मिकता को ही स्वीकार कर सकता है, जिसका स्वाभाविक परिणाम चार्वाक की तरह भौतिकवादी, या आजीवकों की तरह कठोर नियतिवादी दर्शन के रूप में होता है। आकस्मिकता वास्तव में एक ही बात का संकेत करती है कि बुद्धि सीमित है। लेकिन मानवाहंकारवश अपनी सीमितता को परोक्ष रूप से ही स्वीकार किया जाता है।

नियतिवाद का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के कर्ता, भोक्तारूप व्यक्तित्व के स्थान और महत्व से है। शंकर के अनुसार व्यक्ति का यह रूप मिथ्या अविद्याजन्य है। स्पष्ट है नियति अविद्या के अर्थ में ही होगी। नियतिवाद की स्वीकृति उसीलिए होती है, क्योंकि व्यक्ति स्वयं को कर्तारूप में परिभाषित करना चाहता है जिसमें उसे सफलता नहीं मिलती है। फलस्वरूप वह एक सीमा में स्वतंत्रकर्ता बन जाता है। लेकिन यह कर्तापन केवल अहंकारजन्य ही है। वास्तव में वह अकर्ता, द्रष्टा मात्र है। अतः

सीमित स्वतंत्रता और अधीनता दोनों ही अज्ञानवश हैं। जब तक व्यक्ति अविद्याग्रस्त है तब तक ही नियतिवाद व्यक्ति को स्वीकार करना होगा। अविद्या निवृत्ति के उपरांत विनष्ट अविद्या किस की थी? यह प्रश्न ही नहीं रहेगा और तब व्यक्ति चूँकि ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुका होगा, नियति भी अपना अर्थ खो चुकेगी। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप नित्य, निर्गुण, अविकारी शुद्धचैतन्य ही है। केवल ब्रह्म ही सत् है। ब्रह्म से अन्य प्रतीत जो भी है सब मिथ्या है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि इस बदलते हुए वैज्ञानिक युग के भौतिकवादी परिवेश में अद्वैत-वेदान्त का दर्शन एक नयी दिशा प्रदान करता है। पूर्व में दार्शनिक विचारकों का मत ब्रह्म, जीव, माया, जगत् के सैद्धान्तिक विवेचन तक ही सीमित था। लेकिन साक्षी-चैतन्य की अवधारणा के द्वारा अद्वैत-वेदान्त पारमार्थिक एवं भौतिक दोनों स्तरों पर जगत् के गूढ़ रहस्यों के मर्म को स्पष्ट करता है। साक्षी चैतन्य वह शाश्वत् तत्व है जिसके अभाव में सम्पूर्ण विश्व अन्धकार की भयावता में डूब जायेगा एवं सर्वत्र तमस की प्रधानता हो जायेगी। यही वह साक्षी तत्व है जो सम्पूर्ण विश्व को अपनी ज्ञानमय ज्योति से देदीप्यमान करता रहता है।

सन्दर्भ एवं सहायक ग्रंथ सूची

ग्रंथ का नाम	लेखक	प्रकाशक
• *अपरोक्षानुभूति*	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर स0 2019
• *अद्वैततत्वशुद्धि*	श्रीमदनन्दकृष्ण शास्त्री	भारती विजयम् मुद्रण 1948
• *अद्वैतवाद*	गड्.गा प्रसाद उपाध्याय	कला प्रेस, प्रयाग, 1957
• *अद्वैत ब्रह्म सिद्धि*	सदानन्दयति	एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता, 1890
• *अद्वैत रत्न रक्षणम्*	मधुसूदन सरस्वती	निर्णय सागर प्रेस 1937
• *अद्वैत सिद्धि*	मधुसूदन सरस्वती	निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1937
• *अनुभूति प्रकाश*	विद्यारण्य	निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1926
• *अद्वैत वेदांत की तार्किक भूमिका*	डॉ. जगदीश सहाय श्रीवास्तव	किताब महल, इलाहाबाद 1978
• *अद्वैत वेदांत में आभासवाद*	डॉ. सत्यदेव मिश्र	इन्दिरा प्रकाशन, पटना, 1979
• *अद्वैततत्व मीमांसा*	सुधा जैन	प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली, 1986
• *अद्वैत वेदांत*	राममूर्ति शर्मा	नेशनल पब्लिक हाउस, दिल्ली, 1972
• *अद्वैत वेदांत में तत्व और ज्ञान*	उर्मिला शर्मा	छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, 1978
• *आचार्य शंकर ब्रह्मवाद*	डॉ. रामस्वरूप सिंह नौखला	किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर।
• *आधुनिक चिंतन में वेदांत*	डॉ. महेन्द्र सिंह शेखावत	मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी, भोपाल 1973
• *ऋग्वेद संहिता*		चौखम्भा संस्कृत ग्रंथमाला, वाराणसी, संपादक – मैक्समूलर, 1966
• *उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण*	रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे	राजस्थान ग्रंथ अकादमी, जयपुर
• *उपदेश साहस्त्री*	शंकराचार्य	संपा. चमनलाल गौतम, संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली, 1980
• *ईशावास्योपनिषद*	भाष्यकार शंकराचार्य	गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2026
• *कठोपनिषद*	शंकराचार्य भाष्यकार	गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2041
• *केनोपनिषद*	शंकराचार्य भाष्यकार	गीता प्रेस गोरखपुर संवत्

		2028
• *खण्डन खण्ड खाद्य*	सं0 हनुमानदास षट्शास्त्री	चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी
• *छान्दोग्य उपनिषद*	शंकराचार्य भाष्यकार	गीता प्रेस गोरखपुर, संवत् 2028
• *ऐतरेय उपनिषद्*	----	सं. मैक्समूलर, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1943
• *कल्पतरू*	अमलानंद सरस्वती	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1926
• *कल्पतरूपरिमल*	अप्पय दीक्षित	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1938
• *गीताभाष्य*	---	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2008
• *गीता रहस्य*	लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक	नारायणपेठ, लोकमान्य तिलक मंदिर गायकवाड़ बाड़ा, पूना
• *छान्दोग्य उपनिषद्*	भाष्यकार शंकराचार्य	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2026
• *तत्व चिन्तामणि*	गंगेश उपाध्याय	चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान वाराणसी 1990
• *तत्व प्रदीपिका*	चित्सुखाचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बंबई, 1916
• *तर्क भाषा*	केशव मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1963
• *तर्क संग्रह*	आनन्दगिरी	गैकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, 1919
• *तत्वोपदेश*	शंकराचार्य	अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, 1990
• *तत्वबोधिनी (संक्षेप शारीरक टीका सहित)*	नृसिंहाश्रम	सरस्वती भवन, वाराणसी, 1934
• *तैत्तिरीय उपनिषद्*	भाष्य शंकराचार्य	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2019
• *तात्पर्यटीका*	वाचस्पति मिश्र	कलकत्ता, 1926
• *निरूक्त*	यास्काचार्य	भण्डारकर ओरियण्टल इंस्ट्रीट्यूट, पूना
• *नैष्कर्म्य सिद्धि*	सुरेश्वराचार्य	सं0 प्रो0 एन0 हिरियन्ना, बंबई, 1925
• *न्यायरत्नदीपावली*	आनन्दानुभव	गवर्नमेंट ओरियन्टल सीरीज, मद्रास, 1961
• *न्याय रत्नावली*	ब्रह्मानंद	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,
• *न्याय कंदली*	श्री धराचार्य	अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी
• *न्याय मंजरी*	जयन्त भट्ट	सं0 सूर्य नारायण शुक्ल, बनारस चौखम्भा संस्कृत सीरीज, 1934

• *न्याय बिन्दु प्रकरण*	द्वारिका प्रसाद शास्त्री	बौद्ध भारतीय ग्रंथमाला वाराणसी
• *पंचदशी*	विद्यारण्य मुनि	सं. चमनलाल गौतम, संस्कृत संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली,1981
• *पंचपादिका (तात्पर्य दीपिका, भाव प्रकाशिका टीका सहित)*	पद्मपाद	मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, भारती विजयम् प्रेस, गोरखपुर, 1958
• *पाणिनी सूत्र अष्टाध्यायी*	ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	राम लाल कूपर ट्रस्ट, अमृतसर, 1955
• *पंचपादिका विवरण*	प्रकाशात्मा	ई.जे. लाजरस कंपनी, काशी, 1891
• *पंचीकरण वात्तिक*	सुरेश्वराचार्य	गु.प्रिं. प्रेस, बंबई, 1930
• *पातंजल महाभाष्य*	पातंजलि	चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1954
• *पैंगलोपनिषद*	---	गीता प्रेस, गोरखपुर, 1972
• *प्रकरण पंजिका*	शालिकानाथ	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, दर्शनमाला/4, 1961
• *प्रश्नोपनिषद*	शांकरभाष्य	गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2016
• *प्रकटार्थ विवरण*	प्रकटार्थ	वि.रा. चिंतामणि, वि.वि. मद्रास
• *ब्रह्मसूत्र*	शांकर भाष्य	निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1927
• *रत्नप्रभा टीका*	---	निर्णयसागर प्रेस, बंबई 1934
• *ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य*	श्री सत्यानंद सरस्वती (सत्यानन्दीदीपिका सहित)	गोविन्द मठ, वाराणसी, सं0 2040
• *वृहदारण्यक उपनिषद्*	शांकर भाष्य	गीताप्रेस, गोरखपुर, वि0सं0 2029
• *वृहदारण्यकवार्तिक सार*	विद्यारण्य	चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
• *ब्रह्म सिद्धि*	मण्डन मिश्र	सं. म.म.एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री, 1919
• *बौद्ध दर्शन और वेदान्त*	सी0डी0 शर्मा	स्टूडेंट फ्रेंड्स, वाराणसी, 1949
• *विवेक चूड़ामणि*	शंकराचार्य	गीताप्रेस, गोरखपुर, सं0 1988
• *विवेक चूड़ामणि*	शंकराचार्य	भारतीय विद्या भवन, बंबई, 1973
• *वेदान्त कौमुदी*	रामाद्वय	मद्रास विश्वविद्यालय
• *वेदान्त कल्पतरू*	अमलानंद	निर्णय सागर प्रेस, बंबई

- *वेदांत परिभाषा* — धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याख्याकार श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर — चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1937
- *वेदांतसार* — राममूर्ति शर्मा — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1978
- *वाचस्पत्यम्* — तारानाथ भट्टाचार्य — चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1962
- *विवरण प्रयेय संग्रह* — विद्यारण्य — काशी अच्युत ग्रंथमाला, 1936
- *वाचस्पति दर्शनम्* — राजेन्द्र प्रसाद दुबे — क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, 1983
- *वेदांत सिद्धान्त मुक्तावली* — प्रकाशानंद — अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, 1937
- *वेदांत दर्शन* — पाल डायसन अनु. - संगम लाल पाण्डेय — उत्तर प्रदेश ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, 1971
- *वेदांत का विकास और स्वरूप* — महेन्द्र सिंह शेखावत — मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
- *वेदानत तत्व विवेक* — नृसिंहाश्रम — मैसूर, ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, 1955
- *श्वेताश्वेतर उपनिषद* — भाष्यकारशंकराचार्य — गीता प्रेस, गोरखपुर
- *सर्वसारोपनिषद* — ---- — सामान्य वेदान्तीय उपनिषद संग्रह,आड्यार मद्रास
- *शांकर वेदांत तत्व मीमांसा* — डॉ. काली प्रसाद सिंह — विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1982
- *शांकर वेदान्त एक अनुशीलन* — डॉ. रमाकान्त अंगीरस — नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल, 1982
- *शंकरोत्तर अद्वैत वेदांत* — अभेदानंद — राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर
- *संक्षेप शारीरक* — सर्वज्ञात्ममुनि — चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
- *सांख्य तत्व कौमुदी* — वाचस्पति मिश्र (अनु. गजानन्द शास्त्री) — चौखंबा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
- *सांख्य तत्व कौमुदी* — वाचस्पति मिश्र (अनु. गजानन्द शास्त्री मुसलगांवकर) — काशी अच्युत ग्रंथमाला, 1932
- *सिद्धांत बिन्दु (बिन्दु प्रपात टीका)* — मधुसूदन सरस्वती — भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, वासुदेवाभ्यंकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1992
- *सर्वदर्शन संग्रह* — माधवाचार्य (भाष्यकार-उमाशंकर शर्मा) — चौखंभा विद्या भवन, वाराणसी

	शर्मा)	
• *सांख्य कारिका*	ईश्वर कृष्ण	सं. डॉ0 रमाकान्त त्रिपाठी, भदैनी, वाराणसी, 1970
• *सिद्धान्त लेश संग्रह*	अप्पय दीक्षित	अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी सं0 2011
• *श्रीमद् भगवद् गीता*	रामदयालगोयनका	गीताप्रेस, गोरखपुर, 1985
• *भामती*	वाचस्पति मिश्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1934
• *भारतीय दर्शन*	न0कि0 देवराज	उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978
• *भारतीय दर्शन*	डा0 वी0एन0 सिंह	स्टूडेंट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी, 1983
• *भारतीय दर्शनों में आत्मा*	गिरधर शर्मा चतुर्वेदी	किसोर विद्या निकेतन, भैदनी, वाराणसी, 1980
• *भा0 दर्शन की रूपरंखा*	हिरियन्ना	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 1973
• *भगवद्गीता*	---	गीता प्रेस, गोरखपुर, 1972
• *मनु स्मृति*	---	हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला चौ0 सं0 सी0, वाराणसी, 1965
• *युक्तिदीपिका*	---	सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि0वि0, वाराणसी
• *माण्डूक्योपनिषद गोड़पादकारिका*	शांकरभाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं0 2032
• *महाभारत*	वेदव्यास	किल्लापारडी स्वाध्याय मण्डल, वलसाड, गुजरात, 1979
• *मूल्य तत्व मीमांसा*	यशदेवशल्य	दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर
• *उपनिषद वाक्य कोश*	कर्नल जे0ए0 जैकवी,	मोती लाल बनारसीदास, 1936
• *मानसोल्लास*	सुरेश्वराचार्य, (अनुवादक) महादेव शास्त्री	सम्पादक, मद्रास, 1920
• *मुक्तिकोपनिषद*	---	सामान्य वेदानतोपनिषतसग्रंह, मद्रास, अड्यार, 1921

ENGLISH BOOKS

Title	Author	Publisher
• A Critical Survey Indian Philosophy	Dr. C.D. Sharma,	Motilal Banarsidas, Delhi, Patna Varanasi
• Lights on Vedanta	V.P. Upadhyaya,	Chaukhambha Sanskrit Series
• The Vedanta of Sankara	R.P. Singh,	Bharat Publishing House, Jaipur.
• Religion and Ethics in Advaita	J.A. Jacob,	Kottackal, C.M.S. Press, Kattayam , Kerala.
• An Introduction to Samkaras Theory of Knowledge	Dr. N.K. Devaraja,	Motilal Banarasi Das, Varanasi
• The concept of Saksi in Advaita Vendanta	A.K., Chattejee,	R.R. Dravid B.H.U. Varanasi, 1979.
• A History of Indian Philosophy	S.N. Das Gupta	Combridge University Press, Vol. I & II
• Attitude of Vedanta Towards Religion	Abhedanad Swami,	Calcutta, Ramkrishna Vedant Math
• Indian Philosophy	Dr. S. Radhakrisnan,	Vol. II, Allen and Unuin, London,
• Six Ways of knowing	D.M. Dutta,	Calcutta
• Gaudpada : A study in Early Advaita	T.M.P. Mahadeven,	Madras. 1954